देश-देशान्तर मित्रों का शोधपरक अनुष्ठान

कृतिका

वर्ष : 1 अंक : 2 जुलाई-दिसम्बर 2008

साहित्य, कला, संस्कृति, आयुर्वेद, मानविकी
एवं समाज विज्ञान की अर्द्धवार्षिक
अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका

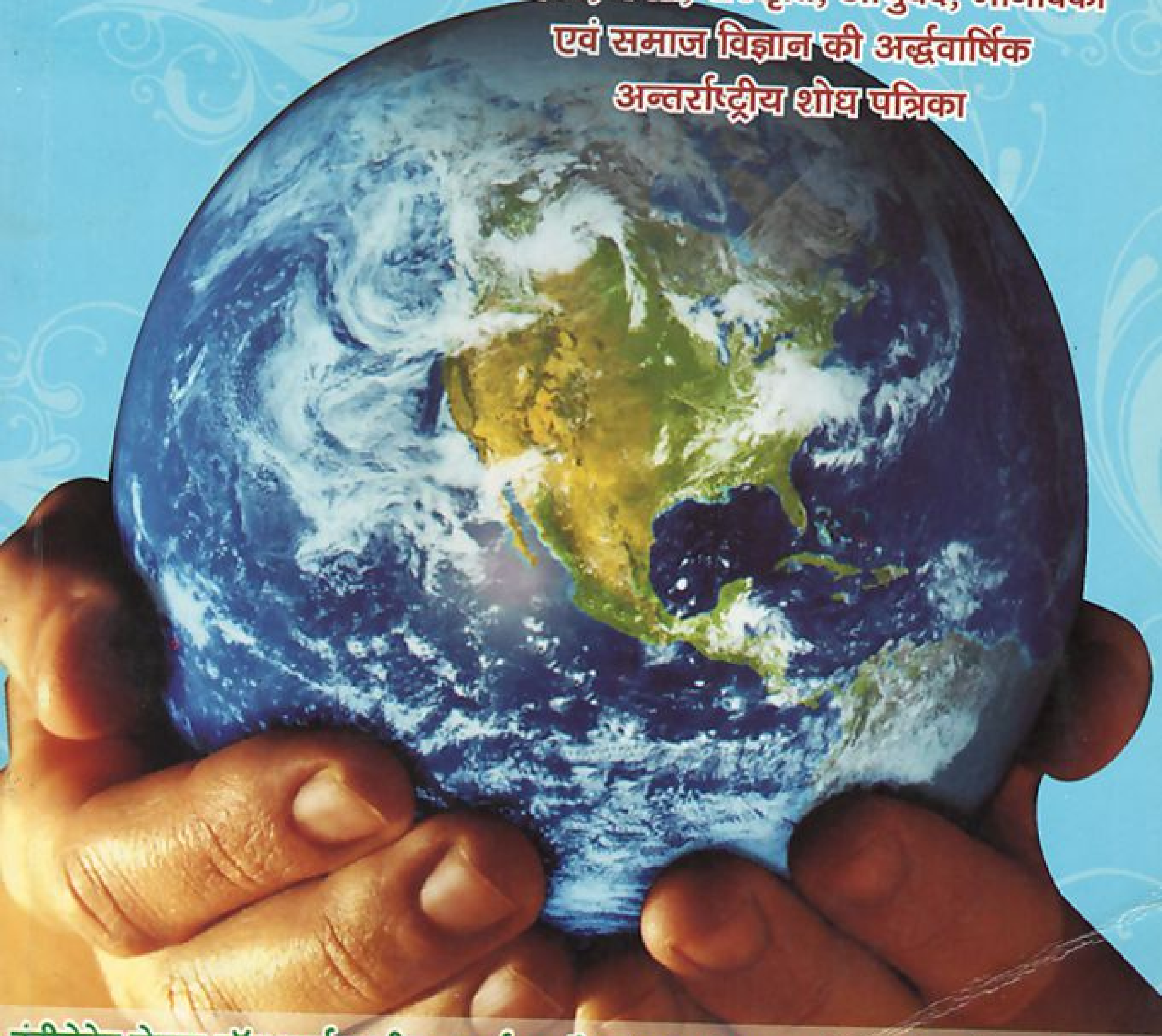

इंटीग्रेटेड सेन्टर फॉर वर्ल्ड स्टडीज, उरई जालौन (उ0प्र0) भारत के सहयोग से प्रकाशित

पंजीकरण नं. : यू.पी.एच.आई.एन. 35346/24-01-2006 & टी.सी.

देश-देशान्तर मित्रों का शोधपरक अनुष्ठान

कृतिका

(साहित्य, कला, संस्कृति, आयुर्वेद, मानविकी एवं समाज विज्ञान की अर्द्धवार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका)

वर्ष : 1 अंक : 2 जुलाई-दिसम्बर 2008

प्रधान सम्पादक

डॉ. चन्द्रमा सिंह

✦

मुख्य सम्पादक

डॉ. किशन यादव ✦ डॉ. कश्मीरी देवी

डॉ. सुरेश एफ कानडे ✦ डॉ. रोशन लाल जिन्टा

✦

कला सम्पादक

डॉ. नीना शर्मा 'हरेश'

✦

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. शंकरलाल

सम्पादक

डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव

इंटीग्रेटेड सेन्टर फॉर वर्ल्ड स्टडीज, उरई जालौन (उ. प्र.) भारत के सहयोग से प्रकाशित

देश-देशान्तर मित्रों का शोधपरक अनुष्ठान

कृतिका

(साहित्य, कला, संस्कृति, आयुर्वेद, मानविकी एवं समाज विज्ञान की
अर्द्धवार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका)

वर्ष : 1 | अंक : 2 | जुलाई-दिसम्बर 2008

सहयोग राशि : 60 रुपये

यू. एस. 25 $ यूरो 20 $

व्यक्तिगत सदस्यों के लिये

वार्षिक सदस्यता	:	120 रुपये
पाँच वर्ष के लिये	:	600 रुपये
आजीवन	:	3000 रुपये

संस्थाओं के लिये

प्रति अंक	:	150 रुपये
वार्षिक सदस्यता	:	300 रुपये
पाँच वर्ष के लिये	:	1500 रुपये
आजीवन	:	3000 रुपये

विशेष : सभी भुगतान नकद/मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट/चेक **'सम्पादक कृतिका'** के नाम Payable at Orai भेजें। कृपया चेक के साथ बैंक कमीशन के रूप में निश्चित अतिरिक्त राशि जोड़ दें।

- विधिक वादों के लिये क्षेत्र उरई न्यायालय के अधीन होंगे।
- कृतिका में प्रकाशित रचनाओं के विचारों से सम्पादक मण्डल (कृतिका परिवार) की सहमति अनिवार्य नहीं है।
- शोध पत्रिका में प्रकाशित सामग्री के पुर्नप्रकाशन के लिये संपादक मण्डल की लिखित अनुमति अनिवार्य है। कृतिका के संपादन प्रकाशन व संचालन से जुड़े समस्त पद अवैतनिक हैं।

प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वत्वाधिकारी डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव द्वारा महक कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिण्टर्स, उरई (जालौन) से मुद्रित करवाकर १७६०, नया रामनगर, उरई (जालौन) से प्रकाशित। सम्पादक - डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव

देश-देशान्तर मित्रों का शोधपरक अनुष्ठान

कृतिका

(साहित्य, कला, संस्कृति, आयुर्वेद, मानविकी एवं समाज विज्ञान की
अर्द्धवार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका)

वर्ष : 1 | अंक : 2 | जुलाई-दिसम्बर 2008

क्षेत्रीय प्रधान सम्पादकीय कार्यालय

डॉ. चन्द्रमा सिंह
नयकागाँव, जी. टी. रोड सासाराम (बिहार) 821115
सम्पर्क - 06184-223271, 09430895451
Email : dr.chandramasinghkritika@rediffmail.com
dr.chandramasingh2009@rediffmail.com

डॉ. सुरेश एफ कानडे
'8' साई धाम अपार्टमेंट, दादा जी कोंडदेव नगर
गंगापुर रोड, नासिक 422013 (महाराष्ट्र)
सम्पर्क - 09422768141
Email : sureshkande2009@rediffmail.com

डॉ. नीना शर्मा 'हरेश'
व्याख्याता, हिन्दी विभाग
आनन्द आर्ट्स कालेज, गुजरात 250260
सम्पर्क - 09925019160
Email : dr.neenasharma2009@rediffmail.com

डॉ. कश्मीरी देवी
म. नं. 1651/21 हैफेड चौक
रोहतक, हरियाणा 124001
सम्पर्क - 09812384888
Email : kashmiridevi2009@rediffmail.com

डॉ. रोशन लाल जिन्टा
वरिष्ठ प्रवक्ता, मनोविज्ञान विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला (हिमाचल प्रदेश)
सम्पर्क - 09816108257
Email : dr.roshanlal2009@rediffmail.com

डॉ. शंकरलाल
गोरखपुर हाउस के सामने
कैलाशपुरी, रीवा (म. प्र.) 486002
सम्पर्क - 09893538433, 09935512770
Email : drshankarlal2009@rediffmail.com

प्रधान सम्पादकीय कार्यालय

डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव
1760, नया रामनगर, उरई (जालौन) उ. प्र. 285001 (भारत)
सम्पर्क - 09415924888, 09889517950, 09919123763
Email : kritika_orai@rediffmail.com
Email : virendra_kritika@rediffmail.com
Email : lokkalyansansthanorai@rediffmail.com

कृतिका : एक परिचय

शोध एवं अनुसंधान गतिविधियों के एकीकृति अध्ययन के लिये युवा शोधार्थियों, अध्येताओं को शोध के नवीन अवसरों को उपलब्ध कराने हेतु कृतिका शोध पत्रिका की परिकल्पना की गई। कृतिका, इंटीग्रेटेड सेन्टर फॉर वर्ल्ड स्टडीज, उरई जालौन (उ.प्र.) भारत के सहयोग से प्रकाशित अन्तर्राष्ट्रीय अर्द्धवार्षिक रिसर्च जनरल है। कृतिका का सम्पादक मण्डल देश एवं विदेश के विभिन्न राज्यों के विषय विशेषज्ञों की सहभागिता के आधार पर कार्य कर रहा है। मानविकी एवं समाज विज्ञान में शोध के नवीन अवसरों की भागीरथी प्रवाहित करने के उद्देश्य से सहकारिता के आधार पर इस रिसर्च जनरल का प्रचार सम्पूर्ण भारत के साथ-साथ सात समुन्दर पार यू.एस.ए., लंदन, आस्ट्रेलिया, जापान, जर्मनी, मॉरीशस आदि के शोध निदेशक एवं शोधार्थियों का कृतिका में रचनात्मक सहयोग प्राप्त है।

कृतिका शोध पत्रिका का एक दूसरा उद्देश्य मानविकी एवं समाज विज्ञान के अलावा विषयों की सीमाओं से हटकर स्वतंत्र रूप से गहन एवं मौलिक शोध की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना है ताकि शोध पत्र न केवल गम्भीर अध्येताओं के लिये उपयोगी हो बल्कि यह जनसामान्य में नवीन जानकारी, शोध के प्रति उत्सुकता एवं जागरूकता का परिचायक भी सिद्ध हो। साथ ही यह व्यावहारिक धरातल पर अनुपयोगी भी हो। कृतिका में इन्हीं विचारों को दृष्टिगत रखते हुये साहित्य, कला, संस्कृति, आयुर्वेद, मानविकी एवं समाज विज्ञान के विषयों के अलावा हम विज्ञान एवं अन्य विषयों के शोध पत्र भी आमंत्रित करते हैं। उत्तर आधुनिकता एवं भूमण्डलीकरण के इस दौर में वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं से सम्बन्धित विषयों पर समय-समय पर कृतिका परिवार विषय- विशेष पर विशेषांक केन्द्रित अंक भी निकालेगा जिसकी सूचना कृतिका शोध पत्रिका एवं अलग से पत्रों के माध्यम से शोध अध्येताओं एवं जिज्ञासु युवा रचनाकर्मियों को समय-समय पर दी जायेगी।

सामान्य निर्देश

रचनाकारों/शोध अध्येताओं से विनम्र अनुरोध :

- कृतिका साहित्य, कला संस्कृति आयुर्वेद, मानविकी एवं समाज विज्ञान का एक अर्द्धवार्षिक शोधपरक अनुष्ठान है जो युवा अध्येताओं, शोधार्थियों एवं खोजकर्ताओं का अपना मंच है। अपने मौलिक एवं नवीन अन्वेषणात्मक रचनाओं के सहयोग से इसे सम्बल प्रदान करें।
- मानविकी एवं समाज विज्ञान से सम्बन्धित सभी विषयों की मौलिक रचनायें विषय-विशेषज्ञों की सहमति से ही इसमें प्रकाशित की जायेंगी।
- कृतिका में प्रकाशित शोध पत्र देश एवं विदेश के विषय विशेषज्ञों के पास चयन के लिये प्रेषित किये जाते हैं। इसलिये शोध पत्र/आलेख लिखते समय संदर्भों का स्पष्ट उल्लेख करें पुस्तक का सन्दर्भ, पत्र-पत्रिका का सन्दर्भ, प्रकाशन, वर्ष एवं संस्करण का उल्लेख आवश्यक है। शोध पत्र/आलेख की शब्द सीमा दो हजार शब्दों से अधिक नहीं होनी चाहिये। यदि शब्द सीमा अधिक है तो सम्पादक मण्डल को उसमें संशोधन, संक्षिप्तीकरण का अधिकार सुरक्षित रहेगा।
- कृपया अपनी शोध रचनाएं एवं आलेख प्रेषित करते समय अपना संक्षिप्त आत्मवृत्त, छायाचित्र प्रेषित करें। रचना के शोध संक्षेप सार का उद्देश्य, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता एवम् उपयोगिता को अवश्य दर्शायें।
- कृतिका में पुस्तक समीक्षा के लिये चर्चित एवं महत्वपूर्ण पुस्तकों/पत्रिकाओं पर समीक्षात्मक आलेख आमंत्रित हैं। समीक्षात्मक आलेख के साथ पुस्तक/पत्रिका की दो प्रतियां रजिस्टर्ड डाक से प्रेषित करें।
- स्तरीय पुस्तक की समीक्षा के लिये समीक्ष्य पुस्तक की दो प्रतियां एवं लेखक अपना संक्षिप्त आत्मवृत्त एवं छायाचित्र तथा पुस्तक का संक्षेपण पंजीयन डाक से सम्पादक के पते से प्रेषित करें। समीक्षा की स्थिति में शोध पत्रिका का अंक सम्बन्धित लेखक के पते पर भेजा जायेगा।
- किसी भी दशा में शोध पत्र/आलेख की प्रति वापस (स्वीकृति/अस्वीकृति की स्थिति में) नहीं प्रेषित की जा सकती है। इसलिये कृपया एक प्रति अपने पास सुरक्षित अवश्य रखें।
- कृतिका एक अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका है ! कृपया रचना प्रेषित करते समय यह भलीभाँति तय कर लें कि यह शोधपत्र/आलेख/रचना आपकी अपनी मौलिक कृति है। और कृतिका के मापदण्डों के अनुकूल है कि नहीं। कृतिका परिवार आपके नये अकादमिक सुझावों एवं प्रतिक्रियाओं का सदैव स्वागत करेगा।
- रचनायें कम्प्यूटर से मुद्रित अथवा कृति देव 10, कृति देव 21 में 14 फान्ट साइज में पेजमेकर साफ्टवेयर के 7.0 वर्जन में टाइप करके साथ में सीडी एवं रचना का प्रिन्ट अवश्य भेजें।
- कृतिका की गोपनीय समिति द्वारा चयनित शोध पत्रों/आलेखों में से श्रेष्ठ रचना को पारतोषिक देकर सम्मानित किया जायेगा।

- कृतिका परिवार

सम्पादकीय

किसी भी रचनाकार की रचनाधर्मिता की परीक्षा कलात्मकता, सामाजिक उपादेयता और प्रासंगिकता की दृष्टि से होती है इसके साथ ही कृतिकार के रूपगत, शैलीगत, भावगत और शिल्पगत वैशिष्ट्य की दृष्टि से भी; क्योंकि एक श्रेष्ठ रचनाकार अपने जीवन जगत के प्रत्यावलोकन में रत होकर उन विविध जागतिक और सामाजिक दृश्यों-परिदृश्यों, घटनाओं, भाव-वैविध्यों और यथार्थ-सत्यों को अभिव्यक्त करता है जिसके जुड़ाव-घटाव, टूटन-घुटन में युग सत्यों का निर्माण होता है। साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, दीपशिखा भी है क्योंकि रचनाकार बाह्य परिवेश से जो अनुभव संचित करता है उसे वह अपने संचित ज्ञान की निकष पर चढ़ाकर जो निष्कर्ष निर्णीत करता है वे निष्कर्ष ही उनका चिन्तन बन जाते हैं। एक सफल कृतिकार देश, काल, वातावरण की गति और कला को ठुकराता हुआ ऐसा मौलिक सृजन करता है। जिसकी सामाजिक उपादेयता, सामाजिक सौद्देश्यता तथा मानव जीवन के कल्याण एवं विकास के लिये उसका अनुप्रयोग कितना है को दृष्टि में रखकर अपना निष्कर्ष निकालता है ऐसी ही रचनाओं की प्रासंगिकता बनी रहती है। इनकी विशिष्टता में ही इसे कालजयिता अर्थ-प्राप्ति की स्वीकृति भी दी जाती है क्योंकि इनका अनुभव रूपी ज्ञान किसी भी दशा में सत्यों एवं तथ्यों के आधार पर शत-प्रतिशत मौलिक होता है।

विश्व-साहित्य में होमर, शेक्यपियर, बनार्ड शा, टॉलस्टॉय, गोर्की, कबीर, तुलसी, रवीन्द्र और प्रेमचन्द्र का स्थान, देश, काल वातावरण की सीमा से परे एक अखण्डित सत्ता के रूप में परिणित किया जाता है। इसका कारण कदाचित यह है कि इन महान सृजनकर्ताओं ने अपनी सृजन यात्राओं में जिन-जिन तकनीकी (विधाओं) की विश्राम स्थली ढूंढ़ निकाली, उनमें मानवीय जगत के शाश्वत मूल्यों, मूल प्रवृत्तियों के परिष्करण और परिमार्जन की सम्भावनाओं को स्थापित करने का प्रयास किया गया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य की बात करें तो इसके अनुरूप ही जो सृजन होता है वही प्रासंगिक एवं कालजयी हो जाता है। कृतिका का द्वितीय अंक इन्हीं विचारणा और विमर्श की सार्थकता के आयाम को लेकर केन्द्रित है। इस उद्देश्य में हम कहाँ तक सफल हुये हैं यह आपकी प्रतिक्रिया पर निर्भर करेगा।

जहाँ एक ओर २१वीं सदी की दहलीज लांघती दुनिया विश्वव्यापी एकीकरण की ओर अग्रसर है वहीं शक्ति, सत्ता, सम्पदा और व्यापक सामाजिक सम्मान की अदम्य और अन्तहीन महात्वाकांक्षा के तहत युद्ध, हिंसा, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रवादी उन्माद से ग्रस्त दुनिया में मानवीय एकता तथा मूल उद्देश्यों और हितों की कुछ खास दिशाओं की ओर अपने आपको मोड़ा है। ऐसे ही विरोधाभाषों की वर्तमान दुनिया में सृजनकर्ताओं/शोधकर्ताओं को व्यावहारिक स्तर पर आज जमीनी सवालात से जूझने के लिये एक समग्र और व्यापक नजरिये की आवश्यकता हो गयी है। हालाँकि यह एक मुश्किल ही नहीं वरन् चुनौती भरा तथा असम्भव कार्य है लेकिन इन दुर्गम कार्यों से विरक्ति होकर हम यथार्थ, मौलिक तथा कालजयी सृजन नहीं दे सकते हैं।

कृतिका के प्रवेशांक की प्रतिक्रियाओं देश-देशान्तर विशेषकर पत्रों (ई-मेल) के आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारा प्रयास उचित दिशा की ओर अग्रसर है और जिस उद्देश्य को लेकर कृतिका प्रारम्भ की गई थी उसमें हम सफलता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं क्योंकि हमारे पास इतने अधिक शोध-पत्र/ आलेख आ गये हैं कि कृतिका जैसे एक दर्जन अंक हम वर्तमान में निकालने की स्थिति में हैं। एक बार हम कृतिका परिवार की ओर से उन सभी भारतीय एवं विश्व समुदाय के पाठकों/शोधार्थियों, प्राध्यापकों तथा संस्थानों को हार्दिक साधुवाद देते हैं कि आपने हमें समझा गलतियों पर हमें टोका तथा हमें भावात्मक/ रचनात्मक तथा आर्थिक सहयोग देकर आगे बढ़ने की ओर प्रेरित किया।

विषय-विशेषज्ञों तथा गोपनीय समिति द्वारा निर्धारित 'कृतिका' की अपनी कुछ सीमाएं हैं और इन्हीं सीमाओं को दृष्टि में रखते हुये अनेक आलेख/ शोध-पत्र तथा पुस्तक समीक्षाएं हम चाहते हुये भी इस अंक में प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं और न ही अगले अंक में प्रकाशन की सूचना हम दे रहे हैं। हमारी इस व्यवस्था से यदि आप असन्तुष्ट हैं तो इसके लिये कृतिका परिवार क्षमाप्रार्थी है। जैसा कि कृतिका के नियमों के अनुरूप वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं से सम्बन्धित विषयों पर विषय-विशेष पर विशेषांक केन्द्रित अंक निकालना सुनिश्चित है। भूमण्डलीकरण के इस युग में मानव की प्रगति के अवसरों के साथ-साथ उसकी आकांक्षाएं भी बड़ी हैं। यह बात व्यक्ति और समाज दोनों के लिये सच है। आज हम एक नवजागरण के द्वार पर खड़े हैं जहाँ पर प्रत्येक कदम पर प्रतिस्पर्धा एवं चुनौती का वातावरण विद्यमान है। वस्तुतः मूल्य आधारित जीवन शैली अपनाकर ही हम कठिन से कठिन परिस्थिति का बहादुरी से सामना करते हुये राष्ट्र को प्रगति के पथ पर आगे ले जा सकते हैं। इन्हीं परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुये प्रथम कड़ी के रूप में कृतिका का मुस्लिम विमर्श पर केन्द्रित अंक **भारतीय मुसलमान : दशा एवं दिशा २००६** में प्रकाशित करने की योजना है। इस विषय पर विस्तृत सूचना अंदर के पृष्ठों एवं अन्त के कवर पृष्ठ पर अंकित है। कृपया प्रमुख बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुये अपने गम्भीर अध्ययन से सम्बन्धित शोधपरक एवं मौलिक रचना सामग्री भेजकर सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

– सम्पादक मण्डल

अनुक्रमणिका

देश-देशान्तर मित्रों का शोधपरक अनुष्ठान

कृतिका

साहित्य, कला, संस्कृति आयुर्वेद, मानविकी एवं समाज विज्ञान की अर्द्धवार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका

प्रधान सम्पादक
डॉ. चन्द्रमा सिंह

मुख्य सम्पादक
डॉ. किशन यादव
डॉ. सुरेश एफ कानडे
डॉ. कश्मीरी देवी
डॉ. रोशन लाल जिन्टा

कला सम्पादक
डॉ. नीना शर्मा 'हरेश'

प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. शंकरलाल

सम्पादक
डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव

	सम्पादकीय	-	सम्पादक मण्डल	i-ii
	भाषा एवं साहित्य			
१.	हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य : चुनौतियाँ एवं समाधान	-	प्रोफेसर राम चौधरी	1-3
२.	साहित्य के आइने में पुस्तकों की लोकप्रियता - मेरी प्रिय पुस्तक	-	डॉ. तिलक राज चोपड़ा	4-9
	स्मृति के झरोखों से/धरोहर			
३.	वैश्विक परिप्रेक्ष्य में गाँधी के बाद गाँधीज्म की अवधारणा एवं विकास	-	डॉ. किशन यादव	10-14
४.	वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शहीद-ए-आजम भगत सिंह के क्रांतिकारी विचारों की उपादेयता	-	डॉ. दिवस कांत समाधिया	15-16
५.	राष्ट्रीय गरिमा के प्रतीक स्वामी विवेकानन्द के दर्शन की प्रासंगिकता	-	ज्योति श्रीवास्तव	17-18
	अध्यात्म एवं दर्शन			
६.	इक्कीसवीं सदी में संस्कृत वाङ्मय से अपेक्षायें एवं चुनौतियाँ	-	डॉ. अनिल कुमार सिन्हा	19-23
	आधी दुनिया का यथार्थ			
७.	वैश्वीकरण तथा महिला सशक्तिकरण की दशा एवं दिशा	-	डॉ. शुभा जौहरी	24-26
८.	महिलाओं में बढ़ती अपराध वृत्ति : कारण और निवारण	-	डॉ. चम्पा श्रीवास्तव	27-28
९.	आधी दुनिया का स्याह यथार्थ 'सुम्मी की बात'	-	डॉ. जार्जकुट्टी वट्टोत	29-32
१०.	राजनीति में नारी नेतृत्व आवश्यक क्यों ?	-	डॉ. (श्रीमती) चित्रा आम्रवंशी	33-37
११.	आजादी के आन्दोलन में भी अग्रणी रही है नारी	-	आकांक्षा यादव	38-45
	संगीत			
१२.	सांगीतिक परिप्रेक्ष्य में गुरू शिष्य परम्परा की प्रासंगिकता	-	डॉ. ज्योति सिन्हा	46-50
	वाद-विवाद एवं संवाद			
१३.	वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य की प्रासंगिकता एवं उपादेयता	-	डॉ. महेश सिंह यादव	51-58
	निरुत्तर			
१४.	प्रशासन में भ्रष्टाचार के कारण और निवारण	-	डॉ. महालक्ष्मी जौहरी	59-62
	नागरिक समाज			
१५.	भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाएँ व संस्कृति : एक समीक्षात्मक विश्लेषण	-	डॉ. अजय सिंह	63-69
१६.	मानवाधिकार की संकल्पना, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य	-	डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव	70-78
	लोक कला/लोक साहित्य			
१७.	'दसमत कैना' नारी-संघर्ष की अद्भुत गाथा	-	डॉ. मो. हसीन खान	79-83
१८.	लोक संस्कृति के आइने में भोजपुरी कला और कबीर साहित्य का मूल्यांकन	-	अमृता धीर ममता यादव	84-86

अनुक्रमणिका

देश-देशान्तर मित्रों का शोधपरक अनुष्ठान

कृतिका

साहित्य, कला, संस्कृति आयुर्वेद, मानविकी एवं समाज विज्ञान की अर्द्धवार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका

प्रधान सम्पादक
डॉ. चन्द्रमा सिंह
मुख्य सम्पादक
डॉ. किशन यादव
डॉ. सुरेश एफ कानडे
डॉ. कश्मीरी देवी
डॉ. रोशन लाल जिन्टा
कला सम्पादक
डॉ. नीना शर्मा 'हरेश'
प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. शंकरलाल
सम्पादक
डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव

इतिहास दृष्टि

१९. ग्रामीण विकास में कृषि एवं शिक्षा की दशा एवं दिशा - डॉ. उमारतन, डॉ. शंकर लाल 87-93

२०. मौर्ययुगीन कृषि व्यवस्था का ऐतिहासिक अवलोकन - कु. अनीता सिंह 94-97

समकालीन सृजन-संदर्भ

२१. बेहतर कल की उम्मीद में जागृत होकर बुलन्द आवाज के साथ क्रांति का आह्वान करती निर्मला पुतुल की कविताएँ - डॉ. राधा वर्मा 98-102

२२. गिरिराज किशोर की कहानियों में युग चेतना - डॉ. सुरेश फाकिर राव कानडे 103-109

परिवेश-विस्तार

२३. शेखर : एक जीवनी : एक मनोविश्लेषात्मक आंकलन - डॉ. लीना चौहान 110-113

२४. ललित निबन्धकार के रूप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मूल्यांकन - डॉ. शम्स आलम 114-118

चिंतन धारा

२५. आलोचना एक विहंगम दृष्टि - डॉ. चन्द्रमा सिंह 119-122

२६. हिन्दी साहित्य में आत्मालोचना की अवधारणा एवं विकास प्रक्रिया की आवश्यकता - क्रांतिबोध 123-129

सुलगते सवाल

२७. जनसंख्या विस्फोट : कारण एवं निवारण - डॉ. सुशील कुमार सिंह 130-138

२८. सामाजिक आर्थिक परिदृश्य और पर्यावरण - नीतेश धवन एवं डॉ. विवेक सिंह 139-141

बीच बहस में

२९. यौन शिक्षा - चुनौतीपूर्ण किन्तु आवश्यक प्रक्रिया - डॉ. कुमारेन्द्र सिंह सेंगर 142-146

शोधार्थी

३०. नारी-मन की अनछुई परतें और मन्नू भण्डारी का रचना संसार - वैशाली श्रीवास्तव 147-149

३१. प्रथम तार सप्तक की कविता और बिम्ब बोध की अवधारणा - सरिता वर्मा 150-155

संगोष्ठी रिपोर्ट

३२. आणंद आर्ट्स कॉलेज, आणंद गुजरात में भारतीय दलित साहित्य की द्वि-दिवसीय राष्ट्रीय परिसंवाद - डॉ. नीना शर्मा 156-157

पुस्तक मंच

३३. भोजपुरी साहित्य का परिवेश विस्तार - डॉ. गोवर्धन सिंह 158

३४. मानव मन के सहारे समाज का विश्लेषण - डॉ. भारतेन्दु श्रीवास्तव 159

३५. उन्नति की ओर बढ़ता नारी कदम - मोर्चे पर स्त्री - डॉ. दिव्या माथुर 160

३६. शिक्षा ग्रन्थों का वैज्ञानिक विश्लेषण - डॉ. राजेश्वर मिश्र 161

३७. भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का महाकाव्य : क्रांति यज्ञ (१८५७-१९४७) - डॉ. अजीत सिंह राही 162

३८. शून्य से शिखर तक की यात्रा - डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव 163

३९. मानवमन की अकुलाहट एवं त्रासदी का चरम आख्यान - डॉ. ज्योति सिन्हा 164

४०. राष्ट्रभाषा हिन्दी के विविध आयाम - डॉ. धनंजय कुमार 165

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य : चुनौतियाँ एवं समाधान

*प्रोफेसर राम चौधरी

भाषा संस्कृति की पोषक होती है, संस्कृत की व्यापक परिधि में वैज्ञानिक संस्कृति भी शामिल है, साहित्य की एक विधा है, वैज्ञानिक साहित्य। जो देश अपनी भाषाओं का सम्मान करते हैं, वे उन्नति करते हैं, उनकी संस्कृति फलती फूलती है, उनका सम्मान होता है। हिन्दी के सामने सबसे बड़ी चुनौती है - भारतीय भाषाओं से सामंजस्य स्थापित करते हुये उसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति का सक्षम, सशक्त तथा उपयोगी माध्यम बनाना ताकि उसे जनसाधारण तक पहुँचाया जा सके।

भारत में अंग्रेजी माध्यम के भयंकर परिणाम हुए। देश की ९५ प्रतिशत जनता का विकास अवरूद्ध हुआ। अंग्रेजी शासनकाल से लेकर आज तक, भारत दो समूहों में बंटा हुआ है, एक तो वे जो अंग्रेजी जानते हैं (अफसर), जो भारत की आबादी का ५ प्रतिशत भाग हैं, दूसरे जो अंग्रेजी नहीं जानते (जनता), जो आबादी का ९५ प्रतिशत भाग है। पहले वर्ग के लिये उच्च शिक्षा के द्वार खुले हैं, भारत में और विदेशों में भी। दूसरे वर्ग के लिये द्वार बन्द हैं, क्योंकि उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषाएं नहीं हैं। उन्हें मातृभाषा द्वारा आधुनिक ज्ञान मिल सकता था, वे कुशल कारीगर, इंजीनियर, वैज्ञानिक बनकर भारत को समर्थ बना सकते थे। सामाजिक विषमताओं ने इन दुष्परिणामों को और गहरा कर दिया है।

सामाजिक विषमता को हटाने का एक ही रास्ता है, अमीर-गरीब, सभी को शिक्षा का समान अवसर प्राप्त हो। यह तभी संभव है जब शिक्षा का माध्यम देशी भाषायें हों विशेषकर राष्ट्रभाषा हो। अमीर अपने बच्चों को बुरी शिक्षा दिलाने के लिये तैयार न हो। इसलिये अच्छी पाठ्य पुस्तकें, अच्छा पाठ्यक्रम, अच्छे अध्यापक तैयार करने होंगे। विदेशी भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये, वे हमारी बैसाखी न बनकर हमें विदेशों का ज्ञान लायेंगी। वे 'पुस्तकालीय' भाषायें होंगी।

स्वतंत्रता से पहले और आज भी भारतीय भाषाओं में, उच्चकोटि का पारंपरिक साहित्य है, परन्तु सभी में वैज्ञानिक साहित्य का अभाव है। हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिये पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण तथा अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद पर करोड़ों रूपये खर्च किये गये, फिर भी हिन्दी राजभाषा न बनी। अभिजात वर्ग तो इसके बारे में सोचता ही नहीं है, मध्यम वर्ग इसे असंभव मानने लगा है, उनका कहना है, कि हिन्दी की वैज्ञानिक शब्दावली कठिन है। हिन्दी की पुस्तकें बिकती नहीं है, उनका कोई बाजार नहीं है। अंग्रेजी माध्यम से विश्वविद्यालयों में सम्पर्क आसान है, हिन्दी में अंतर-विश्वविद्यालीय संवाद कठिन हो जायेगा। आइये, इन मुद्दों पर विचार करें। उपरोक्त भाषाओं में वैज्ञानिक कार्य तथा लेखन की परम्परा सैकड़ों वर्ष पुरानी है, हमें इसे प्रारम्भ करना है और निरंतर प्रयोग से ही यह परिष्कृत होगी। आने वाली पीढ़ियों के लिये वैज्ञानिक लेखन काफी सरल होगा। हिन्दी की शब्दावली कठिन नही हैं, हमने उसका प्रयोग नहीं किया, न करना चाहते हैं।

* इमेरिटस प्रोफेसर ऑफ फिजिक्स, स्टेट यूनीवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क, ऑसवीगो न्यूयार्क

इसलिये उससे परिचित नहीं हैं। अनेक भारतीय वैज्ञानिक उच्च-शिक्षा हेतु रूस, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में जाते हैं, वहाँ भी भाषायें सीखते हैं, उनमें शोधपत्र लिखते हैं।

जनसंख्या तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से हिन्दी भारत की सबसे बड़ी भाषा है, यदि हिन्दी इस क्षेत्र की शिक्षा का एकमात्र माध्यम बन जाये, तो हिन्दी की किताबों का बहुत बड़ा बाजार बन जायेगा, लेखकों तथा प्रकाशकों में इस बाजार से लाभ उठाने की प्रतिस्पर्धा होगी और अच्छे स्तर की पुस्तकें बाजार में आयेंगी, उनकी गुणवत्ता बढ़ेगी।

विश्वविद्यालय संवाद में भाग लेने वाले व्यक्ति, प्रतिभाशाली विद्वान तथा उनके प्रतिभाशाली विद्यार्थी होंगे, जो मातृभाषा के अतिरिक्त दो-तीन और भाषायें जानते होंगे, वे भारतीय भाषाओं की तकनीकी शब्दावली से परिचित होंगे। उनके लिये हिन्दी माध्यम से संवाद कठिन नहीं होगा। यह धारणा कि क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग से भारत में बिखराव आयेगा, निर्मूल है, इससे तो भारतीय भाषायें एक-दूसरे के निकट आयेंगी।

अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित वैज्ञानिकों, विद्वानों तथा शासकीय नौकरशाही का विशाल जत्था होते हुये भी अपनी भाषाओं के माध्यम से शिक्षित चीन, जापान और कोरिया हमसे हर विभाग में आगे निकल गये हैं जब हिन्दी क्षेत्रों में अंग्रेजी स्कूलों की मांग बढ़ रही है, तो हम भारत के अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी की वकालत कैसे कर सकते हैं ? प्रश्न उठता है कि हिन्दी को हिन्दी क्षेत्र में क्यों नहीं अपनाया जाता है ? इसका एक ही उत्तर है - हिन्दी भाषा में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का साहित्य नहीं है, हिन्दी अच्छी नौकरी अथवा अच्छे उद्योग धन्धों के विषयों में वह अंग्रेजी से अधिक कारगर तथा लोकप्रिय भाषा सिद्ध होगी। इस साहित्य के निर्माण के लिये हमें चोटी के कारीगरों को तलाशना होगा। जो जनसाधारण तथा नये कारीगरों के लिये उपयोगी हो। वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, डाक्टरों आदि को हिन्दी पुस्तकें लिखने, उन्हें प्रयोग करने के लिये प्रोत्साहित करना होगा। सरकार का कर्तव्य है कि वह उच्चतम आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साधन, पुस्तकें, प्रयोगशालायें, कम्प्यूटर हिन्दी में उपलब्ध कराये। इण्टरनेट तथा कम्प्यूटर द्वारा अन्तर्भाषीय शब्दावली के प्रयोग से, भारतीय भाषाओं में पारस्परिक अनुवाद कार्य सुगमतापूर्वक किया जा सकेगा, वे एक-दूसरे के और पास आ जायेंगी। हिन्दी, विज्ञान, वित्त, विधि, वाणिज्य, शासन, चिकित्सा, यांत्रिकी, तकनीकी सब व्यवसायों की भाषा बनें और वह रोजी-रोटी की भाषा हो।

हिन्दी में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का साहित्य सृजन तथा उसका प्रयोग युद्ध स्तर पर किया जाना चाहिये। यहाँ युद्ध स्तर का तात्पर्य राष्ट्रीय विकास की भयंकर भूल को सुधारना है। कठिन काम से जी चुराकर कोई महान नहीं बनता, श्रेष्ठ उपलब्धियों का मार्ग कठिनाइयों के बीच होकर ही जाता है। यह सर्वथा संभव है कि नगरों के गली-कूचों से, झोपड़ी-झुग्गियों से, दूर-दराज गाँवों से कुछ मानव हीरे, एक दो रामानुजन हमारे हाथ लग जायें। जब हम हिन्दी को शासन में तथा शिक्षा के हर विषय तथा हर स्तर में प्रयोग करने लगेंगे, हिन्दी अनायास ही भारत की राजभाषा बन जायेगी, राष्ट्रसंघ की भाषा भी बन जायेगी।

हमें हताश होने की जरूरत नहीं है। हमारे पास सभी साधन हैं, हिन्दी के विद्वान, श्रेष्ठ वैज्ञानिक, एक ऐसे पूर्व राष्ट्रपति जो विश्व के अग्रगण्य राकेट वैज्ञानिक हैं, जो भारत को विज्ञान में अग्रगण्य बनाना चाहते हैं। हमें हिन्दी को विज्ञान की भाषा बनाने के लिये कमर कसनी होगी, इसमें सफल होकर आत्मविश्वास अर्जित करना होगा। हम

इस कार्य में कठिनाई की बात करते हैं, तो क्या यह काम कारगिल की दुर्गम बर्फीली चोटियों पर देश की रक्षा के लिये हमारे सैनिकों के जान निछावर करने की तुलना में कठिन है ? आज सभी राजनैतिक पार्टियों का दावा है कि वे समाज के दुर्बल वर्ग को सबल बनाना चाहते हैं, तो उनकी भाषा में विज्ञान पहुँचाने से बढ़कर सबलीकरण का कौन सा उपाय होगा ? भारतीय समाज को सबसे सबल बनाने का कार्य मीडिया द्वारा संभव है। भारतीय मीडिया को चाहिये कि वे हिन्दी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को आगे लाये। अधिकाधिक माध्यम में प्रमुखता हिन्दी को दें। वाणिज्य व्यवसाय के क्षेत्र में तो हिन्दी शीर्षस्थ हो रही है किन्तु वह दिन दूर नहीं जब विज्ञान में भी हिन्दी शिखर पर पहुँचेगी आवश्यकता है थोड़े से श्रम की ......

भारतीय लोकतंत्र अपनी अनेक कमियों के बावजूद विश्व का सबसे शक्तिशाली एवं बड़ा लोकतंत्र है। जिसमें सभी प्रकार के धर्मो के अनुयायी, विभिन्न रीति-रिवाजों के पालन करने वाले, विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले व्यक्ति निवास करते हैं। भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसने समय-समय पर यहाँ आयी हुई सभी संस्कृतियों को भी स्वयं में समाहित कर लिया है। आर्य, शक, हूण, कुषाण आदि सभी संस्कृतियाँ मिलकर भारतीय संस्कृति एवं समाज को एक नया रूप देती रही हैं। साम्राज्यवादी शक्तियों ने हमारे समाज में भारतीयो के बीच फूट डालने के लिए प्रत्येक अवसर का लाभ उठाते हुये उन्हें दो परस्पर शत्रु खेमों में विभाजित कर दिया। अंग्रेजों की इस कुटिल पृथक्तावादी मनोवृत्ति से जो लोग आकर्षित हो सके वह मातृभूमि का विभाजन करके अपने लिए एक अन्य देश बनाने में सफल हो गये तथा उसी समुदाय के जिन लोगों ने अपने जन्म स्थान में रहने का निर्णय किया वही अल्पसंख्यक (मुस्लिम) कहलाए। यहाँ हिन्दू बहुसंख्यक के रूप में जबकि मुसलमान, सिक्ख, क्रिश्चियन, पारसी, बौद्ध, जैन आदि अल्पसंख्यक कहलाये। इस प्रकार हम देखते हैं कि अल्पसंख्यको में सबसे अधिक मुस्लिम समुदाय के व्यक्तियों की आबादी सबसे अधिक है।

भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है क्योंकि इसने समाज के हाशिए पर पड़े समूहों समेत विभिन्न वर्गों वाली शक्तियों को जीवंत/संजीदा और मजबूत किया है। अंतर-लोकतंत्रीकरण (समाज में समान दर्जे की अनुभूति) एवं लोकतंत्रीकरण (सामाजिक और शैक्षिक स्थिति में सुधार) की इस प्रक्रिया ने दलितों, पिछड़ों एवं महिलाओं में नई जान डाल दी है। कुछ विद्वतजनों एवं प्रगतिवादी सोच के लोगों का मानना है कि इस प्रक्रिया में भारतीय मुसलमानों को खास प्रवाहित नहीं किया है क्योंकि मुस्लिम समुदाय के अन्दर अपने कार्य-व्यापार को बदलने और उनके कामकाज में लोकतंत्रीकरण करने वाली शक्तियों को अभी तक मजबूत नहीं किया जा सका है ? इसलिये इस समुदाय के अंदर जितनी व्यापक आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और शैक्षिक सुधार की पहल होनी चाहिये भी वह नहीं हो पायी है। वहीं दूसरी ओर साम्प्रदायिकता, शोषण, पारस्परिक दुराव, जाति-पाँति, धर्म व भाषा, क्षेत्रीयता की बढ़ती दूरियां अल्पसंख्यकों की विकासरूपी मानसिकता को अवरूद्ध कर रही हैं।

सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श के बाद आज आवश्यकता है कि मुस्लिम समाज के प्रति आम लोगों में जो गलत फहमियां एवं शंकायें हैं तथा स्वयं मुस्लिम समाज के अंदर क्या अन्र्द्वन्द्व चल रहे हैं इस दिशा की ओर वर्तमान की स्थिति का अवलोकन करने से विमर्श अपेक्षित हो गया है। वसुधैव कुटुम्बकम के आदर्श को ध्यान में रखते हुये कृतिका का आगामी २००९ का विशेषांक भारतीय मुसलमान : दशा एवं दिशा को लेकर केन्द्रित रहेगा। कृपया अपनी गम्भीर अध्ययन से सम्बन्धित मौलिक तथा शोधपरक रचनाएं भेजकर हमारे इस प्रयास में सहयोग प्रदान करें।

साहित्य के आइने में पुस्तकों की लोकप्रियता – मेरी प्रिय पुस्तक

*डॉ. तिलक राज चोपड़ा

कोई पुस्तक किसी को क्यों प्रिय होती है, यह तो मैं नहीं जानता; क्योंकि मुझे कोई पुस्तक प्रिय नहीं है। लेकिन यह मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि किसी एक पुस्तक को प्रिय मानने वाला व्यक्ति अवश्य ही भावुक होता है, और अगर मैं अपने को समझने का दावा कर सकूँ, तो कहूँगा कि मैं भावुक नहीं हूँ। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मैं प्रयत्न करने पर भी कवि नहीं बन सका।

श्वेत पत्रों पर अंकित काले अक्षरों की दुनिया में उलझने का शौक तो मुझे बचपन से ही है; किन्तु उसके साथ कोई रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सका हो, यह बात मैं स्वयं नहीं जानता। शायद किशोर वय के आरंभ में 'शेखर' (द्वितीय भाग) की उन आठ पंक्तियों ने मुझे एक बार भावुक बनाया था, जो शशि ने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में गाईं थीं, और जो एक किशोर की भावुकतावश मुझे अभी तक याद हैं। उन पंक्तियों का यथार्थ अभिप्राय न मैं तब समझ सका था और न आज समझ पाता हूँ। शेखर ने मेरे जीवन को अत्यन्त प्रभावित किया है। उसका प्रथम भाग तो लगभग एक वर्ष तक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मेरा पथ-प्रदर्शक बना रहा। बालक शेखर के अपने और अपने घर के प्रति संघर्ष ने मुझे बहुत प्रभावित किया। अगर अपने को धोखा दूं, तो कह सकता हूँ कि 'शेखर' उस समय मेरी प्रिय पुस्तक थी। मैं तो यह समझता हूँ कि 'शेखर' किसी भी युवक और विशेषकर किशोर की, एक परिमित काल के लिए प्रिय पुस्तक बन सकती है। उसके प्रथम भाग के उत्तरार्द्ध में किशोर-जीवन का एक ऐसा यथार्थ-सा चित्र है, जिसे कोई भी विवेक-शून्य युवक महादेवी की आहों के साथ अपना साध्य बना सकता है। इस 'न्यूरोसिस' या 'साइकोसिस' ने ही मुझे 'शेखर' को अपनी प्रिय पुस्तक बनाने के लिए तत्काल बाध्य किया था। किन्तु आज जब मैं शान्तिपूर्वक इस समस्या पर विचार करता हूँ, तो ज्ञात होता है कि उस समय 'शेखर' से प्रेम और उसके अहंवाद में श्रद्धा केवल एक धोखा या अधिक-से-अधिक एक दिवा-स्वप्न मात्र था।

शेखर ने फ्रायड की ओर इंगित किया और मैं लगभग छः मास तक उसी में उलझा रहा। फ्रायड के अवचेतन मन-सम्बन्धी सिद्धान्त तथा उसकी आत्मकथा पर मुझे बहुत श्रद्धा थी। यह श्रद्धा भी शेखर से प्रेम की तरह अस्थायी एवं एक धोखे से अधिक कुछ न रह सकी। हाँ, फ्रायड के अध्ययन ने मुझमें स्वतन्त्र चिन्तन की धारा का प्रस्फुटन अवश्य कर दिया। जिस कामवासना को भारतीय चिन्तन-प्रणाली में निकृष्टतम स्थान मिला है, उसको फ्रायड विश्व-जीवन का मूल स्रोत मानता है, यही एक विचार मेरे स्वतन्त्र चिन्तन की दिशा का निर्देशन करने लगा। मैं किसी नवीन मान्यता को तत्काल उसकी नवीनता के कारण ही अस्वीकार नहीं कर सकता था। प्रत्येक बात को मैं एक वस्तुगत दृष्टिकोण से देखने का अभ्यस्त होने लगा।

ऐसे स्वतन्त्र चिन्तन के युग में मुझे विजयशंकर मल्ल की 'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद' पुस्तक देखने का सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। मल्ल जी की कटु, लेकिन सारहीन आलोचना ने मेरे स्वतन्त्र चिंन्तन को भड़का दिया। मैंने मल्ल जी के निर्देश पर ही प्रगतिशील साहित्य से सम्बद्ध पुस्तकें खोजनी आरम्भ की।

* हाजलवेग 15, 53340 मेकन्हाईम, जर्मनी

प्रगतिशील साहित्य पर मैंने सर्वप्रथम डॉ० रामविलास शर्मा की 'प्रगति और परम्परा' पुस्तक पढ़ी। इस पुस्तक ने मेरी ज्ञान-सीमाओं को अधिक विस्तार दिया तथा प्रगतिशील साहित्य पर किए गए आक्षेपों का बहुत ही उपयुक्त उत्तर उपस्थित कर दिया। सबसे अच्छी बात मुझे यह लगी कि प्रगतिशील समालोचक एक ओर यदि केदारनाथ अग्रवाल की ग्रामीण वातावरण में परिपोषित कविताओं की प्रशंसा कर सकता है, तो दूसरी ओर वह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रगतिशील विचारधारा का स्वागत करने में भी हिचकिचाता नहीं। डॉ. रामविलास शर्मा प्रगतिशील लेखकों में भी असामान्य रूप से प्रगतिशील हैं। उन्हें उग्र प्रगतिवादी कहा जाता है; किन्तु मुझे उनके विचार बहुत ही सच्चे तथा उपयुक्त जान पड़े। प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'नया हिन्दी साहित्य' देखकर अवश्य कुछ निराशा हुई; क्योंकि महादेवी, पन्त और निराला प्रभृति साहित्यिकों को जिस दृष्टि से उन्होंने देखा था, वह कदापि प्रगतिशील नहीं कही जा सकती। तभी मैंने मन्मथनाथ गुप्त तथा रमेन्द्रनाथ वर्मा का 'कथाकार प्रेमचन्द्र' पढ़ा। इस ग्रन्थ को मैं आज तक प्रेमचन्द्र पर लिखी गई समालोचना-पुस्तकों में अद्वितीय मानता हूँ। प्रेमचन्द्र को विश्व साहित्यिक के रूप में देखने का यह प्रथम प्रयास है, और 'कथाकार प्रेमचन्द्र' में वे हमें बाल्ज़ाक, डिकेन्स और टाल्स्टाय की श्रेणी में दिखाई पड़ते हैं। इसी समय की अन्य बहुत-सी पढ़ी हुई पुस्तकों में से राल्फ-फाक्स की 'दि नावेल एण्ड दि पीपुल' को मैं सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।

वैसे तो उपर्युक्त वक्तव्य से ही स्पष्ट हो जाता है कि मैंने आज तक किसी भी पुस्तक को अपनी प्रिय पुस्तक नहीं बनाया। किशोरावस्था के नशे में भले ही 'शेखर' को मैंने अपना पथ-प्रदर्शक मान लिया हो; किन्तु जैसा मैं कह चुका हूँ, वह सब एक धोखा या अधिक-से-अधिक एक दिवा-स्वप्न ही था। 'शेखर' के बाद की पुस्तकों को न तो मैं प्रिय पुस्तकें ही कह सकता हूँ और न उस पर मेरी कोई श्रद्धा थी। हाँ, उनमें अपने विचारों का प्रतिबिम्ब देखने के कारण मैं उनको अच्छी पुस्तकें अवश्य समझता रहा। अतः इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मेरी प्रिय पुस्तक कोई भी नहीं है, किन्तु शीर्षक की लाज तो रखनी ही पड़ेगी।

गत वर्ष हिन्दी-कहानी में प्रगतिशीलता की खोज करते हुए मैं प्रेमचन्द्र तक पहुँचा। उर्दू के एक महाशय ने बतलाया कि हिन्दी की सर्वप्रथम प्रगतिशील कहानी 'आज' में श्री अख्तर हुसैन रायुपरी की प्रकाशित हुई थी; किन्तु मुझे इस बात से सन्तोष नहीं हुआ और मैंने स्वयं खोज करनी आरम्भ की। पुस्तकालय में एक बड़ी पुरानी-सी पुस्तक हाथ लगी, जिसका नाम था 'कुसुम-संग्रह'। लेखक के स्थान पर 'एक बंग-महिला' लिखा हुआ था। पुस्तक की भूमिका हिन्दी के आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने लिखी थी। पुस्तक में अधिक संख्या तो लेखिका द्वारा अनुवादित लेखों और कहानियों की ही थी; किन्तु चार लेख और दो कहानियाँ लेखिका की मौलिक रचनाएँ भी संगृहीत थीं। मौलिक रचनाओं में से 'दुलाईवाली' शीर्षक कहानी हिन्दी की सर्वप्रथम प्रगतिशील कहानी है। यह 'सरस्वती' के सन् १६०७ के मई मास के अंक में प्रकाशित हुई थी। 'दुलाईवाली' से पहले यद्यपि श्री किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' (१६०० ई.) और पं. रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (१६०३) ये दो कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं; किन्तु ये दोनों आधुनिक हिन्दी कहानी से कोसों दूर हैं। प्रगतिशीलता की दृष्टि से तो इनका मूल्य कुछ भी नहीं है। 'इन्दुमती' तो स्पष्ट रूप से शेक्सपियर के टेम्पेस्ट का मर्मानुवाद है और 'ग्यारह वर्ष का समय' हितोपदेश तथा पंचतंत्र काल की रचना है। इसमें पाठकों को सम्बोधित कर उन्हीं प्राचीन उपदेश-वाक्यों और शंका-समाधानों का समावेश है, जो काल की दृष्टि से पन्द्रहवीं शती के भी पहले की चीजें है।

विश्व और समाज से दूर रहने वाली 'इन्दुमती' और 'ग्यारह वर्ष का समय' शीर्षक कहानियों के युग में 'दुलाईवाली' जैसी वातावरण-सापेक्ष्य कहानी

का जन्म होना एक अद्‌भुत-सी घटना थी। 'दुलाईवाली' मध्यवर्गीय परिवार की एक सामान्य-सी घटना का सीधा-सा चित्र है। इस कहानी के पात्र अपने युग की राजनीतिक चेतना से कुछ आगे बढ़े हुए हैं। वंशीधर और उनकी पत्नी जानकी देई बनारस से प्रयाग जा रहे हैं। स्टेशन पर बैठे हुए बंशीधर को जानकी देई की वेश-भूषा में विदेशी कपड़ों को देखकर अपने पुराने मित्र नवल किशोर की याद आ गई। नवल किशोर रास्ते में मुगलसराय के स्टेशन पर मिलने वाले थे, अतः उन्होंने अपनी पत्नी से कहा - "नवल कट्टर स्वदेशी हुए हैं न ! वे तो बंगालियों से भी बढ़ गए हैं। देखेंगे तो दो-चार सुनाए बिना न रहेंगे। और, बात भी ठीक है। नाहक विलायती चीजें मोल लेकर क्यों रूपये की बरबादी की जाय ? देशी लेने से भी दाम लगेगा सही, पर रहेगा तो देश ही में।" इस प्रकार यह कहानी अपने युग के सबसे महान् प्रगतिशील आन्दोलन को साहित्यिक मान्यता और अभिव्यंजना प्रदान करती है।

सन् १६०४ के रूस-जापान युद्ध ने भारतीय जनता की राष्ट्र-भावना को अत्यधिक उत्तेजित किया। जापान जैसे छोटे पूर्वीय देश का रूस जैसे बड़े पश्चिमी देश पर विजय पा लेना, तत्कालीन भारतीय जनता के आत्मगौरव की एक बड़ी बात थी। इस आत्मगौरव और राजनीतिक चेतना के युग में बंग-विभाजन ने आग में घी का काम किया और लोगों की क्रान्तिकारी भावना प्रज्ज्वलित हो उठी। असहयोग और स्वदेशी का खूब बोलबाला हो गया। सन् १६०७ में सरकार की ओर से दमन के रूप में इन सब चेतनाओं और राजनीतिक लहरों का जवाब भी दिया जाने लगा था। इस दमन के युग में ही यह कहानी लिखी गई थी। अतः एक प्रगतिशील लेखिका की हैसियत से बंग-महिला ने भी इन जन आन्दोलनों का साथ दिया। स्वदेशी आन्दोलन का वास्तविक रूप लेखिका की दूसरी कहानी 'भाई-बहन' शीर्षक में अधिक निखरा है।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है 'भाई-बहन' कहानी किसी पत्रिका में प्रकाशित नहीं थी, जिससे इसके प्रकाशन काल का निश्चित प्रमाण नहीं मिल सकता। किन्तु 'कुसुम संग्रह' में संगृहीत होने के कारण इतना तो निर्विवाद है कि यह कहानी सन् १६१० के, जो कि 'कुसुम संग्रह' का प्रकाशन काल है, पूर्व लिखी गई थी। स्वदेशी आन्दोलन का अपेक्षाकृत स्पष्ट विवेचन होने से इसे हम 'दुलाईवाली' से पूर्व की रचना भी नहीं मान सकते। इस प्रकार 'भाई बहन' कहानी का समय सन् १६०७ के बीच में ठहरता है।

लेखिका की पहली कहानी 'दुलाईवाली' में स्वदेशी आन्दोलन का केवल संकेत ही है; लेकिन यह दूसरी कहानी तो स्वदेशी आन्दोलन को एक समस्या के रूप में लेकर ही निर्मित जान पड़ती है। इस स्वतः सृष्ट समस्या में लेखिका कुछ इतनी उलझ गई है कि उसने कहानी के टेकनीक को भी भुला दिया है। ग्यारह वर्ष का बालक, जिसका नाम गौरवपूर्ण होने के कारण 'साहब' है, बाजार से पाँच आने की एक रेलगाड़ी ले जाता है; लेकिन उसकी छोटी बहिन गंगिया को केवल एक मिट्टी का खिलौना मिलता है। साहब के चिढ़ाने से तंग आकर गंगिया अपने बड़े भाई साहब से पूछती है कि उसका खिलौना साहब की रेलगाड़ी से अच्छा है न ?इतने में साहब भी वहाँ आ जाता है। बड़े भाई ने झगड़े का फैसला करते हुए गंगिया के खिलौने को अच्छा और रेलगाड़ी सहित साहब को गन्दा लड़का करार दिया, क्योंकि उसने विदेशी वस्तु खरीदी थी। इसके बाद बड़े भाई ने साहब को एक लम्बा सा व्याख्यान दे डाला। यह व्याख्यान का वक्तव्य कहानी में अस्वाभाविक होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विदेशियों के सम्बन्ध में उनका कथन है, "वे लोग तो हर तरह मोटे-ताजे हैं और बेचारे यहाँ के जो कुम्हार और कारीगर हैं, उन्हें दिन भर में नमक-रोटी भी मुश्किल से मिलती है। वे लोग पाँच आने पावें, तो उन्हें पेट भर खाने को मिल जाये। .... यह तो तुमने जान लिया कि इसे बनाया किसने। जरा सोचकर देखो, इसे खरीदने से हमारे देश को हानि और दूसरे

देश को लाभ पहुँचता है या नहीं ? आज तुमने इसे मोल लिया है, दो दिन के पीछे तोड़-फोड़कर फेंक दोगे; परन्तु ऐसे-ऐसे तुच्छ खिलौनों के लिए कई लाख रूपये हर साल 'हिन्दुस्तान' से निकल जाते हैं। इस तरह सुई, डोरा, कंघी, दियासलाई इत्यादि छोटी मोटी चीजों के लिए भी कितने रूपये हम दूसरे देशवालों को दे देते हैं, जिसका लेखा लगाने से छाती दहल जाती है और उसी के साथ थोड़े से मुनाफे पर चावल, गेहूँ आदि गल्ले को बेच डालते हैं। इसमें दूसरों का कुछ दोष नहीं है। हम सब अपनी करनी से ही दीन से दीन, गरीब से गरीब, अधम से अधम हो रहे हैं। पर तब भी चेत नहीं होता। हम लोगों में यह एक भारी दोष है कि जितना कहते हैं, उसका चौथाई भी नहीं करते। ......" इस वक्तव्य के १५ वर्ष बाद भाई साहब ने एक नगर में देखा कि साहब 'मातृ-भण्डार' खोले बैठे हैं, जिसमें सामान्य उपयोग की सभी स्वदेशी वस्तुएँ बिकती हैं। इस प्रकार लेखिका ने स्वतः सृष्ट समस्या के लिए एक हल भी उपस्थित कर दिया है।

इस कहानी के सामान्य परिचय से इतना तो ज्ञात हो जाता है कि लेखिका को भारतेन्दु युग के प्रतीकवाद या छायावाद में विश्वास नहीं। न तो वह 'यमलोक की यात्रा' में स्वदेशी का प्रचार करती है और न 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' में ही वह 'मातृ भण्डार' का निर्माण चाहती है। लेखिका की पहुँच बिल्कुल सीधी और बेलाग है। आज इसको कला की दृष्टि से चाहे हम एक उच्च्य कोटि की रचना न मानें; लेकिन जब यह लिखी गई थी, उस युग में यह सबसे अधिक प्रगतिशील और कलापूर्ण रचना रही होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। जनता को 'मातृ-भण्डार' जैसी दुकानों की ओर उन्मुख करने का यह एक अच्छा कलात्मक और शिष्ट साधन बन सकती थी, किन्तु दुःख इस बात का है कि बंग-महिला के बाद किसी ने इस कार्य को आगे न बढ़ाया। इस क्षेत्र में बाद को प्रेमचन्द ही 'समर यात्रा' के लिए तैयार हुए।

इन दोनों कहानियों की तुलना करने से स्वदेशी आन्दोलन की प्रगति का एक काफी स्पष्ट चित्र खींचा जा सकता है। 'दुलाईवाली' के रचनाकाल अर्थात् सन् १६०७ में इस आन्दोलन का पुनर्जन्म हुआ (स्वदेशी आन्दोलन का प्रथम जन्म भारतेन्दु युग में हो चुका था)। वंशीधर जानकी को बतलाते हैं - "नवल कट्टर स्वदेशी हुए हैं न ?" अर्थात् यह जो नया स्वदेशी आन्दोलन चला है, नवल भी उसी के परम पोषक हुए हैं। यहाँ वंशीधर स्वदेशी आन्दोलन के सम्बन्ध में अपनी ओर से सिवाय थोड़ी सी वकालत करने के और कुछ विशेष नहीं कहते; किन्तु यह आन्दोलन बहुत तेजी से बढ़ रहा था। इस संवेग प्रगति का प्रमाण 'भाई-बहन' कहानी में दिया गया बड़े भाई साहब का चार पृष्ठों का व्याख्यान है। अन्त में 'मातृ-भण्डार' के खुलवाने से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि सन् १६०६ और १६१० में कुछ लोग इस प्रकार के 'भण्डार' खोलने में प्रवृत्त हो गए थे। जो कुछ भी हो, ये दो कहानियाँ अपने युग की राजनीतिक चेतना को अपने ही युग की शैली और शब्दावली में सफलतापूर्वक व्यक्त करती हैं।

मुझे 'कुसुम-संग्रह' अच्छा लगा, इसका कारण ये दो कहानियाँ ही नहीं हैं। यहाँ मैं इस बात को स्पष्ट कर दूँ 'कुसुम संग्रह' के अच्छे लगने का प्रधान कारण 'वुदरिंग हाईट्स' का अच्छा लगना है। वुदरिंग हाईट्स की लेखिका एमिली बाण्टी ने जिन अति सामान्य परिस्थितियों में रहते हुए इस महान उपन्यास की रचना की थी, ठीक वैसी ही, बल्कि उससे भी अधिक शोचनीय परिस्थितियाँ 'कुसुम संग्रह' की लेखिका की थीं। बंग महिला न तो किसी स्कूल में पढ़ी थी, न कालेज में और न शायद उसे स्त्री शिक्षा पर किसी प्रगतिशील पुस्तक के पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हो सका था। एमिली अपने कट्टरपंथी पिता के संरक्षण में हावर्थ ग्राम में पली थी और बंग महिला अपने पुरानपंथी पिता की अधीनता में एक अर्द्धग्राम (मिर्जापुर) में। मैं अनुमान कर सकता हूँ कि एमिली को स्कूल की शिक्षा तक ही संतुष्ट रहना पड़ा

होगा, किन्तु बंग महिला को तो घरेलू शिक्षा पर ही संतोष करना पड़ा। लेकिन परिस्थितियों के इतने प्रतिकूल होते हुए भी एमिली ने अंग्रेजी के प्रगतिशील साहित्य को जो कृति प्रदान की, वह अद्वितीय थी। -वुदरिंग हाईट्स' में अपने युग की यथार्थता और लेखिका के हृदय की कविता का अद्‌भुत सामंजस्य है। युग जीवन की आत्मा को लेखिका ने जिस अधिकार से अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, वह अपूर्व है।

बंग महिला में एमिली के समान प्रतिज्ञा नहीं थी, यह मैं कैसे कहूँ ? उसकी समस्त रचनाएँ उपलब्ध भी तो नहीं हैं। फिर एमिली के युग की तरह बंग महिला का युग न तो उतना प्रगतिशील था और न उसमें वे प्रयोग ही हो रहे थे, जो लेखिका को अभीष्ट थे। तीसरे, बंग महिला उपन्यास लेखिका नहीं थी, जिससे कि वह समस्त जीवन की एक स्वस्थ मीमांसा प्रस्तुत कर सकती। इतनी विषमताएँ होते हुए भी मैंने बंग महिला को एमिली की समता में क्यों रक्खा, इसका कारण उनके स्त्री शिक्षा सम्बन्धी लेख हैं।

'कुसुम संग्रह' में लेख तो कई संगृहीत हैं, किन्तु लेखिका की निजी रचनाओं में केवल चार की ही परिगणना हुई है। बंग महिला ने अपनी लेखनी केवल उन्हीं विषयों पर चलाई है, जिनसे उसका सीधा सम्बन्ध है अथवा जिनका उसे पर्याप्त और सच्चा अनुभव है। अमृतराय के अनुसार इस प्रकार की ईमानदारी ही प्रगतिशील साहित्य का सर्वस्व है। जिन्हें मजदूर किसान की दशा का यथार्थ ज्ञान नहीं, उन्हें उन पर कदापि न लिखना चाहिए। ऐसे लोगों को उसी वर्ग की समस्याओं पर लिखना चाहिए, जिनका उन्हें सच्चा अनुभव प्राप्त है। अमृतराय ने स्वयं सदा मध्यवित्त वर्ग की समस्याओं को ही अपनी लेखनी का विषय बनाया है। बंग महिला ने अमृतराय की ईमानदारी को उससे भी ४० वर्ष पूर्व निभाया था।

बंग महिला के स्वरचित लेखों में से मुझे 'स्त्रियों की शिक्षा' और 'हमारे देश की स्त्रियों की दशा', ये दो लेख बहुत अच्छे लगे। अनुदित लेखों में 'गृह' शीर्षक लेख अत्याधुनिक विचारों से परिपूर्ण है। लेखिका ने इस लेख के मूल लेखक या लेखिका का नाम तो नहीं दिया; किन्तु यह स्पष्ट है कि यह लेख किसी बंगला लेखक की ही रचना है, क्योंकि बंग महिला हिन्दी के अतिरिक्त यही एक भाषा जानती थी।

भावात्मक शैली में लिखा गया यह अनूदित लेख स्त्रियों को उनके जन्मजात अधिकारों के लिए संघर्ष करने की सबल प्रेरणा देता है। इन अधिकारों में से अधिकांश तो तत्कालीन समाज से परिचित थे; किन्तु एक ऐसा अधिकार मांगा गया है, जो शायद सन् ४७ के बाद की ही उपज है। वह है कन्या का पिता की सम्पत्ति में भाई के समान अधिकार। मैं कह नहीं सकता कि बंग साहित्य के लिए यह विचार कुछ नया था या नहीं; किन्तु हिन्दी के लिए तो निश्चय ही यह एक अभिनव विचार था। भारतीय परम्परा में सदा से ही स्त्री को सम्पत्ति का एक अंग मात्र माना गया है। ऐसी हालत में सम्पत्ति का एक अंग कदापि अपने स्वामी की सम्पत्ति के किसी भी भाग का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार के विचारों का स्वागत करने वाली महिला आज के संसार में अवश्य ही सम्माननीय होनी चाहिए।

बंग महिला को उस युग में और उन परिस्थितियों में अपने अधिकारों का ज्ञान था, जिस युग में और जिन परिस्थितियों में इस प्रकार का ज्ञान महापाप से भी बढ़कर था। उसे स्त्रियों की दीन-हीन दशा का अत्यन्त दुःख है; किन्तु इसका कारण उसने नारी को ही ठहराया है। नारी को अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं, बल्कि उसने कभी अपने अधिकारों के सम्बन्ध में सोचा ही नहीं। पर्दे की प्रथा नारी जीवन का महाभिशाप है, यही उसकी शिक्षा में भी बाधक होता है। लेखिका कहती है - ''पर्देवाली स्त्रियों को कदापि स्वाधीनता नहीं मिल सकती। इसी कारण उन्हें शिक्षा भी नहीं मिलती।'' यदि पर्दे की प्रथा न हो, तो स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक हो सकता है। इसका

सबसे बड़ा प्रमाण 'पारसी' और 'ब्रह्मसमाजी' महिलाएँ हैं।

'हमारे देश की स्त्रियों की दशा' पर विचार करते हुए लेखिका को भारतीय नारी की पराधीनता असह्य है। वह विदेशी नारियों की भांति अपने देश की नारी को भी 'पत्यन्तर करने में स्वाधीन' देखना चाहती है। वह कहती है – "भारत की स्त्रियाँ जो पति के साथ सभ्य स्त्रियों की भाँति व्यवहार नहीं कर सकतीं, उसके भी कई कारण हैं। सभ्य देश की स्त्रियाँ विद्या में, बुद्धि में, उम्र में, स्वाधीनता में, खाने में, पहनने में, घूमने-फिरने में यहाँ तक कि पत्यन्तर ग्रहण करने में भी पति की बराबरी कर सकती हैं। ......"

बंग महिला के अनुसार यह शिक्षा का ही प्रभाव है कि हिन्दू नारी पति को देवता, पूज्य और न जाने क्या क्या समझती है। भारतीय नारी पति का नाम तक नहीं लेती, लेकिन स्वाभिमानी पाश्चात्य रमणियाँ पति से जरा सी अनबन हो जाने पर विवाह विच्छेद के लिए नालिश कर देती हैं।

क्या हम इन विचारों की आशा एक सामान्य नारी से कर सकते हैं ? क्या ऐसी परिस्थितियों में अन्य कोई महिला इस प्रकार की बातें सोच करती है ? तब, उदाहरण के लिए हिन्दी में बंग महिला औऱ अंग्रेजी में एमिली बाण्टी की तुलनात्मक परीक्षा क्या मेरी धृष्टता थी ?

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में गाँधी के बाद गांधीज्म की अवधारणा एवं विकास

*डॉ. किशन यादव

देश जिस विषम परिस्थिति से गुजर रहा था उसमें नई दिशा का अभाव था। वातावरण में आवेश था लेकिन नई चुनौतियों को स्वीकार करने की क्षमता कहीं खो गई थी। कांग्रेस उदार और उग्र विचारकों में विभक्त होने के कारण अपना प्रभुत्व बनाने में असफल दिख रही थी। ऐसी ही परिस्थितियों के बीच गांधी जी इस देश को मिले। अपने जीवन में आध्यात्मिक, नैतिक और दार्शनिक तत्वों को समाहित करके उनका व्यवहारिक पक्ष उन्होंने विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। गाँधी जी का आगमन एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के समान सफल सिद्ध हुआ। भारतीयों के मन के भय की काली छाया दूर हो गई है। निर्भयता का मंत्र लेकर भारतीय समाज जागृत हो गया। उन्होंने हिंसा को अहिंसा, घृणा को प्रेम, भय को अभय तथा बैर को प्रेम से जीता। जिन सिद्धान्तों एवं पवित्र साधनों के माध्यम से गांधी जी ने समग्र मानवता की सेवा की है, उनका यथोचित अध्ययन करना हमारे लिये उपयोगी ही नहीं वरन् आवश्यक भी है।

इस समय पश्चिमी सभ्यता के विघटन की प्रक्रिया चल रही है और एक नई सभ्यता का चुपचाप उदय हो रहा है। इस नई सभ्यता के लक्षण वही हैं जिनकी कल्पना गांधी जी ने की थी।

गांधी जी ने पश्चिमी सभ्यता का विरोध मुख्यतया इन कारणों से किया था :

(१) **पश्चिमी सभ्यता के हिंसात्मक साधन** - जिसके विकल्प के रूप में उन्होंने अहिंसात्मक साधनों जैसे, सत्याग्रह, असहयोग, सविनय अवज्ञा और 'करो या मरो' के द्वारा मानव-जाति को युद्धों से निजात दिलाने का विचार रखा;

(२) **पश्चिमी सभ्यता की विकास की कल्पना** - जिसमें प्रकृति का विनाश निहित है, जिसमें बड़े-बड़े कारखानों के उत्पादन से कुछ लोगों को समृद्धि तथा अधिकांश लोगों को निर्धनता मिलती है और जिसमें मनुष्य की सृजन शक्ति का क्षय होता है। इसके विकल्प में उन्होंने हाथ के श्रम और ग्राम एवं कुटीर उद्योगों पर जोर दिया;

(३) **पश्चिमी सभ्यता की आर्थिक कल्पना** - जिसमें बाजार के लिये किये गये उत्पादन को ही उत्पादन माना जाता है। गांधी जी ने स्वावलंबन और आत्मनिर्भर गांव की कल्पना रखकर यह विचार दिया कि अपने लिये किया गया उत्पादन ही उत्पादन है और इस उत्पादन को शामिल किये बिना राष्ट्रीय आय की कल्पना गलत है। उन्होंने सतत बढ़ती जरूरतों और उपभोग को सभ्यता का मापदंड मानने से इनकार किया और जरूरतों को कम करने तथा सादगी का जीवन बिताने पर जोर दिया;

(४) **पश्चिमी सभ्यता की शक्ति की धारणा** - जिसमें शस्त्र-बल को ही बल माना जाता है तथा जिसमें शक्तिशाली को ही जिंदा रहने का अधिकारी माना जाता है। इसके विकल्प में उन्होंने निर्बल के जिंदा रहने के

* रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी (उ. प्र.)

अधिकार को प्राथमिकता दी और अहिंसात्मक हथियारों से निर्बल की निर्बलता को महान शक्ति में बदल दिया;

(५) पश्चिमी सभ्यता की केन्द्र-अभिमुख लोकतांत्रिक व्यवस्था -

जिसके स्थान पर उन्होंने जन-अभिमुख लोकतंत्र की कल्पना रखी और राजकीय प्रयासों से अधिक जनता के सामूहिक रचनात्मक प्रयासों को अधिक महत्व दिया। उन्होंने उच्च वर्गों की समृद्धि को राष्ट्रीय समृद्धि का पैमाना न मानकर सबके नीचे की जनता की समृद्धि को राष्ट्रीय समृद्धि का पैमाना बनाया।

रूटलिज, लंदन-न्यूयार्क से छपी पॉल एकिन्स की पुस्तक 'ए न्यू वर्ल्ड ऑर्डर' में इस नई उभरती विश्व-सभ्यता का चित्र प्रस्तुत किया गया है। पॉल एकिन्स के अनुसार विश्व इस समय चार संकटों से घिरा हुआ है : (१) महाविनाश के हथियार और सैनिक खर्च, (२) लगभग २० प्रतिशत आबादी के सामने भुखमरी की समस्या, (३) पर्यावरण का प्रदूषण जिसने मानव-जाति के अस्तित्व के लिये खतरा पैदा कर दिया है, (४) मानव की स्वतंत्रता का दमन और मानव-अधिकारों का हनन।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने कुछ समय पहले विश्व के उभरते संकटों का अध्ययन करने के लिये तीन आयोग गठित किये थे। पाल्मे आयोग को परमाणु हथियारों के खतरे का अध्ययन करने और परमाणु निःशस्त्रीकरण के संबंध में रिपोर्ट देने को कहा गया। बिली ब्रांट आयोग को विकास की विसंगतियों का अध्ययन करने और निर्धन तथा समृद्ध देशों के आपसी संबंधों और उसके निवारण के उपायों का पता लगाने का दायित्व सौंपा गया। इन तीनों आयोगों की रिपोर्टों से विश्व के वर्तमान संकट पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

तीनों आयोगों ने विश्व के संकट को पहचाना तो सही किंतु वे इसका समाधान खोजने में असमर्थ रहे। पाल्मे रिपोर्ट ने केवल इतना ही किया कि परमाणु अस्त्रों के शोध तथा निर्माण की गतिविधियां परमाणु शक्ति-सम्पन्न देशों में ही सीमित रहें और अन्य देशों में न फैलें। यह एक प्रकार से सारी दुनिया के देशों के परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के रहम पर जीने की सलाह देना था। विश्व को परमाणु हथियारों के आतंक से मुक्त करने की दिशा में इस आयोग का योगदान नगण्य है।

बिली ब्रांट आयोग ने विश्व की गरीबी के निवारण के लिये जो कार्यक्रम दिया उसने समृद्ध देशों द्वारा निर्धन देशों के शोषण की प्रक्रिया को और तेज कर दिया। उसने लूट और शोषण को उत्तर-दक्षिण संबंधों के उज्जवल पक्ष के रूप में देखा और फतवा दिया : 'उत्तर को दक्षिण की खुशहाली में अधिक योगदान करना चाहिये, केवल न्याय के आधार पर ही नहीं इसलिये भी कि दक्षिण की समृद्धि उत्तर के हित में है क्योंकि इससे उत्तरी देशों से आयात की मांग बढ़ती है।'

किन्तु उत्तरी देशों को दक्षिणी देशों के आयात से ही फायदा नहीं हुआ, उनके निर्यात से भी फायदा हुआ। अपना कर्ज चुकाने के लिये उत्सुक दक्षिण देशों ने अपने कच्चे माल या रोजमर्रा की उपभोग की वस्तुओं को बेहद सस्ते दामों में उत्तरी देशों को भेजना शुरू कर दिया। अब गैट समझौते ने इसके लिये सारे दरवाजे खोल दिये हैं। विश्व बाजार व्यवस्था के नाम पर गरीब देशों को सब्जबाग दिखाया गया है कि उनका माल समृद्ध देशों के बाजार में बेरोकटोक जा सकेगा। इसका मतलब है कि गरीब देश अपनी जनता को भूखा-नंगा रखकर समृद्ध देशों को लगभग मुफ्त में अपना माल उपलब्ध करायेंगे। समृद्ध देशों में इस

समय रोजमर्रा की चीजें बेहद सस्ती हैं। इसका कारण है कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विकासशील देशों को निर्यात-उन्मुख नीतियां अपनाने के निर्देश दिये जिससे इन देशों से इतना निर्यात होने लगा कि कीमतें बहुत गिर गईं। एक अनुमान के अनुसार इस समय विकसित देश विकासशील देशों का कच्चा माल, खाद्य पदार्थ आदि इतने सस्ते दामों में प्राप्त कर रहे हैं जितने सस्ते दामों में वे औपनिवेशिक काल में भी प्राप्त नहीं करते थे और उसमें उन्हें औपनिवेशिक शासन चलाने का खर्च भी नहीं करना पड़ता।

इस प्रकार ब्रांट आयोग और अब गैट समझौते की व्यवस्था ने निर्धन देशों के धन को समृद्ध देशों की ओर प्रवाहित होने की पक्की व्यवस्था कर दी है और निर्धन देशों की भुखमरी की प्रक्रिया को और तीव्र कर दिया है।

ब्रुंडलैंड आयोग ने पर्यावरण पर जो रिपोर्ट दी उसमें धनी देशों के अत्यधिक उपभोग तथा विलास की जीवन-शैली को जहां पर्यावरण के विनाश का कारण बताया वहां निर्धन देशों की गरीबी को भी जो धनी देशों द्वारा शोषण का परिणाम है, पर्यावरण विनाश का कारण बताया गया और कहा गया कि वे अपने अस्तित्व की लड़ाई में पर्यावरण का विनाश करते हैं। इसकी रोकथाम के लिये उसी विकास की प्रक्रिया को तेज करने का सुझाव दिया जिसके कारण निर्धन देशों की बहुसंख्यक जनता की गरीबी और भुखमरी बढ़ती रही है। आयोग का सुझाव था कि विकासशील देशों के उत्पाद के लिये मुक्त बाजार उपलब्ध कराया जाये, उन्हें कम ब्याज-दरों पर कर्ज दिये जायें तथा उन्नत देशों की टेक्नोलॉजी के लिये आर्थिक सहायता उपलब्ध कराई जाये। 'दि न्यू वर्ल्ड आर्डर' के लेखक ने उत्तर-दक्षिण की परस्पर निर्भरता के नाम पर कर्ज और मदद के रूप में चल रहे शोषण की वास्तविकता का उद्घाटन करते हुये लिखा :

'तीसरी दुनिया के इलीट वर्गों ने, जिन्होंने ये कर्जे लिये, अपने देशों की गरीब जनता पर जोर डाला कि वे इन कर्जों की वापसी के लिये अपने प्राकृतिक संसाधनों को लुटायें, भूमि को निर्यात फसलों के लिये उपलब्ध करायें या अपनी सामाजिक सुरक्षा की सुविधाओं में कटौती करें। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक आदि संस्थाओं ने इन नीतियों को अपनाने के लिये इन देशों के इलीट वर्गों को बाध्य किया। ...... इस प्रकार परस्पर निर्भरता के नाम पर शोषण का एक अद्भुत उदाहरण सामने जो प्राकृतिक न्याय और बैंकिंग की नैतिकता के बिल्कुल खिलाफ था। साहूकारों और कर्ज लेने वालों ने मिलकर उस तीसरे पक्ष (गरीब जनता) को लूटा जिसका कर्ज लेने में कोई हाथ न था और जो दोनों की तुलना में बहुत गरीब थी। .. ... कोई संदेह नहीं कि 'शुभचिन्तक' कर्ज और मदद को निरंतर बढ़ाते जाने की सलाह देते हैं।'

गंदे धन के इस खेल का एक वीभत्स पहलू यह है कि माल-ए-मुफ्त दिल-ए-बेरहम की कहावत के अनुसार यह धन गंदे कामों में ही अधिकतर खर्च हो रहा है। इसने नशीली वस्तुओं, हथियारों, सोने आदि की तस्करी को बढ़ाया और बोफोर्स तथा प्रतिभूति घोटाले जैसे कांडों को प्रोत्साहन दिया। बड़े पैमाने के भ्रष्टाचार के कांडों से जापान की दो सरकारें गिर चुकी हैं। इंग्लैंड की टोनी सरकार गत वर्ष बाल-बाल बची थी। भारत में राजीव सरकार गिर चुकी है और राव सरकार भी इस प्रक्रिया से गुजर चुकी है।

पॉल एकिन्स ने अपनी पुस्तक के निष्कर्ष के रूप में विश्व के वर्तमान संकट को विज्ञानवाद, विकासवाद और राज्यवाद की उपज सिद्ध किया है और इन बुराइयों के खिलाफ विश्व भर में चल रहे आंदोलनों का विवरण प्रस्तुत किया है। इन आंदोलनों के प्रमुख स्वर गांधी के स्वर हैं। उनका

एक स्वर है विकास की उस कल्पना का विरोध जो औद्योगिक क्रांति और विज्ञान के अविष्कारों की खोज के बल पर गत दो सौ वर्षों से सारी दुनिया पर लादा गया है और जिसका गांधी जी ने सदी के शुरू में ही 'हिंद स्वराज' लिखकर विरोध किया था।

औद्योगिक क्रांति के शुरू के दिनों से लेकर ही इस अर्थव्यवस्था ने मानव जाति को तीन भागों में देखा : (१) वे जो इस व्यवस्था से लाभान्वित होते हैं जैसे उद्योगपति, इलीट वर्ग के कर्मचारी, पेशेवर मध्य वर्ग : (२) जो इस व्यवस्था पर निर्भर करते हैं; और (३) जो इसकी जरूरतों के तहत फालतू माने जाते हैं अर्थात् जो इसके द्वारा विस्थापित और बर्बाद होते हैं।

बेकन के समय से ही विज्ञान का लक्ष्य ऐसा ज्ञान रहा जिसे वर्चस्व के लिये और प्रकृति पर नियंत्रण हासिल करने के लिये इस्तेमाल किया जा सकता है। आधुनिक विज्ञान का उपयोग मनुष्यों पर और प्रकृति पर वर्चस्व प्राप्त करने के लिये किया गया है। इसे विश्व को जानने-समझने का एकमात्र वैध मार्ग बताने का मतलब है मानव सृजनशीलता, अंतर्दृष्टि और अव्यक्त तथा पारंपरिक ज्ञान के अस्तित्व को नकारना। संक्षेप में यह बहुसंख्यक मानवजाति के विचारों, अनुभवों और संचित ज्ञान का अवमूल्यन करता है, स्वास्थ्य चिकित्सा, शिक्षा और कृषि की देशी प्रणालियों का तिरस्कार करता है और बहुसंख्यक मानव-जाति ने विश्व को जानने-समझने तथा उसमें अपना स्थान निर्धारित करने के लिये जो प्रयास किये है उन पर हमला करता है। विलिस हर्मन ने पश्चिमी विज्ञान की उपलब्धियों को स्वीकार करते हुये उसके परे देखने की आवश्यकता पर जोर देते हुये कहा है : 'ऐसे ज्ञान के आधार पर अच्छे समाज का निर्माण असंभव है जो मूलतः अपर्याप्त है, गंभीर रूप से अधूरा है और जिसकी धारणायें मूल रूप से गलत हैं। तथापि आधुनिक विश्व यही करने का प्रयास कर रहा है।

इस विज्ञान ने जिस विकास को आदर्श माना उसे औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण, उपभोगवाद, वृद्धि आदि संकल्पनाओं से जाना जाता है। इसे मुद्रा के आंकड़ों से मापा जाता है। उपभोग और संचय को यह सब देशों के लिये मुख्य सामाजिक उद्देश्य बनाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये दो रणनीतियां अपनाई जाती हैं जो एक-दूसरे की पूरक हैं। उपभोगवाद का प्रलोभन और उसके माध्यम से गढ़ी जाने वाली कुल मांग की प्रणाली। प्राचीन सांस्कृतिक आदर्श और मूल्य उपभोगवादी समाज की छवियों और शिल्प-वस्तुओं के भार से चकनाचूर हो जाती है। जिन लोगों को इस व्यवस्था से लाभान्वित होने की कोई संभावना नहीं होती बल्कि जिन्हें हर हालत में नुकसान भी होता है, (जैसे इसके द्वारा फालतू बनाये लोग) वे भी इसके मोह में फंस जाते हैं।

विकास की इस कल्पना में प्रतियोगिता का बहुत ऊँचा मूल्य माना जाता है। किन्तु प्रतियोगिता वहीं सफल हो सकती है जहाँ मुद्रा-विनिमय के लिये उत्पादित वस्तुओं की मूल्य प्रणाली वाला बाजार हो। जहाँ संसाधन समाज द्वारा नियंत्रित हो और उत्पादन अपने लिये मुख्यतया किया जाता हो (जैसा कि सभी प्राचीन समाजों में होता था) वहाँ प्रतियोगिता व्यर्थ सिद्ध होती है।

विकास की इस कल्पना को साकार करने के लिये सर्वशक्तिमान राज्य सत्ता की आवश्यकता होती है जो इसकी गतिविधियों, मुद्रा और बाजार को, लाभान्वित होने वाले वर्गों के हित नियंत्रित करे और जो इसके आड़े आये या इसकी दृष्टि से फालतू हो उनका अपने हथियारी बल से दमन कर सके। प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्र राज्यों में जो अधिकतर दूसरे विश्वयुद्ध की निर्मिति है, राज्य की परमसता

चंद राजनेताओं और नौकरशाहों के हाथ में सीमित होती है और लोकतंत्र के नाम पर एक वे बदनाम तानाशाहों से भी भयानक अत्याचार अपनी जनता पर ढा सकते हैं। राज्य का यह दमनकारी स्वरूप लोकशक्ति के जागरण से भयभीत रहता है अतः वह सही लोकतंत्र को लाने से अर्थात् राज्य की शक्ति सीधे जनता के हाथ में देने से डरता है।

इस प्रकार नई उभर रही विश्व-व्यवस्था में विज्ञानवाद, विकासवाद और राज्यवाद के विरूद्ध मौन और अहिंसात्मक युद्ध के स्वर सुनाई दे रहे हैं। इसमें पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता को चुनौती दी जा रही है और रहन-सहन की शैलियों के वैविध्य पर जोर दिया जा रहा है। इसमें प्रकृति के साथ साहचर्य की पर्यावरणवादी दृष्टि विकसित हो रही है। इसमें मनुष्य की व्यवस्था तथा टेक्नोलाजी की दासता से मुक्त कराने का प्रयास निहित है। इसमें राजशक्ति के स्थान पर लोकशक्ति को जगाने का स्वर है और सभी प्रकार के हिंसात्मक हथियारों के स्थान पर सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आदि के अहिंसात्मक हथियारों के उपयोग का आग्रह है। कुल मिलाकर इसमें गांधी का स्वर मुखरित हो रहा है। विश्व को आतंकवाद युद्ध हिंसा से दूर रखकर विश्व शांति की स्थापना के लिये आज गांधी जी का चिंतन अति आवश्यक हो गया है।

स्मृति के झरोखों से/धरोहर

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शहीद-ए-आजम भगत सिंह के क्रांतिकारी विचारों की उपादेयता

*डॉ. दिवस कांत समाधिया

"अंग्रेजों की जड़ें हिल चुकी हैं। वे पन्द्रह साल में चले जायेंगे, समझौता हो जायेगा पर उससे जनता को कोई लाभ नहीं होगा। काफी साल अफरा तफरी में बीतेंगे। उसके बाद लोगों को मेरी याद आयेगी।"

– फांसी से कुछ दिन पहले, भगत सिंह के वचन[१]

इन उदगारों का अगर बारीकी से विश्लेषण किया जाये तो भगत सिंह को अपने आत्मविश्वास व संगठन की एकता पर गहरी आस्था थी। उन्होंने देश की आवाम को इस बात का अहसास करने पर विवश किया कि केवल क्रान्ति अभी के लिये आवश्यक नहीं बल्कि इसकी अपरिहार्यता तो प्रत्येक काल में बनी रहेगी क्योंकि जैसा कि कार्ल जे. फ्रेडरिक ने Encyclopaedia Britanica में कहा है –

"क्रान्ति स्थापित राजनैतिक व्यवस्था को चुनौती और अन्ततः पुरानी व्यवस्था से पूरी तरह भिन्न नई व्यवस्था की स्थापना है।"[२]

इसी संकल्पना के परिवेश में यह संश्लेषित किया जा सकता है कि किसी भी देश, काल परिस्थिति में तात्कालिक समस्याएं (कारण) बदलती रहती हैं किन्तु उनका निदान व सुधार क्रान्ति के द्वारा ही लाया जा सकता है। इस तरह की क्रान्तियां भौतिक स्तर पर कम पर मानसिक स्तर पर अधिक उद्वेलित करती हैं।

चाहे आज हम २१वीं सदी के भारत के उद्धार की बात करें या ६१ साल पुराने उस भारत की बात करें जब हम आजादी के लिये तड़प रहे थे। परिस्थितियों में क्या कोई भारी अंतर समझ में आता है ? नहीं क्योंकि पहले हमें विदेशी सत्ता और उसकी नीतियों से लड़ना था; और आज स्वयं के अपने लोगों से लड़ना है। पहले हमारा शत्रु स्पष्टतः दिखाई देता था वहीं दूसरी ओर आज वो हमारे बीच का ही है जिसको पहचान पाना अत्यन्त दुष्कर है।

भगत सिंह के क्रान्तिकारी विचारों की प्रासंगिकता आज भी सोलह आने सार्थक बनी हुई है क्योंकि जब पुरानी व्यवस्थायें अपने शिखर को प्राप्त कर लेती हैं तो उनमें ढलान का आना प्रारम्भ होना आवश्यक है और वहीं से उसकी बुराइयां दिखना शुरू होती हैं तभी उनमें परिवर्तन करके नये रूप व नई स्थिति में सोच का विकास करना होता है।

जिस तरह से गांधीवाद अमर व हर काल व परिस्थिति में प्रासंगिक है जैसा कि बालीवुड की फिल्म 'लगे रहो मुन्नाभाई' में दिखता है उसी तरह से भगत सिंह के क्रान्तिकारी दर्शन की उपादेयता सदैव बनी रहती है।

सरदार भगत सिंह के विषय में श्री भगवान दास माहौर लिखते हैं –

"क्रान्ति प्रयास के इस विकास मार्ग में भगत सिंह एक ऐसे व्यक्ति थे जिसे अंग्रेजी में मोड़ सूचक पाषाण चिन्ह कहा जाता है। समय और समाज की आवश्यकताओं ने भगत सिंह को ही माध्यम बनाकर उत्तर भारत के संगठित गुप्त

* प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र, राजकीय महाविद्यालय, समथर (झाँसी)

सशस्त्र क्रान्तिकारियों को समाजवाद की ओर उन्मुख कर दिया तथा क्रान्तिकारी कार्यकलाप को धार्मिक मनोभूमि से ऊपर उठाया। उत्तर भारत का गुप्त क्रान्तिकारी प्रयास तब तक इटली के मेजिनी गैरीबाल्डी और आयरलैण्ड के सिनफिन के मध्यवर्गीय नेताओं के आदर्श से अनुप्राणित था और भगत सिंह के माध्यम से ही उसने ऐसी क्रान्ति और लेनिन, स्टालिन के समाजवादी आदर्शों के प्रभाव को ग्रहण किया। भगत सिंह के ही माध्यम से 'भारत माता की जय' और 'वन्देमातरम्' मंत्रों के स्थान ये भारतीय गुप्त, सशस्त्र क्रान्तिकारी प्रयास ने 'क्रान्ति चिरंजीवी हो', 'इंकलाब जिन्दाबाद' और 'साम्राज्यवाद का नाश हो' आदि नारे दिये।[3]

स्वतंत्रता संघर्ष के उस शताब्दी के दौरान हुये वैचारिक उद्वेलन को एक उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है जो कि दो रूपों उदारवादी व क्रान्तिकारी के रूप में दिखती है।

'गैस पर रखा हुआ दूध भरा हुआ एक लोहे का पात्र। जब उसके नीचे देश की परिस्थितियों व सत्ता की नीतियों की विरोधी रूपी आग लगाई जाती है तो पहली स्थिति में उस दूध में गर्माहट आती है जिसका आभास केवल देखकर नहीं किया जा सकता बल्कि उसको स्पर्श करना होता है यानि कि इस आभास को जानने के लिये बाह्य प्रयास का संलग्न होना आवश्यक होता है यही उदारवादी विचार थे जिसमें ऊष्मा तो थी लेकिन वह अंग्रेजों की इच्छा पर निर्भर करती थी कि वह उसे छूकर महसूस करे या नहीं।

वहीं दूसरी ओर (अगले चरण में) जब यह आग लगातार जलती रहती है तो दूध उबलने लगता है और बर्तन में बाहर गिरकर उसके सम्मुख बैठे किसी भी व्यक्ति को चहका सकता है यह विचारों का क्रान्तिकारी चरण है क्योंकि इसको पता करने के लिये किसी बाह्य प्रयास की आवश्यकता नहीं है अपितु यह स्वयं उभरकर अपनी स्थिति दर्शा रहा है और न केवल दिखा रहा बल्कि वर्तमान सत्ता को चहकाकर यह एहसास भी करा रहा है कि अत्याचारों की उस अग्नि को शान्त करो वर्ना इसी तरह चहका-चहकाकर वर्तमान प्रणाली को नेस्तानाबूद कर देंगे और यही क्रान्तिकारी विचार है।"

शहीद-ए-आजम भगत सिंह के क्रान्तिकारी विचारों की उपादेयता हमेशा बनी रहेगी और इनका सतत् अध्ययन नवयुवकों को आंतरिक रूप से उद्वेलित करता रहेगा ताकि किसी भी समाज की किसी भी जटिल परिस्थिति से निपटने के लिये वे तैयार रहें।

संदर्भ -

१. एस. वर्मा : भगत सिंह की चुनी कृतियां

२. डॉ. शिव भानु गुप्त : समाज दर्शन का सर्वेक्षण, पृ. २२८

३. मन्मथ नाथ गुप्त : भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास, पृ. २२६

स्मृति के झरोखों से/धरोहर

राष्ट्रीय गरिमा के प्रतीक स्वामी विवेकानन्द के दर्शन की प्रांसगकिता

*ज्योति श्रीवास्तव

जब पराधीन भारत विवशतापूर्वक अपना धर्म, अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं अपने आध्यात्मिक बल को खोता जा रहा था, उस समय देश के सामाजिक एवं धार्मिक मंच पर स्वामी विवेकानन्द जैसे युग पुरूष का अभ्युदय हुआ। शोषण, अत्याचार, गरीबी, अशिक्षा जैसी सामाजिक बुराइयों से जूझने का मनोबल स्वामी जी के राजनीतिक दर्शन में पाया जाता है जिसमें विश्व के कई समकालीन मानवतावादी राजनैतिक एवं आध्यात्मिक दर्शनों का सार निहित है।

स्वामी जी ने पाश्चात्य की अंधेरी गलियों में भटकती हुई नई पीढ़ी को प्राच्य के सात्विक वैभव के पास लाकर स्वर्णिम दिशा प्रदान की। विश्व मानव स्वामी विवेकानन्द ने जगत को स्वाभिमान और संस्कृति का पाठ पढ़ाया, वहीं दूसरी ओर आदर्श जीवन दर्शन को अपनाने की सीख भी दी जिससे मानव के नव निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो।

स्वामी विवेकानन्द के राजनीतिक विचार उनके धार्मिक एवं सामाजिक विचारों के ही सहगामी हैं। स्वामी जी का विश्वास था कि आर्थिक समृद्धि से भारत स्वयं राजनीतिक स्वतंत्रता का उद्देश्य पूरा कर सकेगा। यही कारण था कि उन्होंने समाजवादी विचारधारा का ही अवलम्बन किया। जबकि अधिकारवाद के विरोध के साथ सामाजिक एवं आर्थिक समानता स्थापित करने पर बल दिया। स्वामी जी ने भारत में राष्ट्रवाद का आधार आध्यात्मिक चेतना को माना। ऐसे समय में जबकि भारत में राजनीतिक उदासीनता एवं निराशा ने भारत वासियों को अकर्मण्य बना दिया था, उन्होंने सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का दर्शन देकर कर्म, सेवा एवं त्याग पर आधारित राष्ट्रीयता की नई परिभाषा प्रस्तुत की।

स्वामी जी के राष्ट्रवाद का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र के खोये हुये गौरव को पुनः स्थापित करना था। इसी दिशा में स्वामी जी ने राष्ट्रवासियों का अपने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव के प्रति जागरूकता का आह्वान किया। इस उद्देश्य की प्राप्ति में आने वाली मानवीय एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान किसी राजदर्शन से संभव न होकर बल्कि व्यक्ति के प्रयास द्वारा ही सम्भव होना बताया है।

स्वामी जी ने विशेषकर युवाओं को कर्म योग के मार्ग पर चलने का आह्वान किया - उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति के बिना रूको मत। यहाँ स्वामी जी का तात्पर्य पवित्र लक्ष्य को प्राप्त करने से है न कि भौतिकतावादी क्षण भंगुर सफलताओं से है।

स्वामी जी ने अपने दर्शन में नारी को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने नारी उत्थान की दिशा में नारी अशिक्षा, बाल विवाह, विधवा पुर्न विवाह निषेध आदि कुप्रथाओं पर कुठाराघात किया तथा समाज की इन बुराइयों के विरूद्ध खड़ा होने पर विशेष बल दिया। स्वामी जी ने मानवता तथा दरिद्र नारायण की सेवा को ही सर्वोपरि धर्म बताया है। स्वामी जी ने कहा था, "जिन देवी देवताओं को

* व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग, कैलाशी देवी श्रवण कुमारी महाविद्यालय, जालौन (उ. प्र.)

हम देख नहीं सकते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ते रहते हैं और जिस विराट देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं उनकी पूजा ही नहीं करते हैं। सबसे पहले जिसे हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा करनी चाहिये, ये मनुष्य और पशु जिन्हें हम आस-पास और आगे-पीछे देख रहे हैं, ये ही हमारे ईश्वर हैं।"

वर्तमान उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के दौर में सांस्कृतिक परम्परायें लुप्त होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में स्वामी जी के क्रांतिकारी विचार राजनैतिक दर्शन, राष्ट्रीय गरिमामयी संस्कृति को सुरक्षित करने में समर्थ है। निःसंदेह स्वामी जी के दर्शन के अनुसरण की वर्तमान समय में सर्वथा प्रांसगिकता हो गई है।

इस्लाम हर एक के साथ बराबरी के बर्ताव और न्याय की शिक्षा देता है अल्लाह के रसूल ने बताया कि धर्म एवं आचार-विचार में किसी पर जोर या जबरदस्ती न हो, इन्सान की आजादी पर कोई बंदिश न लगाई जाये अर्थात धर्म अपनाने के लिये हर एक को पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिये। कुरान शरीफ में यह बताया गया है अगर मुशरिक लोगों में से कोई आपसे सहायता माँगे या आपकी शरण में आना चाहे आप उनको अपने पास हिफाजत से जगह दीजिये और उसे उसकी पसंद की जगह जहाँ वह निडर होकर रह सके पहुँचा दीजिये। (सूरः तौबा आयत-६) स्पष्ट है कि इस्लाम कहीं भी जोर या जबरदस्ती की हिमायत नहीं करता। डर, लालच और धौंस से किसी के दिल या विचार बदले नहीं जा सकते, नबी स. की यह शिक्षा कि 'पड़ोस का यदि कोई भूखा है, मजलूम, बीमार या किसी की मदद का मोहताज है तो बढ़कर उसकी मदद करो। उस समय यह नहीं देखना है कि यह व्यक्ति अपने धर्म का है या नहीं बल्कि यह देखना है कि वह एक आदमी है एक इन्सान है और किसी इन्सान की मदद करना हर नेकी से ज्यादा बड़ी नेकी है। इस प्रकार इस्लाम इन्सान के अन्दर यह विश्वास पैदा करता है कि सभी इन्सान खुदा (अल्लाह) के बन्दे हैं जिन्हें मिलजुलकर भाईचारे और सौहार्द से रहना चाहिये। इन्सानों के बीच भाषा, वर्ण, क्षेत्र, राष्ट्र की जो भिन्नता पाई जाती है उसकी कोई वास्तविकता नहीं बल्कि ये कुछ क्षुद्र मानसिकता एवं छोटे-छोटे कारणों से उत्पन्न होती एवं कराई जाती है।

मानव प्रेम, सहानुभूति, श्रद्धा एवं विश्वास, परोपकार एवं सामाजिक समानता आदि महत्वपूर्ण तत्व हैं जो इस्लाम (मुस्लिम) धर्म से मूलरूप से जुड़े हैं। अर्थात संसार के विभिन्न संघर्षरत राष्ट्रों के एवं समूहों को केवल इसी आधार पर जोड़ा जा सकता है। इस्लाम धर्म के इस मानवतावादी एवं बसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सकारात्मक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। इन्हीं बिन्दुओं को दृष्टिगत रखते हुये इस्लाम धर्म के प्रति फैली भ्रान्तियाँ एवं धर्मगुरूओं द्वारा की गई गलत व्याख्या को उजागर करने की आवश्यकता आज सिद्दत के साथ महसूस की जा रही है। विद्वतजनों से अपेक्षा है कि वह इस विषय पर अपने अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर शोधपूर्ण आलेख भेजकर सहयोग प्रदान करें।

अध्यात्म एवं दर्शन

इक्कीसवीं सदी में संस्कृत वाङ्मय से अपेक्षायें एवं चुनौतियाँ

*डॉ. अनिल कुमार सिन्हा

उक्त विषय पर विचार करने से पूर्व सर्वप्रथम यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'संस्कृत' क्या है ? क्या यह अन्य भाषाओं की भांति केवल एक भाषा है ? या इसका कोई वैशिष्ट्य है। इस सन्दर्भ में यह कहना समीचीन होगा कि शरीर में जो स्थिति आत्मा की है वही स्थिति भाषाओं में संस्कृत की है। 'आत्मा यथा शरीरेषु तथा भाषासु संस्कृतम्'। यहाँ यह ध्यातव्य है कि संस्कृत हम उस भाषा को कहते हैं जो परिष्कृत एवं परिमार्जित है - 'सम्यक् कृतं परिष्कृतं इति संस्कृतम्'। जब भारत की संस्कृति का जन्म हुआ और मानव वाचाल हुआ। उसने भाषा सीखी। बोलने के यन्त्र और तन्त्र उसके पास आये। उसकी वाणी और प्रखर हुई। नाना क्षेत्रों में नाना वाणियों का जन्म हुआ। नई-नई भाषायें निकलीं तथा भाषा का जो परिमार्जित रूप सामने आया वह 'संस्कृत' है। 'संस्कृत' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है जिसका मौलिक अर्थ है 'संस्कार की नई भाषा'। वस्तुतः अनेक संस्कारों के भावों को अन्तर्निहित किये हुये यह शब्द संस्कृति का भी बोध कराता है और भाषा के रूप में सदैव से ही परिमार्जित एवं शिष्ट भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करता है।

भारतीय मनीषा का समस्त चिन्तन, मनन, गवेषण तथा लौकिक-अलौकिक समग्र अनुभूति इसी संस्कृत वाङ्मय में समाहित हैं। यह विश्व की समस्त परिष्कृत भाषाओं में प्राचीनतम है। विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद् इसी वाङ्मय में उपनिबद्ध है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। जीवन से सम्बद्ध प्रत्येक पहलू की इसमें चर्चा है। यदि हमें अपने पूर्वजों के जीवन व्यवहार एवं उनकी संस्कृति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना है तो वेदों का अध्ययन आवश्यक है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जीवन के समस्त संस्कार वेद विहित हैं। वेद आप्तवचन एवं सर्वज्ञानमय हैं 'सर्वज्ञानमयो हि सः'।[1] जीवन में ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनका सम्यक् बोध हमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता यथा - पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, पुनर्जन्म आदि। उनका बोध वेदों से होता है। अस्तु वेद के विषय में कहा गया है -

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता'

वेदों की भारतीय धर्म में इतनी अधिक प्रतिष्ठा है कि हम ईश्वर विरोध को तो सहन कर सकते हैं किन्तु वेद का आंशिक विरोध भी हमारी दृष्टि में नितान्त असह्य है। 'नास्तिको वेद निन्दकः' से उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। यह अन्य भाषाओं की भाँति केवल भाषा ही नहीं है अपितु यह भारतीय ऋषियों, मनीषियों तथा वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत विशाल ज्ञानराशि का प्रतिनिधित्व करने वाली या उसको सुरक्षित रखने वाली महान भाषा है। इसीलिये अन्य भाषाओं की अपेक्षा इस भाषा का ज्ञान विशेष महत्व रखता है। वेदज्ञ की प्रशंसा में आचार्य मनु की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है -

* रीडर, संस्कृत विभाग, डी. ए. वी. कालेज, कानपुर

'वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयायय कल्पते'[२]

अर्थात् वेदशास्त्र के तत्व को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है वह इसी लोक में रहते हुये भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार षडङ्ग वेद का अध्ययन तथा ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण का सहज कर्म होना चाहिये।

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'[३]

समाज के प्रबुद्ध वर्ग को इस वाङ्मय से अनेक अपेक्षायें हैं क्योंकि जीवन का सार इस वाङ्मय में निहित है। महर्षि वेदव्यास की घोषणा है – 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित' अर्थात् मानव सृष्टि की सर्वोत्तम एवं सुन्दर रचना है। प्रत्येक मनुष्य को सम्यक् जीवन जीने हेतु कतिपय मूल्यों एवं सिद्धान्तों की अपेक्षा होती है। मनीषियों ने मानव जीवन के सर्वांगीण उन्नयन हेतु जिस पुरूषार्थ चतुष्ट्रय की परिकल्पना की है प्रकारान्तर से उन्हीं को हम जीवन मूल्य कह सकते हैं। मूल्य सदैव शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय होते हैं। प्रत्येक संस्कृति शाश्वत मूल्यों पर आश्रित है। चाहे वह हिन्दू संस्कृति हो, बौद्ध, इस्लामिक या ईसाई। इसके बिना परिवार, समाज या राष्ट्र नाम की संस्थाओं में सामंजस्य नहीं आ सकता। हमारे ऋषि मुनियों ने जीवन के किसी भी पक्ष को अछूता नहीं रहने दिया। आशय यह है कि ज्ञान तथा विज्ञान का कोई पक्ष अथवा संग ऐसा नहीं है जो इस भाषा से अछूता छूट गया हो। मनुष्य के प्राप्तव्य चारों लक्ष्यों-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का सुन्दर समन्वित विकास संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है। धर्म और मोक्ष पुरूषार्थों से सम्बद्ध ग्रन्थों से तो सभी सुपरिचित हैं ही किन्तु अर्थ और काम पुरूषार्थों का भी सम्यक् विवेचन इस साहित्य में किया गया है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र और वात्स्यायन का 'कामसूत्र' अपने-अपने क्षेत्र में अपूर्व ग्रन्थ तो हैं ही साथ ही तत्सम्बद्ध ग्रन्थों की एक सम्पूर्ण परम्परा के भी पोषक तथा जनक हैं। गणित, विज्ञान, ज्योतिष आदि के विभिन्न प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में प्रस्तुत किये गये सिद्धान्तों की वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता को आज सारा संसार स्वीकार कर चुका है। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य जीवन के केवल आध्यात्मिक पक्ष का ही चित्रण नहीं करता अपितु लौकिक अथवा भौतिक पक्ष को भी समान रूप से चित्रित करता है। संस्कृत वाङ्मय में सत्यं शिवं एवं सुन्दरं का अद्भुत सामंजस्य उपलब्ध होता है। महाभारत के आदिपर्व में तो स्पष्टरूप से यह उद्घोषणा की गई है –

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'[४]

अर्थात् जो इसमें है वही अन्यत्र है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं हैं। वर्तमान काल में मानव के सम्मुख सबसे बड़ा संकट नैतिकता के लोप का है। समग्र विश्व में सर्वत्र नैतिक मूल्यों के ह्रास की सी स्थिति उपस्थिति होती जा रही है। संस्कृत वाङ्मय ने सदैव ही आदर्शवाद, आध्यात्मिकता एवं उच्च नैतिकता का जो मानदण्ड प्रस्तुत किया है वह आज की संकटापन्न स्थिति में भी परम उपयोगी है। जिन सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के द्वारा भारत को जगद्गुरू की उपाधि से विभूषित किया गया था, वे सिद्धान्त एवं मान्यताएं इसी वाङ्मय में निहित हैं। विश्व में भारतवर्ष ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसने मानव मूल्यों को सर्वत्र प्रचारित किया। मनुस्मृति में आचार्य मनु कहते हैं –

'एतद्देश प्रसूतस्य सकाशाद्ग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।[५]

अर्थात् हे विश्व के लोगों ! यदि चरित्र की शिक्षा लेनी है तो इस देश में उत्पन्न अग्रजन्मा ब्राह्मणों से प्राप्त करो। इस वाङ्मय में सब (मनसा,

वाचा कर्मणा) प्रकार की शुचिता पर बहुत बल दिया गया है। यथा -

'वृतं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।'[६]

नीतिशतकम् में भी एक स्थल पर प्रसंग आया है जिसमें शील को समस्त मनुष्यों का आभूषण बताया गया है।

'वचो हि सत्यं पर विभूषणं
लज्जानायाः कृशता कटौ च
द्विजस्य विद्यैव पुनस्तथा क्षमा
शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम्'

तैत्तिरीयोपनिषद् में समावर्तन संस्कार के समय शिष्य को गुरू द्वारा दिया गया उपदेश कितना व्यावहारिक एवं कल्याणकारी है -

'सत्यं वद, धर्मचर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।'[७]

(शीक्षाध्याय प्र.व.)

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि सत्य पर अटल रहना ही जीवन का मुख्य ध्येय होना चाहिये। 'सत्यमेव जयते नानृतम् यतोहि समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतं वदति'[८]

यदि हम वास्तव में अपनी संस्कृति की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें परिवार से प्रारम्भ करना होगा तभी हम समाज और राष्ट्र के प्रति ईमानदार बन सकते हैं। यदि हमारा परिवार टूट गया और 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' तथा 'आचार्यदेवो भव' जैसी मानवीय मूल्यों की परम्परायें नष्ट हो गईं तो भारतीय संस्कृति की जड़ें मुरझा जायेंगी और सामाजिक उन्नयन सम्भव न हो सकेगा। आज समाज विखण्डित हो रहा है। परिवार में स्नेह नहीं रह गया है। समाज का प्रत्येक वर्ग विद्वेष की भावना से ग्रस्त है। लोग अपनी संस्कृति को विस्मृत कर पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हो रहे हैं। आज समग्र विश्व में एकता एवं अखण्डता को सुरक्षित रखने की समस्या उत्पन्न हो गई है। यह तभी अक्षुण्ण रह सकता है जब हम वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित तथ्यों पर ध्यान दें और उस पर अमल करें।

आज विश्व क्षितिज पर भारत की जो प्रतिष्ठा है वह उसकी अपनी संस्कृति तथा उसके मूल में निहित संस्कृत के कारण है। 'भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा'। वेद भारतीय संस्कृति के मूलस्रोत हैं। हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुँचाने वाले ग्रन्थ रत्न हैं। जीवन मूल्यों की जितनी सुन्दर एवं विस्तृत व्याख्या संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होती है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं। मानव जीवन को सुखमय बनाने हेतु तीन मूलभूत बिन्दुओं की अति आवश्यकता है - धर्म, कर्त्तव्य और त्याग। यदि मनुष्य अपना धर्म, कर्त्तव्य और त्याग की भावना अपना ले तो सम्पूर्ण राष्ट्र का कायाकल्प किया जा सकता है। मनुष्य जन्म दुर्लभ है - दुर्लभं मनुष्यत्वम्। मनुष्य योनि में मात्र जन्म लेने से मनुष्य-मनुष्य नहीं बनता अपितु सतत मननशील होने से मनुष्य बनता है। इसीलिये वेद का आदेश है - 'मनुर्भव' अर्थात् मनुष्य बनो। वेद की शिक्षायें सार्वभौम हैं। वैदिक ऋषि प्राणिमात्र के कल्याण की कामना करता है। सामान्यतः जो हमारे सामने होते हैं, हम उन्हीं की मंगलकामना तक सीमित हो जाते हैं। अदृष्ट जीव हमारी पहुँच से बाहर हो जाते हैं, पर अथर्ववेद कहता है -

यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि
अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चितदुःखभाग्भवेत्।।

इस प्रकार की उदात्त भावनायें केवल वैदिक वाङ्मय में ही उपलब्ध होती हैं। यदि आधुनिक समाज भाईचारे की भावना से अनुप्राणित हो तो समाज के विखण्डन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। भारत में नहीं अपितु विश्व में वेदों की महिमा अद्भुत है। वस्तुतः वे केवल धर्मग्रन्थ ही नहीं हैं अपितु उसमें विज्ञान, अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति सभी कुछ है। प्रकारान्तर से इस देश का सर्वस्व वेदों में ही निहित है। इसीलिये यह उक्ति प्रसिद्ध है - 'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'।

आधुनिक युग में विज्ञान की महत्ता है। भौतिक उन्नयन हेतु किये जाने वाले नित्य नवीन आविष्कारों एवं अनुसन्धानों ने कम्प्यूटर को जन्म दिया जिसमें कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सूचनायें भरी जा सकें। वैज्ञानिक सतत एक ऐसी भाषा के अन्वेषण में संलग्न हैं जो कम्प्यूटर में उपादेय हो सके। संस्कृत भाषा का शब्द वर्गीकरण तथा विश्लेषण सभी भाषाओं की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। यही कारण है कि विश्व के वैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सम्प्रेषण की क्षमता के कारण संस्कृत भाषा कम्प्यूटर प्रणाली में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

भारतीय विधिशास्त्र के विभिन्न नियम-उपनियम स्मृति ग्रन्थों पर ही आधृत हैं। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति को ही अधिकांशतया आधार बनाकर वर्तमान भारतीय विधिशास्त्र मान्य हुआ है।

संस्कृत भाषा का साहित्य अत्यन्त विस्तृत एवं समृद्ध है। काव्यादि मनोरंजन के साधन मात्र नही हैं। मानव समाज एवं जीवन के लिये काव्य बहुत उपादेय है। काव्य मनुष्य को रसार्णव में निमग्न करने के अतिरिक्त कान्तासम्मित उपदेश के रूप में मानव जीवन को सुमार्ग की ओर प्रेरित भी करता है। इसीलिये भर्तृहरि ने तो साहित्य - काव्यादि से विहीन व्यक्ति को मनुष्य न मानकर पशु कहा था -

'साहित्यसंगीतकलाविहीनःसाक्षात्पशुःपुच्छविषाणहीनः'। वस्तुतः संस्कृत साहित्य का इतिहास केवल भाषा का ही इतिहास नहीं है वरन् यह साहित्य प्राचीन भारत के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक सभी प्रकार के जीवन का सर्वांगाण चित्रण है।

चुनौतियाँ

१. शासनतन्त्र द्वारा निर्धारित त्रिभाषासूत्र में संस्कृत को स्थान नहीं दिया गया है। फलस्वरूप संस्कृत का जैसा उत्थान अपेक्षित था वैसा नहीं है। रोजगारपरक न होने के कारण आज संस्कृत विषय के प्रति छात्रों का रूझान न के बराबर है। मेरे मतानुसार कम से कम इण्टर तक 'संस्कृत' को एक अनिवार्य विषय के रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाना चाहिये क्योंकि जीवन के समग्र विकास में इस वाङ्मय की महत्वपूर्ण भूमिका है।

२. आज के विशुद्ध वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी युग में व्यावसायिक पाठ्यक्रम का ज्यादा प्रसार है। अन्य भाषाओं की तुलना में संस्कृत के अपेक्षाकृत क्लिष्ट होने के कारण भी विद्यार्थी इस विषय के प्रति उदासीन रहता है।

३. आज प्राचीन समय की भांति शिक्षा देने वाले न तो शिक्षक हैं और न तो उस तरह के जिज्ञासु विद्यार्थी। फलस्वरूप इस भाषा की स्थिति जैसी होनी चाहिये वह नहीं हो पा

रही है।

४. महाविद्यालयों में भी इस विषय के छात्र/छात्राओं की संख्या अपेक्षाकृत अन्य विषयों से कम होती है।

यदि विवेच्य विषय की यही स्थिति रही तो इसमें संशय नहीं कि शिक्षक, शिक्षिकाओं को भी छात्रों के अभाव में परेशानी का सामना करना पड़े।

अंत में यही कहना समीचीन प्रतीत होता है -

यथा क्षेत्रं बिना शस्यं यथा वापी विना जलम्
तथैव भारतं राष्ट्रं विना संस्कृत भारतीं।।

सन्दर्भ

१. द्रष्टव्य - मनुस्मृति २.७
२. द्रष्टव्य - मनुस्मृति १२.१०२
३. द्रष्टव्य - महाभाष्य १.१.१
४. द्रष्टव्य - महाभारत आदिपर्व ६२-५३
५. द्रष्टव्य - मनुस्मृति
६. द्रष्टव्य - महा. उद्योगपर्व ३७-३०
७. द्रष्टव्य - नीतिशतकम्
८. द्रष्टव्य - तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षाध्याय, प्र.न.
९. द्रष्टव्य - मुण्डकोपनिषद्

वैश्वीकरण तथा महिला सशक्तिकरण की दशा एवं दिशा

*डॉ. शुभा जौहरी

इस लेख के माध्यम से मैनें यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वैश्वीकरण के विस्तार से जो अवसर उभर कर आये हैं उनसे महिलाओं की सशक्तिकरण की प्रक्रिया में तेजी लाई जा सकती है। इन अवसरों का लाभ उठाकर महिलायें और सशक्त हो सकती हैं। जिस प्रकार वैश्वीकरण में वृद्धि हो रही है, उसी प्रकार विकास के अवसर में भी बढ़ोत्तरी हो रही है। महिलायें इन अवसरों के जरिये अपने विकास की गति बढ़ा सकती हैं।

वैश्वीकरण के प्रभाव से स्थानीय बाजारों में भी परिवर्तन आ रहा है, स्थानीय बाजार अब स्थानीय नहीं रहे ये अब अधिक मात्रा में वैश्वीकरण के दायरें में आ रहे हैं। स्थानीय ग्राहक जो पहले स्थानीय बाजारों में जाते थे, अब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बड़ी आसानी से विश्व के अन्य बाजारों में भी बाहर के ग्राहक बढ़ते जा रहे हैं। इन बाजारों की पहुँच विश्वव्यापक होती जा रही है। सम्पूर्ण विश्व की अर्थ-व्यवस्था का प्रभाव स्थानीय बाजारों में बढ़ता जा रहा है। राष्ट्रीय सरकार और स्थानीय प्रशासन अपने स्थानीय बाजार को वैश्वीकरण से बचाकर संरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु वैश्वीकरण के प्रभाव से ये बच नहीं पाते हैं। हम निरन्तर ऐसी अर्थ-व्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं जहाँ विश्व के सम्पूर्ण बाजार ग्राहकों के लिये उपलब्ध होंगे। तकनीकी विकास से यह परिवर्तन और गतिशील हो रहा है, विशेषकर संचार व्यवस्था और सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार से इस परिवर्तन को बल मिला है।

वैश्वीकरण से स्थानीय अर्थव्यवस्था सम्पूर्ण विश्व के दायरे में आती जा रही है और इसमें सभी अर्थव्यवस्थाओं के समरूप विकास की क्षमता है। परन्तु सभी इसका समुचित लाभ नहीं उठा पा रहे हैं और विश्व के विभिन्न हिस्सों में आर्थिक विकास एकतरफा हो रहा है। कई देश अपनी अर्थव्यवस्था को वैश्वीकरण से बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं या आंशिक रूप से ही अपने बाजारों को वैश्वीकरण के प्रभाव में ला रहे हैं।

वैश्वीकरण वस्तुतः विश्व के विभिन्न बाजारों का एक-दूसरे के ऊपर पारस्परिक प्रभाव का परिणाम है। सामाजिक पहलुओं पर वैश्वीकरण का सीधा नियंत्रण नहीं है परन्तु व्यापक प्रभाव है। वैश्वीकरण के द्वारा सम्पूर्ण विश्व सिमटकर एक दूसरे के समीप आ रहे हैं, इसके प्रभाव से सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन आ रहे हैं, परोक्ष रूप से वैश्वीकरण सम्पूर्ण विश्व के आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं को प्रभावित कर रहा है।

आधुनिक चिंतन और मूल्यों के विश्वव्यापक प्रसार में वैश्वीकरण से सहायता मिल रही है। विश्व के लोग विश्व की नागरिकता की ओर बढ़ रहे हैं, अभी भी विश्व के कई समाजों में पिछड़ापन और संकीर्ण विचार व्यापक रूप से उपस्थित है परन्तु ये क्रमशः विश्व मातृत्व और क्षमता की भावनाओं में परिवर्तित हो रहे हैं।

वैश्वीकरण ने आर्थिक विकास के लिये असीमित अवसर प्रदान किये हैं। यहाँ पर हम

* प्रपाठक, इतिहास विभाग, राष्ट्र संत तुकडोजी, महाराज नागपुर विद्यपीठ, नागपुर (महाराष्ट्र)

समाज के हरेक भाग के विकास की बात कर रहे हैं। आर्थिक विकास से यदि सामाजिक विकास न हो तो इसका कोई मूल्य नहीं है।

जो समाज अभी तक समुचित रूप से विकास नहीं कर पाये हैं उन्हें वैश्वीकरण के द्वारा विकास में सहायता मिल रही है।

कई ऐसे समाज हैं जहाँ पर महिलाओं की भूमिका अत्यन्त सीमित रखी गई है। समाज में प्रचलित सांस्कृतिक मान्यतायें और रीति-रिवाजों के द्वारा महिलाओं के लिये एक सीमा बन जाती है और उन्हें इस सीमा के अन्दर रखने का प्रयत्न किया जाता है। ज्यादातर महिलायें इन सीमाओं को स्वीकार कर लेती हैं और यह मान लेती हैं कि उनका स्तर पुरूषों से नीचे है, ऐसी महिलायें अपनी स्थिति से संतुष्ट रहती हैं और सीमा को पार कर अधिक कौशल हासिल करने का प्रयत्न नहीं करती हैं। उनका जीवन व्यापक कैसे होगा और वे जीवन में क्या करना चाहती हैं इसका निर्णय ये महिलायें स्वयं नहीं करती हैं। सामान्यतः बचपन से महिलाओं को यह सिखाया जाता है कि उन्हें ऐसी परिस्थिति में ही रहना है और उनके भाग्य ने उन्हें पुरूषों से नीचे का ही स्तर दिया है। यह बहुत कम होता है कि कोई महिला समाज के द्वारा बनाई गई मानसिक सीमा से बाहर निकल कर ऐसा निर्णय ले सके जिससे उसके जीवन पर और समाज पर व्यापक परिवर्तन आये।

हम सर्वांगीण विकास की बात करते हैं लेकिन क्या हम ऐसे समाज में, सर्वांगीण विकास कर सकते हैं जहाँ के आधे लोगों को वो अधिकार प्राप्त न हों जो बाकी आधे लोगों को मिले हैं ? विकास का अर्थ केवल आर्थिक विकास नहीं है। विकास में, विचारों में परिवर्तन भी सम्मिलित हैं जिससे अंधविश्वास को हटाया जा सके। अंधविश्वास ने कई सामाजिक वर्गों के विकास में बाधायें उपस्थित की हैं इसलिये इसको परिवर्तित करना आवश्यक है। महिलाओं को सशक्त करने की आवश्यकता है जिससे सम्पूर्ण समाज का विकास हो सके।

महिलाओं को सशक्त करने का अर्थ केवल यह नहीं है कि उन्हें आर्थिक और अन्य साधन उपलब्ध कराये जायें। उन्हें केवल सुविधायें उपलब्ध कराना उन्हें सशक्त बनाने के लिये पर्याप्त नहीं है। महिलाओं को सशक्त करने के लिये उनके विचारों में परिवर्तन लाना आवश्यक है। उनके अपने बारे में और अपनी सामाजिक भूमिका के बारे में जो उनके विचार हैं उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। वे अपने को जिस दृष्टि से देखती हैं उसमें परिवर्तन आवश्यक है। उन्हें संभवतः अपनी शक्ति और अधिकारों का ज्ञान नहीं है जिसके कारण वे अपने विकास की संभावनाओं से अनभिज्ञ हैं। वे संभवतः यह समझ नहीं पाती हैं कि उनके पास एक नागरिक के सभी अधिकार हैं। समाज ने भले ही उन्हें नीचे का स्तर दिया हो, परन्तु कानून ने उन्हें पुरूषों के बराबर का दर्जा दिया है। महिलाओं के लिये इस तथ्य को समझना आवश्यक है ताकि वे अपनों को और अन्य महिलाओं को अंधविश्वास की जंजीरों से मुक्त करा सकें। उन्हें सामाजिक परिवर्तन और अपने जीवन में परिवर्तन लाने का माध्यम बनना होगा।

सशक्त महिलाओं में यह समझने की सामर्थ्य होना चाहिये कि उनके पास भी विकल्प है कि वे किस तरह का जीवन चाहती हैं, उन्हें स्वयं अपनी स्थिति में परिवर्तन लाने की पहल करनी होगी, उन्हें स्वयं अपना लक्ष्य तय करना होगा। उन्हें अपनी आय और पारिवारिक संपत्ति पर नियंत्रण होना चाहिये। उन्हें व्यवसाय करने की छूट होनी चाहिये। उनमें असीमित क्षमता है जिसके बल पर वे अधिक उत्तरदायित्व ले सकती हैं और ऊँचे ओहदों पर नौकरी कर सकती हैं। कोई महिला किसी व्यावसायिक संस्था की मुख्य निष्पादन अधिकारी

(C.E.O.) भी बन जाये तो इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

सशक्त महिलायें समाज में अपना स्थान स्वयं तय करती हैं वे सामाजिक संस्थाओं में उत्तरदायी पद संभालने की भी क्षमता रखती हैं और अपने योगदान से समाज का उत्थान करती हैं। शिक्षण संस्थाओं में भी लड़कियों के प्रति भेदभाव नहीं होना चाहिये। विद्यार्थी लड़कियों को यह विकल्प रहना चाहिये कि वे स्वयं इस बात का निर्णय ले सकें कि वे क्या पढ़ना चाहती हैं। आजकल शिक्षण के लिये बहुत सारे विषय उपलब्ध हैं और लड़कियों को इनमें से अपनी रूचि के अनुसार विषय चुनने की सुविधा होनी चाहिये।

पारिवारिक जीवन में भी महिलाओं को महत्वपूर्ण निर्णय लेने का अधिकार होना चाहिये। गर्भ पालन का निर्णय लेना भी उनके अधिकार क्षेत्र में होना चाहिये। उन्हें अपना जीवन साथी चुनने और विवाह का समय निर्धारित करने की सुविधा होनी चाहिये। वे भी इस निर्णय में हिस्सेदार हों कि उन्हें कितने बच्चे चाहिये। उन्हें अपने संवैधानिक अधिकारों का ज्ञान होना चाहिये और इन अधिकारों के निर्वाह में उन्हें अपने परिवार के सदस्यों से सहारा मिलना चाहिये।

सशक्त महिलाओं को राजनैतिक व्यवस्था का ज्ञान होता है और इसमें अपने योगदान करने का साहस होता है। इस कार्य में उन्हें परिवार और समाज की सहमति प्राप्त होती है। सशक्तिकरण से महिलायें परिवर्तन लाने में सक्षम हो जाती हैं। उनका विचार और उनकी धारणायें ऐसी बन जाती हैं कि वे अपने अंदर छिपी शक्तियों का पूरा उपयोग कर सकती हैं। महिलायें अपने उत्थान में स्वयं कितना योगदान कर सकती हैं, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। उनके अंदर स्वयं अपने उत्थान की इच्छा होनी चाहिए, साथ ही साथ समाज का प्रोत्साहन भी होना चाहिए।

वैश्वीकरण इन सब में कहाँ आता है ? वैश्वीकरण विकास के अवसर प्रदान कराता है। यह विचारों में क्षमता लाता है और पुराने रूढ़िवादी विचारों को आधुनिक विचारों में बदल देता है। महिलाओं को इन अवसरों का लाभ उठाकर स्वयं अपने आपको सशक्त बनाना होगा। प्रगतिशील समाज उन्हें इसमें सहायता कर सकता है परन्तु पहल महिलाओं को ही करनी होगी, महिलाओं को अपनी सोच में परिवर्तन लाना होगा और यह विश्वास मन में लाना होगा कि उन्हें सशक्त बनाना उन्हीं के हाथ में है।

महिलाओं में बढ़ती अपराध वृत्ति : कारण और निवारण

*डॉ. चम्पा श्रीवास्तव

गीता के तृतीय अध्याय में अर्जुन के प्रश्न करने पर कि भगवान ! मानव पाप कर्म क्यों करता है ? भगवान कृष्ण ने उत्तर दिया -

"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।।"

अर्थात धन, मन तथा सम्मान की कामना ही पाप की जड़ है।

सामाजिक आदर्शों व नियमों के विरूद्ध कार्य करना या कानून का उल्लघंन करना अपराध कहलाता है तथा ऐसा कार्य करने वाले व्यक्ति को अपराधी के नाम से पुकारा जाता है। छल छद्म के इस युग में जब मानव का प्रत्येक धर्म और कर्म स्वार्थ प्रेरित हो गया हैं। मंथरावादी सोच समाज को खोखला किये दे रही है। वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के परिणामस्वरूप आधुनिकीकरण की दौड़ तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है। ऐसे समय में पुरूष वर्ग के साथ ही साथ स्नेह और सौम्यता की प्रतिमूर्ति कही जाने वाली नारी के अपराधवृत्ति का ग्राफ तीव्रता से बढ़ता जा रहा है। चोरी करने, धोखा देने तथा असत्य भाषण जैसे छोटे-छोटे भ्रष्ट आचरण से लेकर, महिलाएं हत्या तथा तस्करी तक के अपराधों में संलिप्त दृष्टिगोचर हो रही हैं। महिलाओं में बढ़ती अपराधीवृत्तियाँ समाज के लिए कोढ़ है, जो प्रतिदिन महामारी की तरह फैलता जा रहा है। कितनी विडम्बना है कि जिस नारी में मानव को भगवान बना देने की सामर्थ्य थी, जिसकी दिनचर्या ही मुँह अंधेरे उठकर झाड़ू-पोंछा करके सबके लिए नाश्ता, खाना बनाकर, खिलाकर अपने पति तथा बच्चों के लिए ही समर्पित भाव से जीना थी, आज वही नारी अपराध जगत का सिरमौर बन गयी है। आखिर क्यों चल पड़ती हैं, महिलाएं अपराध की डगर पर ? वे कौन से कारण हैं जो स्त्री सुलभ कोमलता को क्रूरता में परिवर्तित कर उसे अपराधी बना रहें हैं ? मेरा मानना है कि महिलाओं में बढ़ती अपराधवृत्ति के अनेक कारणों में से प्रथम है - निर्धनता। वास्तव में गरीबी के कारण जब स्त्री अपना तथा अपने ऊपर आश्रित व्यक्तियों का निर्वाह करने में असमर्थ हो जाती है तो अपराध को व्यवसाय बना लेती है। राह चलते किसी नारी के गले से जंजीर घसीट लेना, पुरूष के जेब से पैसे निकाल लेना, आँख बचाकर किसी दुकान से सामान चुरा लेना तथा पैसे के मोह में किसी को जहर देकर मार डालना आदि ऐसी अपराधिक वृत्तियाँ हैं, जो आर्थिक अभाव के कारण नारी की दया, क्षमा तथा ममता को तिरोहित कर देती हैं और वह अपराधी बन जाती है।

आज का युग अर्थयुग है जिसमें बहुत से ऐसे महत्वाकांक्षी व्यक्ति भी हैं जो अपनी ही पुत्री, बेटी, बहन तथा पत्नी को कमाई के साधन के रूप में प्रयोग करते हैं और नारी को वैश्या के रूप में अय्याशों के सामने पेश कर देते हैं। कुछ महिलाएं जो नित नए फैशन के शिकंजे में जकड़ जाती हैं, वे फैशन का भूत उतारने के लिए अपराध के रास्ते पर चल पड़ती हैं, धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति आदत बन जाती है। परिवार तथा समाज की उपेक्षा भी नारी को अपराधी बनाने का अहम कारक है।

समाज की रूढ़िवादी परम्पराओं से आबद्ध नारी, जो निष्ठुर तथा कट्टरवादी सास के द्वारा

* अध्यक्ष हिन्दी विभाग, फीरोज गांधी कालेज, रायबरेली (उ. प्र.)

सतायी जाती है, ये भी ऐसे कारण हैं जो महिलाओं को अपराधी बनने को मजबूर करते हैं।

सामाजिक कारण के साथ ही साथ मनोवैज्ञानिक कारणों में भी महिलाएं अपराधवृत्ति अपनाती हैं। स्वयं के आत्मीय से ठुकरायी जाने पर उनमें आत्मविश्वास की कमी आ जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप वे मानसिक रोगी बनकर अपराधिक कार्यों की ओर उन्मुख होने लगती है।

हमारे देश में कुछ धार्मिक कारण भी हैं जो महिलाओं को अपराधी बना देते हैं जैसे देवताओं को अर्पित महिलाएं जो ढोंगी साधु सन्तों के चंगुल में फंस जाती हैं और अपराधिक कार्यों के द्वारा समाज में अलग दिखायी देने का प्रयास करेंगी।

इसके अतिरिक्त अत्याचार सहने की पराकाष्ठा, क्षमता के अनुरूप सफलता का न मिलना, वैधव्य जीवन से ऊब जाना तथा पुरूषों के द्वारा अमानवीय कृत्य भी महिलाओं को अपराधी बना देते हैं।

यद्यपि आज अपराध नारी की अपनी विवशता है किन्तु यह समाज के ऊपर लगा वह दाग है जिसका समय से निवारण अनिवार्य है, अन्यथा समाज के लिए अत्यन्त ही घातक सिद्ध होगा। महिलाओं को अपराध वृत्ति से बचाने का सर्वोत्तम उपाय है - शिक्षा, जो उन्हें नीर, क्षीर, विवेकी तथा संस्कारवान बनायेगा। उचित और अनुचित का अहसास करायेगा, जिससे वे सत्कर्मोन्मुख होंगी।

नारी का सामाजिक उत्थान भी अपराध में कमी ला सकता है। अधिक से अधिक रोजगार के अवसर यदि महिलाओं को उनकी कार्य क्षमता के आधार पर प्रदान किये जायें तो इस समस्या का निदान हो सकता है।

विषमताओं के हजार झंझावातों के समक्ष नारी की अस्मिता, उसकी कार्य कुशलता तथा उसकी प्रतिभा का चिराग आखिर कैसे प्रज्ज्वलित किया जाये ? इस क्षेत्र की सत्कर्म में संलग्नता हेतु समाज और प्रशासन को एकात्म भाव से प्रयास करना होगा। सृष्टि की जननी को समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उत्साह, निष्ठा और समर्पण भाव से दायित्वों का निर्वहन करना होगा। उद्योग, व्यापार, पर्वतारोहण, खेलकूद, अध्यापन, प्रशासन, साहित्य, संगीत तथा समाज सेवा आदि सभी क्षेत्रों में नारी शक्ति को अपने बहुमुखी आयामों से प्रगतिशील हलचल पैदा करनी होगी, तभी अपराध वृत्तियाँ प्रभावी नहीं हो पायेंगी। दायित्व बोध उसे दिग्भ्रमित नहीं होने देगा। अपराध वृत्ति का विरोध महिलाओं को स्वयं ही आगे बढ़कर करना होगा।

आज समय पुकार रहा है, देश के कोने-कोने से आवाज आ रही है। अपराध वृत्ति से बचाव की याचनाएं नारी शक्ति का आह्वान कर रही हैं। सम्पूर्ण विश्व महिलाओं को आवाज दे रहा है - जागो! नारी शक्ति जागो, अपराध वृत्ति को त्यागो तथा सत्मार्ग पर चलकर मानव को फिर से मानवता का पाठ पढ़ाओ। नारी होने के नाते मैं भी यही कहूँगी -

"धरा बेंच देंगे, गगन बेंच देंगे,
कली बेंच देंगे, सुमन बेंच देंगे,
सृष्टि की जननी, अपराधी बनी तुम।
तो ये भ्रष्टाचारी, वतन बेंच देंगे।।"

आधी दुनिया का स्याह यथार्थ 'सुम्मी की बात'

*डॉ. जॉर्जकुट्टी वट्टोत्त

आधुनिक युग में नारी-स्वतंत्रता का नारा जोरदार ढंग से गूँज रहा है। लेकिन वस्तुतः नारी की स्वतंत्रता सतही मात्र है और आज भी वह पुरूष की गुलाम है। मिसाल के तौर पर ससुराल में उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है और वह केवल भोग्या एवं दासी बनायी जाती है। आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य की विख्यात लेखिका सूर्यबाला कृत 'सुम्मी की बात' शीर्षक कहानी के आधार पर नारी जीवन की इस त्रासदीय दशा पर प्रकाश डालने का प्रयास है यह शोध आलेख।

आजकल नारी की स्थिति में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। परम्परागत रूप से घर की चहारदीवारी में बन्द नारी सींखचों को भेदकर आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरूष के समान अग्रसर हो रही है। इसके आधार पर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि नारी की मुक्ति हो गयी है। लेकिन व्यावहारिक स्तर पर वह न स्वतंत्र है और न पुरूष के समकक्ष स्थान की अधिकारिणी है। आज भी नारी की पढ़ाई, विवाह आदि बुनियादी मामलों में पुरूष ही निर्णय लेता है। पुरूष प्रधान समाज द्वारा वह ससुराल में पुरूष के आदेशों का पालन करने वाली दासी बनायी जाती है। इस स्थिति में नारी का जीवन कष्टपूर्ण बन जाता है और इसमें उसकी दम घुटती है। ऐसी एक नारी की कहानी है सूर्यबाला कृत 'सुम्मी की बात'। विवाह द्वारा ससुराल की सेविका बनने के लिये मजबूर नारी की कहानी है यह। कहानी की नायिका सुम्मी बचपन में भोली और खिलखिलाती लड़की थी। अपनी सहेलियों के साथ वह तरह-तरह के खेलकूद में भाग लेती थी। रम्मन नामक युवक भी सुम्मी की मित्र मंडली में शामिल था। "वहाँ सन्नो, बिज्जू, रम्मन और इससे मिलते-जुलते नामों वाले लड़के-लड़कियाँ फटाफट पत्थर मार-मारकर, कच्ची अमियाँ तोड़-तोड़कर जेबों में ठूंसते रहते थे। कुछेक नमक-मिरची की बुकनी भी साथ लाए होते थे।"[1] रम्मन के मन में सुम्मी के प्रति विशेष लगाव था। सुम्मी भी उसे पसंद करती थी। काल के प्रवाह में सुम्मी कुमारी बन जाती है। इतने में सुम्मी के पिताजी का तबादला होता है। मतलब है कि सुम्मी अपनी मित्र-मंडली से अलग हो जाती है। इस स्थिति में सुम्मी तथा रम्मन सहित सभी मित्र बहुत बेचैन और खिन्न हो जाते हैं। लेकिन एक सुयोग्य वर के मिलते ही पिता सुम्मी की पढ़ाई बन्द कर देते हैं और जल्दी ही उसकी शादी करा देते हैं। विवाह के बाद सुम्मी ससुराल चली जाती है। काल के प्रवाह में सुम्मी माँ बन जाती है और बच्चे उसे 'मम्मी' पुकारते हैं। पति घर पर उसे 'सुनो' पुकारता है और नौकरानी महरी उसे 'बीबीजी' पुकारती है। पति के मुँह से 'सुनो' शब्द निकलते ही सुम्मी भाग-दौड़कर उसके पास आती है और निष्ठापूर्वक उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है। ससुराल का नियम बन जाता है कि छोटे से छोटे कार्य के लिये भी पति सुम्मी को पुकारता है और सुम्मी तत्काल उसके निकट पहुँचती है। एक दिन सुम्मी सिलाई करते वक्त अचानक पति के मुँह से 'सुनो' शब्द निकलता है। चाय में और थोड़ी चीनी डालने के लिये पति

* प्रपाठक तथा शोध निदेशक, हिन्दी स्नातकोत्तर एवं शोध विभाग, सेन्ट थॉमस कॉलेज, पाला, जिला कोट्टयम, केरल

पुकार रहा था। सुम्मी हड़बड़ाकर उठकर भागने लगती है। लेकिन दुर्भाग्य से उसके पैर की उंगलियाँ फर्श पर बुरी तरह घिस जाती हैं और वह दर्द से कराहती है। "पति की 'सुनो' सुनते ही हड़बड़ाकर उठी ही थी कि झटके से उसके दाहिने पैर की उंगलियाँ फर्श के साथ बुरी तरह मुरक गईं। हल्की चीख के साथ वहीं फर्श पर धप से बैठ गई।"[2] सुम्मी की चीख सुनकर बच्चे पास आते हैं और वे मम्मी की हँसी-मजाक करते हैं। बड़ी लड़की सुम्मी की मदद करने लगती है तो सुम्मी उसे मना करते हुये कहती है कि उसे कोई चोट नहीं हुई है और इसलिये उसका इलाज नहीं होना चाहिये। पापा को चीनी देना इससे जरूरी कार्य है। बाथरूम जाकर सुम्मी उंगलियाँ साफ करती है और उसे थोड़ी राहत मिलती है। लेकिन पति की ओर से आश्वासन का एक शब्द भी नहीं निकलता। पति की दृष्टि में सुम्मी उसकी 'पत्नी' नहीं बल्कि केवल 'सुनो' है। खिन्न सुम्मी का मन बचपन की यादों में डूब जाता है। उस काल में लौट जाने के लिये उसका मन लालायित होता है। लेकिन अगला क्षण (मन) सुम्मी को बताता है कि भूतकाल की चिंताएं छोड़कर उसे वर्तमान काल में जीना है। मतलब है कि भूतकाल की ओर एक वापसी अब बिल्कुल संभव नहीं है। यह विचार आते ही सुम्मी उसासें भरते हुये आँगन में जाकर पति और बच्चों के सूखे कपड़े लेकर संजोने लगती है।

प्रस्तुत कहानी में विवाह के बाद ससुराल में दासी बनायी जाती भारतीय नारी की विवशता का मार्मिक चित्रण हुआ है। यह कैसी विडंबना है कि जीवन के बिल्कुल सभी क्षेत्रों में पुरूष के समान विजय हासिल करने के बावजूद नारी ससुराल में बन्दी बनायी जाती है। ससुराल में नारी का कोई नाम नहीं है, पति उसे 'सुनो' पुकारता है जैसे सेवक को पुकारता है। मतलब है कि ससुराल में नारी की कोई अस्मिता नहीं है, वह केवल दासी या नौकरानी है। दूसरे शब्दों में, ससुराल में नारी के मन को नहीं उसके शरीर द्वारा किये जाने वाले कर्म को महत्व मिलता है। विचारणीय और आश्चर्यजनक बात यह है कि ससुराल के पुरूष ही नहीं वहाँ की नारियाँ अर्थात् सास, ननद आदि भी बहू को दासी बनाये रखने का प्रयास करती हैं। वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज की मनःस्थिति में आज भी खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इसलिये प्रत्येक नारी को केवल भोग्या या दासी के रूप में समाज देखता है। इसी कारण से इस अन्याय के विरूद्ध लड़ने वाली इने-गिने साहसी नारियों की विद्रोहपूर्ण आवाज भी नकारखाने में तूती की आवाज बन जाती है। अर्थात् पुरूष प्रधान समाज के संघात आक्रमण के सम्मुख अकेली नारी पराजित हो जाती है। पति के मुँह से 'सुनो' शब्द निकलते ही सुम्मी भागकर उसके पास आती है ताकि वह उसकी किसी भी आज्ञा का यथाशीघ्र पालन कर सके। इस प्रकार भागते वक्त सुम्मी फिसलकर गिरने लगती है और उसकी उंगलियों पर चोट होती है। लेकिन उठ खड़े होने पर सुम्मी चोट पर दवा लगाने के बारे में नहीं पति की सेवा करने के बारे में अधिक चिंतित होती है। इसलिये ही सुम्मी बड़ी बेटी से कहती है कि पापा को जरा चीनी देना ही प्रथम आवश्यकता है। पुरूष-प्रधान समाज द्वारा नारी पर यह झूठा आदर्श थोपा जाता है कि पति की सेवा करना ही नारी का परम कर्तव्य है। भूतकाल के सुखद जीवन की याद आने पर सुम्मी का मन उन खोये क्षणों को फिर पाना चाहता है, जो संभव नहीं है। इसलिये उसका मन ही उसे आश्वस्त करता है कि वर्तमान के यथार्थ को स्वीकारना ही अक्लमन्दी है। सुम्मी की मजबूरी को यहाँ उजागर किया गया है। ससुराल में दम घुटती असंख्य नारियों का प्रतिनिधित्व करती है सुम्मी।

जाहिर है, भारतीय नारी को बन्धनों से मुक्त करने के लिये ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि सबसे पहले उसे निजी घर में ही आवश्यक सम्मान और प्रोत्साहन मिलना चाहिये। आजकल अधिकांश घरों में बेटे को स्वतंत्रता मिलती है जबकि बेटी को सख्त अनुशासन में रहना पड़ता है। इस स्थिति में बुनियादी परिवर्तन लाना निहायत जरूरी है। डॉ. सुरेश बत्रा ने ठीक ही लिखा है "नारी के सही समाजीकरण के लिये परिवार में उसे जन्म से ही सम्मान मिलना आवश्यक है।"[३] आजकल अधिकांश नारियाँ अपनी दुरवस्था के लिये पुरूष प्रधान समाज व्यवस्था को दोषी बताने की बजाय भाग्य को दोषी बताती हैं। युग-युगों से भारतीय जनता में रूढ़मूल भाग्यवाद का दुष्परिणाम है यह। यह नारी की गुलामी के मूल कारणों में एक है। मुहम्मद तारिक असलम के शब्दों में "वास्तव में भारतीय जनता बहुत ही भाग्यवादी है। वह प्रत्येक समस्या के लिये व्यवस्था को दोषी मानने की अपेक्षा भाग्य का लिखा मानकर संतोष कर लेती है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।"[४] नारी-मन में दासत्व की भावना जगाकर उसको गुलामी की स्थिति में धकेलने में धर्म की भूमिका उल्लेखनीय है। मलतब है कि प्रायः सभी धर्म नारी को दूसरी श्रेणी का व्यक्ति मानता है और उसको सदा अधीनस्थ रहने का उपदेश भी देता है। आशीष त्रिपाठी के अनुसार "प्रायः सभी धर्मों ने अपनी पुस्तकों में उसके दैहिक रूप को ही प्रमुखता दी है। पति की दासी और भोग सामग्री होने को ही सबसे बड़ा धर्म निरूपित किया गया है।"[५] पुरूष का सहज अहं नारी की इस दुस्थिति का अन्य एक कारण है। पुरूष नारी को सदा अपने अधीन में रखने के लिये तरह-तरह के उपाय करता है। पुरूष सदा एकछत्र शासक के रूप में परिवार में विराजने का प्रयास करता है। इस प्रयास में वह पत्नी को 'सुनो' शब्द से पुकारता है। दूसरे लोगों को अपनी अधिकार-भावना दर्शाने के लिये वह कभी-कभी पत्नी को बिल्कुल अनावश्यक आदेश देता है। अचरज की बात यह है कि गुलाम पत्नी अपनी संतानों में बेटी को गुलाम बनाये रखने तथा बेटे को स्वतंत्र बनाने लायक कार्य करने के लिये मजबूर हो जाती है। भूमंडलीकरण के इस युग में नारी की स्थिति अधिक चिंताजनक बनती जा रही है। मतलब है कि नारी आजकल अधिकाधिक भोग्या बनती जा रही है। कुमुद शर्मा ने उचित ही लिखा है "आज विज्ञापन की दुनिया में विज्ञापन और स्त्री पर्याय बन गये हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति को प्रोत्साहित करते बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पाद को बाजार में स्थापित करने वाले विज्ञापनों में स्त्री की कामुक अपील को भुनाया जा रहा है।"[६] वास्तविकता यह है कि धन, कीर्ति आदि प्राप्त करने के प्रलोभन में पड़कर कुछ अपरपक्व नारियाँ पुरूष-समाज के जाल में फँस जाती हैं और अपनी देह का प्रदर्शन करती हैं।

नारी की मुक्ति तथा खुशहाली के लिये केवल नारी संगठनों या इने-गिने पत्र-पत्रिकाओं का प्रयास पर्याप्त नहीं है। मतलब है कि नारी-मुक्ति के लिये सम्पूर्ण समाज का सहयोग और निष्ठापूर्ण कार्यवाहियाँ नितान्त आवश्यक हैं। पुरूष की अहं की भावना में कटौती, नारी के प्रति समाज के रूख में बदलाव, धार्मिक नेताओं के मनोभाव में परिवर्तन आदि के अलावा सरकार की ओर से आवश्यक कानूनी कार्यवाहियाँ भी इसके लिये अनिवार्य हैं। दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकायें आदि जनता को समझाकर नारी मुक्ति के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करने में उल्लेखनीय योगदान दे सकते हैं। लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि आजकल ये सशक्त माध्यम प्रायः नारी को भोग्या के रूप में चित्रित कर उसकी गुलामी को बनाये रखने लायक लेख, विज्ञापन आदि प्रकाशित करते हैं। नारी के आत्म

सम्मान एवं आत्म विश्वास की भावनाओं को बढ़ाने लायक कार्यक्रमों का दूरदर्शन में प्रसारण होना है तथा पत्र-पत्रिकाओं में इसके लिये आवश्यक लेख आदि प्रकाशित होना है। छोटे कक्षों से लेकर बच्चों को नारी-अधिकारों के बारे में पढ़ाना भी जरूरी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नारी की अस्मिता के लिये स्वयं नारी, पुरूष वर्ग, सरकार, पत्र-पत्रिकायें आदि की सम्मिलित कार्यवाहियों की आज बड़े पैमाने पर आवश्यकता है।

संदर्भ

१. सूर्यबाला : इक्कीस कहानियाँ, सुनील साहित्य सदन, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली - ११०००२, पृ. १४१
२. वही, पृ. १४४
३. सुरेश बत्रा : मधुमती पत्रिका, फरवरी १९९६, पृ. ८३
४. मुहम्मद तारिक असलम : अक्षर पर्व पत्रिका, जून २००६, पृ. ८१
५. आशीष त्रिपाठी : प्रगतिशील वसुधा पत्रिका, जनवरी-मार्च २००६, पृ. १०२
६. कुमुद शर्मा : साक्षात्कार पत्रिका, जनवरी २००६, पृ. ७७

राजनीति में नारी नेतृत्व आवश्यक क्यों ?

*डॉ. (श्रीमती) चित्रा आम्रवंशी

स्त्री और पुरूष दोनों ही समाज रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। जब दोनों ही शालीन, शिक्षित, स्वस्थ्य, समुन्नत, समर्पित होगें तभी समाज रूपी गाड़ी सन्तुलित होकर चलेगी वरना दुर्घटना की सम्भावना प्रतिपल बनी रहेगी। अस्तु, दोनों के समग्र विकास की बात सोचना एवं क्रियान्वित करना नितान्त आवश्यक है। इसी आधार पर मैंने प्रस्तुत विषय का चयन अपने आलेख के रूप में किया है। शोध लेख के लेखन में वर्णनात्मक एवं समीक्षात्मक शैली का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तुलनात्मक पद्धति के माध्यम से भी तर्क प्रस्तुत किये हैं।

नेपोलियन बोनापार्ट ने नारी शक्ति की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए यह कहा था- "तुम मुझे योग्य मातायें दो, मैं तुम्हें एक सुयोग्य राष्ट्र दूंगा।" आज सभी यह स्वीकार करने लगे हैं कि - "महिलाएँ पुरूषों की तुलना में सौंपे गये दायित्वों के प्रति अधिक संवेदनशील और कर्तव्यनिष्ठ होती हैं। वे अत्यधिक ईमानदार और दायित्वों के प्रति पूर्ण समार्पित होती हैं। वे स्वच्छ और स्पष्ट प्रशासन देने में सक्षम हैं।"

राजनीति में नारी नेतृत्व के संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में तीन बिन्दुओं पर विशेष चिन्तन एवं मनन किया जा सकता है।

* पहली बात तो यह है कि आज २१वीं शताब्दी में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में नारी के सर्वांगीण विकास के लिए जो आंदोलन छिड़ा हुआ है वह नारी को राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं समग्र दृष्टिकोणों से आगे लाने के लिए कृत संकल्पित होकर इस दिशा में क्रियाशील है। इस पर विशद चर्चा करने की जरूरत है ताकि वैश्विक दृष्टि से नारी के उत्थान की दिशा तय की जा सके। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा महिलाओं के सर्वजीवन मूल्यों के उत्थानार्थ अनेक कार्यक्रम शुरू किये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिषद द्वारा इस दिशा में अनेक कार्य किये जा रहे हैं। महिलाओं के इस संदर्भ में विश्व मानवाधिकार की व्यवस्थाएँ इसी अंग के द्वारा क्रियान्वित की जा रही हैं। विश्व मानवाधिकार के १० दिसम्बर १९४८ के घोषणा पत्र के परम उद्देश्य हैं - 'दुनिया के किसी भी भू-भाग में निवास करने वाले विश्व मानव समाज के प्रत्येक सदस्य को चाहे वह नर हो या नारी सम्मानपूर्वक जीवन जीने का हक है।'

विश्व मानवाधिकार की परिधि में महिलाओं के मानव अधिकारों के व्यवस्थापन के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रायोजित चतुर्थ विश्व सम्मेलन महत्वपूर्ण पहल है। बीजिंग (चीन) में ४ सितम्बर से १५ सितम्बर १९९५ तक हुए महिलाओं पर चतुर्थ विश्व सम्मलेन ने महिलाओं के मानवाधिकारों की नींव रखने का कार्य किया। प्रमुख विश्व महिला सम्मलेन निम्नांकित हैं :-

विश्व स्तर पर महिला मानवाधिकार को

* सहायक प्राध्यापक, इतिहास, सं.गां.स्मृ.शा.स्व.स्ना.महाविद्यालय, सीधी (म.प्र.)

विकसित स्वरूप देने का कार्य चतुर्थ विश्व सम्मेलन (बीजिंग) में ही किया गया। इस सम्मेलन में निम्नलिखित विषयों का चुनाव किया गया है :-

आयोजन वर्ष	सम्मेलन क्रमांक	आयोजन स्थल	प्रमुख विषय
१९७५	प्रथम	मैक्सिको	समानता, विकास, शान्ति
१९८०	द्वितीय	कोपेनहेगेन	शिक्षा, नियोजन, स्वास्थ्य
१९८५	तृतीय	नैरोबी	अग्रिममुखी रचना कौशल
१९९५	चतुर्थ	बीजिंग	महिलाओं की उन्नति में बाधक १२ चिन्ता के नाजुक क्षेत्रों की पहचान

१. महिलाओं की स्थायी एवं बढ़ती हुई गरीबी।

२. शिक्षा के अपर्याप्त एवं असमान अवसर।

३. स्वास्थ्य की अपर्याप्त एवं असमान सुविधाएँ।

४. महिलाओं के विरूद्ध हिंसा।

५. संघर्ष का महिलाओं पर प्रभाव।

६. आर्थिक संरचना, नीतियों तथा उत्पादन प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी की असमानता।

७. शक्ति एवं निर्णय निर्माण में असमान सहभागिता।

८. महिलाओं की प्रगति को बढ़ाने के अपर्याप्त साधन तंत्र।

९. राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं के मानवाधिकारों के प्रति जानकारी एवं प्रतिबद्धता का अभाव।

१०. समाज में महिलाओं के योगदान का मीडिया द्वारा प्रसारण में अपर्याप्त महत्व देना।

११. ग्रामीण संसाधनों के प्रबंधन एवं पर्यावरण के संरक्षण में महिलाओं को अपर्याप्त मान्यता एवं सहयोग।

इसी को आधार मानकर विश्व की सरकारें नारी विकास के लिए संवैधानिक प्रबंध कर रही हैं।

* दूसरी बात यह है कि नारी में राजनैतिक नेतृत्व की कमी नहीं है। सिर्फ उन्हें अवसर चाहिए इस पर गम्भीर विचार करना मेरा दूसरा उद्देश्य है। भारत वर्ष में अतीत काल से ही नारी की महत्ता समाज ने स्वीकारी थी, परन्तु किन्ही कारणों से वह घोर शोषण और उत्पीड़न का शिकार हो गयी। अतीत की अनेकानेक गौरवशाली नारी पात्रों ने राजनीतिक क्षेत्रों में जो भूमिकाएँ निभाई हैं वे आज प्रेरक अध्याय है। जैसे-कर्नाटक की रानी चेनम्मा, इन्दौर की रानी अहिल्याबाई, शिवाजी की माता जीजाबाई, गोंड़वाना की रानी दुर्गावती, बीजापुर की रानी चांदबीबी, रजिया, नूरजहां, ताराबाई, सावित्रीबाई आदि प्रख्यात स्त्री शासिकाओं के नाम इतिहास ग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

विश्व परिदृश्य में अनेकानेक नारी व्यक्तित्वों ने राजनीतिक उत्कृष्टता को प्राप्त कर स्वयं के एवं अपने राष्ट्र के नाम को गौरवान्वित किया है। इनमें विश्व की प्रथम महिला प्रधानमंत्री के रूप में श्रीलंका की सिरिमाओ भंडारनायके ने नारी जगत को गौरवान्वित किया है। विश्व में प्रथम राष्ट्रपति होने का गौरव अर्जेन्टीना की मारिया एस्टेला ने प्राप्त किया है। भारत की पहली महिला प्रधानमंत्री के रूप में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने बड़ी ख्याति अर्जित की है। इसके बाद तो राजनीतिक

क्षेत्र में नारी नेतृत्व बढ़ता ही चला गया है। श्रीलंका में चन्द्रिका कुमार तुंग राष्ट्रपति बनी हैं। पाकिस्तान में बेनजीर भुट्टो प्रधानमंत्री बन चुकी हैं। म्यांमार में आंग सांग सूकी, ब्रिटेन में मार्गरेट थ्रेचर प्रधानमंत्री बन चुकी हैं। बांग्लादेश में खालिदा जिया तथा शेख हसीना के हाथों में सत्ता रही है। इसी प्रकार अमेरिका में मेडलिन अलब्राइट और कोंडालिजा राइस ने विदेश मंत्री के महत्वपूर्ण पदों को सुशोभित किया है।

वर्तमान भारत में श्रीमती सोनिया गांधी, अम्बिका सोनी, सुषमा स्वराज, उमा भारती, मायावती, जय ललिता, सुमित्रा महाजन, शीला दीक्षित, नजमा हेपतुल्ला, रेनुका चौधरी, शैलजा आदि ने राजनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई हैं और निरन्तर निभाती आ रही हैं। अपने देश में त्रिस्तरीय पंचायतों में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी के लिए उठाये गये क्रान्तिकारी कदम प्रशंसनीय हैं। ७३वें और ७४वें संविधान संशोधन विधेयक के परिणामस्वरूप देश की ग्रामीण एवं नगरीय दोनों प्रकार की पंचायतों में महिलाओं को एक तिहाई आरक्षण की व्यवस्था हो जाने से लगभग १४ लाख महिलाओं को जनप्रतिनिधियों के रूप में विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्व एवं अधिकार प्राप्त हुये हैं। किन्तु राज्य के विधान मंडलों एवं संसद में उनके लिए आरक्षण विधेयक की बात तो की जा रही है पर उस पर अमल करना पुरूष प्रधान समाज को संभवतः अखर रहा है। इसलिए महिला विधेयक पास नहीं किया जा सका है। तुलनात्मक दृष्टि से यदि रूस की राजनैतिक व्यवस्था का अध्ययन किया जाय तो वहां की महिलाओं को राजनीति और प्रशासन में उच्च पदों पर अधिक प्रतिनिधित्व देने के लिए उनके हित में कोटा निर्धारित करने की बात स्वीकार की जा रही है। इसी प्रकार महिलाओं को प्रशासन और राजनीति में समान अधिकार प्रदान करने के लिए अग्रणी प्रयास संयुक्त राज अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, जापान आदि देशों ने भी शुरू कर दिये हैं। ईरान जैसे इस्लामिक देश की संसद में १३ महिला सदस्य शामिल की गईं हैं। इन सबके अध्ययन से भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर महिलाओं का आरक्षण जायज कहा जा सकता है। निम्न तालिका से विश्व की महिला राजनीतिज्ञों की स्थिति का पता चलता है –

सन् २००४ के लोकसभा चुनावों में केबिनेट में शामिल की गई महिला सदस्यों की संख्या ०७ है। इनके नाम है- डॉ. मीरा कुमार सामा० न्याय और अधिकारिता मंत्री, श्रीमती रेणुका चौधरी, पर्यटन मंत्री, कुमारी शैलजा, शहरी रोजगार एवं गरीबी उन्मूलन मंत्री, श्रीमती पनबाका लक्ष्मी,

विश्व के कुछ राष्ट्रों में महिला सांसदों की संख्या

देश	कुल सीट	महिला सांसद	प्रतिशत
स्वीडन	३४६	१४१	४०.४
नार्वे	१६५	६५	३६.४
फिनलैण्ड	२००	६७	३३.५
डेनमार्क	१७६	५६	३३.०
हालैण्ड	१५०	४७	३१.३
न्यूजीलैण्ड	१२०	३५	२९.२
जर्मनी	६७२	१७६	२६.२
स्पेन	३५०	६६	२४.६
चीन	२९७८	६२६	२१.०
स्विटजरलैण्ड	२००	४२	२१.०
वियतनाम	३९५	७३	१८.५
ब्रिटेन	६५१	१२०	१८.०
आस्ट्रेलिया	१४८	२३	१५.५
जिम्बाम्बे	१५०	२२	१४.७
अमरीका	४३५	५१	११.७
फिलीपीन्स	२०३	२२	१०.७
जाम्बिया	१५५	१५	०९.७
फ्रांस	५७७	३७	०६.४
जापान	५००	२३	०४.६

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण राज्य मंत्री, श्रीमती सूर्यकांता पाटिल, ग्रामीण विकास संसदीय कार्य राज्य मंत्री, सुश्री सुब्बालक्ष्मी जगदीशन सामा० न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री, श्रीमती कांति सिंह, मानव संसाधन विकास राज्य मंत्री के पद पर आसीन हो चुकी हैं।

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि ६० वर्षों की आजादी के बाद भी महिलाओं का आंकड़ा १० प्रतिशत से ऊपर नहीं पहुँचा। दुनिया के अग्रणी राष्ट्रों में भी महिलाओं का संसद में प्रतिशत संतोषजनक नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारत में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया के दूसरे नम्बर के देश भारत में तो इनका प्रतिनिधित्व ५० प्रतिशत तक होना ही चाहिए।

* तीसरी बात जो विशेष चिंताजनक है वह है-भारत की आबादी का बड़ा हिस्सा पिछड़े वर्गों से जुड़ी महिलाओं को जब तक जागरूक, शिक्षित, आत्मनिर्भर एवं राजनीतिक अधिकारों से युक्त नहीं बनाया जायेगा तब तक सम्पूर्ण भारतवर्ष आत्मनिर्भर एवं ताकतवर कैसे बन सकता है ? विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में शामिल होने की परिकल्पना कोसों दूर लगती है।

यह बात जानते हुए भी महिला आरक्षण में इनके लिए अलग से स्थान का निर्धारण करने को प्राथमिकता न देना विचित्र बात लगती है क्योंकि महिला आरक्षण बिल यदि पास भी कर दिया जाता है किन्तु उसमें पिछड़े वर्गों की महिलाओं के लिए स्थान सुनिश्चित नहीं किया गया तो अगड़ी जातियों की महिलाओं के सामने उन्हें सदैव उपेक्षित रहना पड़ेगा। केवल थोड़े से लोगों के बढ़ने से सम्पूर्ण भारतवर्ष आगे नहीं बढ़ सकता।

निम्नलिखित तालिका से भारत की संसद में महिलाओं के प्रतिनिधित्व का पता चलता है -

राज्य सभा				लोक सभा		
वर्ष	कुल सीटें	महिला सांसदों की संख्या	महिला सांसदों का प्रतिशत	कुल सीटें	महिला सांसदों की संख्या	महिला सांसदों का प्रतिशत
१९५२	२१९	१६	७.३	४४६	२२	४.४
१९५७	२३७	१८	७.५	५००	२७	५.४
१९६२	२३८	१८	७.६	५०३	३४	६.८
१९६७	२४०	२०	८.३	५२३	३१	५.०
१९७१	२४३	१७	७.०	५२१	२२	४.२
१९७७	२४४	२५	१०.२	५४४	१९	३.४
१९८०	२४४	२४	९.८	५४४	२८	५.१
१९८४	२४४	२८	११.४	५४४	४४	८.१
१९८९	२४४	२४	९.७	५१७	२७	५.२२
१९९१	२४५	३८	१५.५	५४४	३९	७.१८
१९९६	२२३	२०	९.०	५४३	४०	७.१८
१९९९	२३७	२२	९.२	५४३	४३	७.२
औसत	२३८	२३	९.३	५२३	३१	५.८

इसलिए आवश्यक है कि उन्हें आगे लाने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये जाने चाहिए -

* इस वर्ग की महिलाओं को वित्तीय सहायता देकर उन्हें शिक्षा के लिए प्रेरित किया जाए ताकि वे राजनीति को समझ सकें तथा उसमें भाग ले सकें। ये तभी संभव होगा जब वे शिक्षित होंगी।
* एक जागरूक स्त्री ही अपनी वर्तमान पीढ़ी को एक स्वच्छ राजनीति की ओर प्रेरित कर सकती है। इसलिए ऐसी संस्थाएँ बनाई जाए जो इस वर्ग के लिए नई चेतना उत्पन्न करें।
* राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने वाली महिलाओं का ज्वलंत जीवन दर्शन

राज्य विधान मण्डलों में महिला विधायकों की स्थिति

राज्य	१९५२ से १९९९ तक महिला विधायकों का प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	४.०
अरूणाचल प्रदेश	३.३
असम	३.२
बिहार	४.३
गोआ	४.३
गुजरात	४.२
हरियाणा	६.२
हिमाचल प्रदेश	३.६
कर्नाटक	४.५
केरल	३.६
मध्य प्रदेश	५.१
महाराष्ट्र	४.७
मणिपुर	०.३
मेघालय	१.७
मिजोरम	१.४
नागालैण्ड	०.५
उड़ीसा	४.०
पंजाब	४.०
राजस्थान	४.८
सिक्किम	२.३
तमिलनाडु	३.६
त्रिपुरा	३.६
उत्तर प्रदेश	४.१
पश्चिमी बंगाल	३.४
दिल्ली	५.६
पांडिचेरी	२.६
कुल औसत	४.०

मीडिया के माध्यम से दिखा-बताकर उन्हें राजनीति में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

* पिछड़े वर्गों की महिलाओं को राजनीति का महत्व समझाया जावे, उनमें राजनीति के प्रति अभिरूचि उत्पन्न करने के लिए अधिक सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएं।

* स्वयंसेवी संस्थाएँ इस दिशा में हृदय से काम करें व पिछड़ी महिलाओं को अपने साथ कार्यक्षेत्र में शामिल करते हुए उन्हें काम करने की प्रेरणा दें।

* पिछड़े वर्गों की महिलाओं के सर्वांगीण विकास के लिए विभिन्न प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक और गैर राजनीतिक संगठनों का निर्माण किया जाना चाहिए।

* ऐसा न हो कि संविधान के ७३वें, ७४वें संशोधन के अनुसार ग्रामीण महिलाओं को एक तिहाई आरक्षण देकर उनके नाम पर पति, रिश्तेदार या अन्य पुरूष काम संभालें। इससे कोई सकारात्मक एवं रचनात्मक प्रगति नहीं होगी।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत लेख के माध्यम से मैं यही कहना चाहूँगी कि "नारी के राजनीति में नेतृत्व" को गंभीरता से चर्चा का विषय समाज, राष्ट्र एवं अन्य सरकारी, गैर सरकारी संस्थाएँ बनायें और पूरे जोर-शोर से अगामी बरसों में नारी नेतृत्व के लिए उन्हें संसदों-विधानमंडलों-प्राइवेट-सरकारी सेक्टरों में सुनिश्चित स्थान प्रदान करायें तभी ५० प्रतिशत भारतवर्ष का नारी समुदाय विकास की धारा में जुड़कर स्वयं का सर्वांगीण विकास कर पायेगा साथ ही अपनी क्षमता का भरपूर लाभ राष्ट्र को दे पायेगा। सबकी उन्नति से ही राष्ट्र की उन्नति संभव है। २०५० तक भारत को विश्व की अर्थव्यवस्था में अपना प्रमुख स्थान बनाना है तो महिलाओं को आगे लाना ही होगा।

आजादी के आन्दोलन में भी अग्रणी रही है नारी

*आकांक्षा यादव

स्वतंत्रता और स्वाधीनता प्राणिमात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। इसी से आत्म सम्मान और आत्म उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। भारतीय राष्ट्रीयता को दीर्घावधि विदेशी शासन और सत्ता की कुटिल-उप निवेशवादी नीतियों के चलते परतंत्रता का दंश झेलने को मजबूर होना पड़ा था और जब इस क्रूरतम कृत्यों से भरी अपमानजनक स्थिति की चरम सीमा हो गई तब जनमानस उद्वेलित हो उठा था। अपनी राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक पराधीनता से मुक्ति के लिए सन् १८५७ से सन् १९४७ तक दीर्घावधि क्रान्ति यज्ञ की बलिवेदी पर उनके राष्ट्रभक्तों ने तन-मन जीवन अर्पित कर दिया था। क्रान्ति की ज्वाला सिर्फ पुरूषों को ही नहीं आकृष्ट करती बल्कि वीरांगनाओं को भी उसी आवेग से आकृष्ट करती है। भारत में सदैव से नारी को श्रद्धा की देवी माना गया है, पर यही नारी जरूरत पड़ने पर चंडी बनने से परहेज नहीं करती। 'स्त्रियों की दुनियां घर के भीतर है, शासन-सूत्र का सहज स्वामी तो पुरूष ही है' अथवा 'शासन व समर से स्त्रियों का सरोकार नहीं' जैसी तमाम पुरूषवादी स्थापनाओं को ध्वस्त करती इन वीरांगनाओं के बिना १८५७ से १९४७ तक की स्वाधीनता की दास्तान अधूरी है, जिन्होंने अंग्रेजों को लोहे के चने चबवा दिया। इन वीरांगनाओं में से अधिकतर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे किसी रजवाड़े में पैदा नहीं हुई बल्कि अपनी योग्यता की बदौलत उच्चतर मुकाम तक पहुँचीं।

१८५७ की क्रान्ति की अनुगूँज में दो वीरांगनाओं का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इनमें लखनऊ और झांसी में क्रान्ति का नेतृत्व करने वाली बेगम हजरत महल और रानी लक्ष्मीबाई शामिल हैं। ऐसा नहीं है कि १८५७ से पूर्व वीरांगनाओं ने अपना जौहर नहीं दिखाया। १८२४ में कित्तूर (कर्नाटक) की रानी चेनम्मा ने अंग्रेजों को मार भगाने के लिए 'फिरंगियों भारत छोड़ो' की ध्वनि गुंजित की थी और रणचण्डी का रूप धर कर अपने अदम्य साहस व फौलादी संकल्प की बदौलत अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे। कहते हैं कि मृत्यु से पूर्व रानी चेनम्मा काशीवास करना चाहती थीं पर उनकी यह चाह पूरी न हो सकी थी। यह संयोग ही था कि रानी चेनम्मा की मौत के ६ साल बाद काशी में ही लक्ष्मीबाई का जन्म हुआ। इतिहास के पन्नों में अंग्रेजों से लोहा लेने वाली प्रथम वीरांगना रानी चेनम्मा को ही माना जाता है।

कम ही लोगों को पता होगा कि बैरकपुर में मंगलपाण्डे को चर्बी वाले कारतूसों के बारे में सर्वप्रथम मातादीन ने बताया और मातादीन को इसकी जानकारी उसकी पत्नी लाजो ने दी। वस्तुतः लाजो अंग्रेज अफसरों के यहाँ काम करती थी, जहाँ उसे यह सुराग मिला कि अंग्रेज गाय की चर्बी वाले कारतूस इस्तेमाल करने जा रहे है। इसी प्रकार ६ मई १८५७ को मेरठ में विद्रोह करने पर ८५ भारतीय सिपाहियों को हथकड़ी-बेड़ियाँ पहनाकर जेल भेज दिया गया तो अन्य सिपाही जब उस शाम को घूमने निकले तो मेरठ शहर की स्त्रियों ने उन पर ताने कसे। मुरादाबाद के तत्कालीन जिला जज

* प्रवक्ता, राजकीय बालिका इण्टर कॉलेज, नर्वल, कानपुर

जे.सी. विल्सन ने इस घटना का वर्णन करते हुये लिखा है कि - "महिलाओं ने कहा कि-छि:! तुम्हारे भाई जेल खाने में हैं और तुम यहाँ बाजार में मक्खियाँ मार रहे हो। तुम्हारे जीने पर धिक्कार है।" इतना सुनते ही सिपाही जोश में आ गये और अगले ही दिन १० मई को जेलखाना तोड़कर सभी कैदी सिपाहियों को छुड़ा लिया और उसी रात्रि क्रान्ति का बिगुल बजाते दिल्ली की ओर प्रस्थान कर गये, जहाँ से १८५७ की क्रान्ति की ज्वाला चारों दिशा में फैल गई।

लखनऊ में १८५७ की क्रान्ति का नेतृत्व बेगम हजरत महल ने किया। अपने नाबालिग पुत्र बिरजिस कादर को गद्दी पर बिठाकर उन्होंने अंग्रेजी सेना का स्वयं मुकाबला किया। उनमें संगठन की अभूतपूर्व क्षमता थी और इसी कारण अवध के जमींदार, किसान और सैनिक उनके नेतृत्व में आगे बढ़ते रहे। आलमबाग की लड़ाई के दौरान अपने जांबाज सिपाहियों की उन्होंने भरपूर हौसला आफजाई की और हाथी पर सवार होकर अपने सैनिकों के साथ दिन-रात युद्ध करती रहीं। लखनऊ में पराजय के बाद वह अवध के देहातों में चली गयीं और वहाँ भी क्रान्ति की चिंगारी सुलगायी। घुड़सवारी व हथियार चलाने में माहिर झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की वीरता और शौर्य के किस्से तो जन-जन में सुने जा सकतें हैं। लक्ष्मीबाई का बचपन नाना साहब के साथ कानपुर के बिठूर में बीता। १८५५ में अपने पति राजा गंगाधरराव की मौत के पश्चात् उन्होंने झाँसी का शासन सँभाला पर अंग्रेजों ने उन्हें और उनके दस्तक पुत्र को शासक मानने से इन्कार कर दिया। घुड़सवारी व हथियार चलाने में माहिर रानी लक्ष्मीबाई ने झांसी में ब्रिटिश सेना को कड़ी टक्कर दी और बाद में तात्या टोपे की मदद से ग्वालियर पर भी कब्जा किया। उनकी मौत पर जनरल ह्यूगरोज ने कहा था कि - "यहाँ वह औरत सोयी हुयी है, जो विद्रोहियों में एकमात्र मर्द थी।" मुगल सम्राट बहादुर शाह जफर की बेगम जीनत महल ने दिल्ली और आसपास के क्षेत्रों में स्वातंत्र्य योद्धाओं को संगठित किया और देश प्रेम का परिचय दिया। १८५७ की क्रान्ति का नेतृत्व करने हेतु बहादुर शाह जफर को प्रोत्साहित करने वाली बेगम जीनत महल ने ललकारते हुए कहा था कि - "यह समय गजलें कह कर दिल बहलाने का नहीं है। बिठूर से नाना साहब का पैगाम लेकर देशभक्त सैनिक आए हैं। आज सारे हिन्दुस्तान की आँखें दिल्ली की ओर व आप पर लगी हैं। खानदान-ए-मुगलिया का खून हिन्द को गुलाम होने देगा तो इतिहास उसे कभी क्षमा नहीं करेगा।" बाद में बेगम जीनत महल भी बहादुरशाह जफर के साथ ही वर्मा चली गयीं। इसी प्रकार दिल्ली के शहजादे फिरोजशाह की बेगम तुकलाई सुलतान जमानी बेगम को जब दिल्ली में क्रान्ति की सूचना मिली तो उन्होंने ऐशोआराम का जीवन जीने की बजाय युद्ध शिविरों में रहना पसन्द किया और वहीं से सैनिकों को रसद पहुँचाने तथा घायल सैनिकों की सेवा-शुश्रुषा का प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया। अंग्रेजी हुकूमत इनसे इतनी भयभीत हो गयी थी कि कालान्तर में उन्हें घर में नजरबन्द कर उन पर बम्बई न छोड़ने और दिल्ली प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

बेगम हजरत महल और रानी लक्ष्मीबाई द्वारा गठित सैनिक दल में तमाम महिलायें शामिल थीं। लखनऊ में बेगम हजरत महल द्वारा गठित महिला सैनिक दल का नेतृत्व रहीमी के हाथों में था, जिसने फौजी भेष अपनाकर तमाम महिलाओं को तोप व बन्दूक चलाना सिखाया। रहीमी की अगुवाई में इन महिलाओं ने अंग्रेजों से जमकर लोहा लिया। लखनऊ की तवायफ हैदरीबाई के यहाँ तमाम अंग्रेज अफसर आते थे और कई बार

क्रान्तिकारियों के खिलाफ योजनाओं पर बात किया करते थे। हैदरीबाई ने पेशे से परे अपनी देशभक्ति का परिचय देते हुये इन महत्वपूर्ण सूचनाओं को क्रान्तिकारियों तक पहुँचाया और बाद में वह भी रहीमी के सैनिक दल में शामिल हो गयी। ऐसी ही एक वीरांगना ऊदा देवी भी हुयीं, जिनके पति चिनहट की लड़ाई में शहीद हो गये थे। ऐसा माना जाता है कि डब्ल्यू गार्डन अलक्जेंडर एवं तत्पश्चात क्रिस्टोफर हिबर्ट ने अपनी पुस्तक 'द ग्रेट म्यूटिनी' में सिकन्दरबाग के किले पर हमले के दौरान जिस वीरांगना के साहस का वर्णन किया है, वह ऊदा देवी ही थीं। ऊदा देवी ने पीपल के घने पेड़ पर छिपकर लगभग ३२ अंग्रेज सैनिकों को मार गिराया। अंग्रेज असमंजस में पड़ गये और जब हलचल होने पर कैप्टन वेल्स ने पेड़ पर गोली चलायी तो ऊपर से एक मानवाकृति गिरी। नीचे गिरने से उसकी लाल जैकेट का ऊपरी हिस्सा खुल गया, जिससे पता चला कि वह महिला है। उस महिला का साहस देख कैप्टन वेल्स की आँखे नम हो गयीं और उसने कहा कि यदि मुझे पता होता कि यह महिला है तो मैं कभी गोली नहीं चलाता। ऊदा देवी का जिक्र अमृतलाल नागर ने अपनी कृति 'गदर के फूल' में बकायदा किया है। इसी तरह की एक वीरांगना आशा देवी थीं, जिन्होंने ८ मई १८५७ को अंग्रेजी सेना का सामना करते हुये शहादत पायी। आशा देवी का साथ देने वाली वीरांगनाओं में रनवीरी, वाल्मीकि, शोभा देवी, वाल्मीकि महावीरी देवी, सहेजा वाल्मीकि, नामकौर, राजकौर, हबीबा गुर्जरी देवी, भगवानी देवी, भगवती देवी, इन्द्रकौर, कुशल देवी और रहीमी गुर्जरी इत्यादि शामिल थीं। ये वीरांगनायें अंग्रेजी सेना के साथ लड़ते हुये शहीद हो गयीं।

बेगम हजरत महल के बाद अवध के मुक्ति संग्राम में जिस दूसरी वीरांगना ने प्रमुखता से भाग लिया, वे थीं गोण्डा से ४० किलोमीटर दूर स्थित तुलसीपुर रियासत की रानी राजेश्वरी देवी। राजेश्वरी देवी ने होपग्राण्ट के सैनिक दस्तों से जमकर मुकाबला लिया। अवध की बेगम आलिया ने भी अपने अद्भुत कारनामों से अंग्रेजी हुकूमत को चुनौती दी। बेगम आलिया १८५७ के एक वर्ष पूर्व से ही अपनी सेना में शामिल महिलाओं को शस्त्रकला में प्रशिक्षण देकर सम्भावित क्रान्ति की योजनाओं को मूर्त रूप देने में संलग्न हो गयी थीं। अपने महिला गुप्तचर के गुप्त भेदों के माध्यम से बेगम आलिया ने समय-समय पर ब्रिटिश सैनिकों से युद्ध किया और कई बार अवध से उन्हें भगाया। इसी प्रकार अवध के सलोन जिले में सिमरपहा के तालुकदार वसंत सिंह बैस की पत्नी और बाराबंकी के मिर्जापुर रियासत की रानी तलमुंद कोइर भी इस संग्राम में सक्रिय रहीं। अवध के सलोन जिले में भदरी की तालुकदार ठकुराइन सन्नाथ कोइर ने विद्रोही नाजिम फजल अजीम को अपने कुछ सैनिक व तोपें, तो मनियारपुर की सोगरा बीबी ने अपने ४०० सैनिक और दो तोपें सुल्तानपुर के नाजिम और प्रमुख विद्रोही नेता मेंहदी हसन को दी। इन सभी ने बिना इस बात की परवाह किये हुये कि उनके इस सहयोग का अंजाम क्या होगा, क्रान्तिकारियों को पूरी सहायता दी।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने महिलाओं की एक अलग टुकड़ी 'दुर्गा दल' बनायी थी। इसका नेतृत्व कुश्ती, घुड़सवारी और धनुर्विद्या में माहिर झलकारीबाई के हाथों में था। झलकारीबाई ने कसम उठायी थी कि जब तक झाँसी स्वतंत्र नहीं होगी, न ही मैं श्रृंगार करूंगी और न ही सिन्दूर लगाऊँगी। अंग्रेजों ने जब झाँसी का किला घेरा तो झलकारीबाई जोशो-खरोश के साथ लड़ी। चूँकि उसका चेहरा और कद-काठी रानी लक्ष्मीबाई से काफी मिलता-जुलता था, सो जब उसने रानी लक्ष्मीबाई को घिरते देखा तो उन्हें महल से बाहर निकल जाने

को कहा और स्वयं घायल सिंहनी की तरह अंग्रेजों पर टूट पड़ी और शहीद हो गयीं। झलकारीबाई का जिक्र मराठी पुरोहित विष्णुराव गोडसे की कृति 'माझा प्रवास' में भी मिलता है। रानी लक्ष्मीबाई की सेना में जनाना फौजी इंचार्ज मोतीबाई और रानी के साथ चौबीस घंटे छाया की तरह रहने वाली सुन्दर-मुन्दर और काशीबाई सहित जूही व दुर्गाबाई भी दुर्गा दल की ही सैनिक थीं। इन सभी ने अपनी जान की बाजी लगाकर रानी लक्ष्मीबाई पर आंच नहीं आने दी और अन्तोगत्वा वीरगति को प्राप्त हुयीं।

कानपुर १८५७ की क्रान्ति का प्रमुख गवाह रहा है। पेशे से तवायफ अजीजनबाई ने यहाँ क्रान्तिकारियों की संगत में १८५७ की क्रान्ति में लौ जलायी। १ जून १८५७ को जब कानपुर में नाना साहब के नेतृत्व में तात्याटोपे, अजीमुल्ला खान, बालासाहब, सूबेदार टीका सिंह व शमशुद्दीन खान क्रान्ति की योजना बना रहे थे तो उनके साथ उस बैठक में अजीजनबाई भी थीं। इन क्रान्तिकारियों की प्रेरणा से अजीजन ने मस्तानी टोली के नाम से ४०० वेश्याओं की एक टोली बनायी जो मर्दाना भेष में रहती थीं। एक तरफ ये अंग्रेजों से अपने हुस्न के दम पर राज उगलवातीं, वहीं नौजवानों को क्रान्ति में भाग लेने के लिये प्रेरित करतीं। सतीचौरा घाट से बचकर बीबीघर में रखी गयी १२५ अंग्रेज महिलाओं व बच्चों की रखवाली का कार्य अजीजनबाई की टोली के ही जिम्मे था। बिठूर के युद्ध में पराजित होने पर नाना साहब और तात्याटोपे तो पलायन कर गये लेकिन अजीजन पकड़ी गयी। युद्धबंदी के रूप में उसे जनरल हैवलॉक के समक्ष प्रस्तुत किया गया। जनरल हैवलॉक उसके सौन्दर्य पर रीझे हुये बिना न रह सका और प्रस्ताव रखा कि यदि वह अपनी गलतियों को स्वीकार कर क्षमा माँग ले तो उसे माफ कर दिया जायेगा पर अजीजन ने एक वीरांगना की भाँति उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया और पलटकर कहा कि माफी तो अंग्रेजों को माँगनी चाहिए, जिन्होंने इतने जुल्म ढाये। इतने पर आग बबूला हो हैवलॉक ने अजीजन को गोली मारने के आदेश दे दिये। क्षण भर में ही अजीजन का अंग-प्रत्यंग धरती माँ की गोद में सो गया। इतिहास में दर्ज है कि - "बगावत की सज़ा हँस कर सह ली अजीजन ने, लहू देकर वतन को।" कानपुर के स्वाधीनता संग्राम में मस्तानीबाई की भूमिका भी कम नहीं है। बाजीराव पेशवा के लश्कर के साथ ही मस्तानीबाई बिठूर आई थी। अप्रतिम सौन्दर्य की मलिका मस्तानीबाई अंग्रेजों का मनोरंजन करने के बहाने उनसे खुफिया जानकारी हासिल कर पेशवा को देती थी। नाना साहब की मुँहबोली बेटी मैनावती भी देशभक्ति से भरपूर थी। जब नाना साहब बिठूर से पलायन कर गये तो मैनावती यहीं रह गयी। जब अंग्रेज नाना साहब का पता पूंछने पहुँचे तो मौके पर १७ वर्षीया मैनावती ही मिली। नाना साहब का पता न बताने पर अंग्रेजों ने मैनावती को आग में जिन्दा ही जला दिया।

ऐसी ही न जाने कितनी दास्तान हैं, जहाँ वीरांगनाओं ने अपने साहस व जीवटता के दम पर अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये। मध्यप्रदेश के रामगढ़ की रानी अवन्तीबाई ने १८५७ के संग्राम के दौरान अंग्रेजों का प्रतिकार किया और घिर जाने पर आत्मसमर्पण करने की बजाय स्वयं को खत्म कर लिया। मध्य प्रदेश में ही जैतपुर की रानी ने अपनी रियासत की स्वतंत्रता की घोषणा कर दतिया के क्रान्तिकारियों को लेकर अंग्रेजी सेना से मोर्चा लिया। तेजपुर की रानी भी इस संग्राम में जैतपुर की रानी की सहयोगी बनकर लड़ीं। मुजफ्फरनगर के मुंडभर की महावीरी देवी ने १८५७ के संग्राम में २२ महिलाओं के साथ मिलकर अंग्रेजों पर हमला किया।

अनूप शहर की चौहान रानी ने घोड़े पर सवार होकर हाथों में तलवार लिये अंग्रेजों से युद्ध किया और अनूप शहर के थाने पर लगे यूनियन जैक को उतारकर वीरांगना चौहान रानी ने हरा राष्ट्रीय झंडा फहरा दिया। इतिहास की पड़ताल करने पर ज्ञात होता है कि १८५७ की क्रान्ति के दौरान दिल्ली के आस-पास के गाँवों की लगभग २५५ महिलाओं को मुजफ्फरनगर में गोली से उड़ा दिया गया था।

१८५७ के बाद अनवरत चले स्वतंत्रता आन्दोलन में भी महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया। इतिहास गवाह है कि १९०५ के बंग-भंग आन्दोलन में पहली बार महिलाओं ने खुलकर सार्वजनिक रूप से भाग लिया था। स्वामी श्रद्धानन्द की पुत्री वेद कुमारी और आज्ञावती ने इस आन्दोलन के दौरान महिलाओं को संगठित किया और विदेशी कपड़ों की होली जलाई। कालान्तर में सन् १९३० में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान वेद कुमारी की पुत्री सत्यवती ने भी सक्रिय भूमिका निभाई। सत्यवती ने १९२८ में साइमन कमीशन के दिल्ली आगमन पर काले झण्डों से उसका विरोध किया था। १९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान ही अरूणा आसफ अली तेजी से उभरीं और इस दौरान अकेले दिल्ली से १६०० महिलाओं ने गिरफ्तारी दी। गाँधी इरविन समझौता के बाद जहाँ अन्य आन्दोलनकारी नेता जेल से रिहा कर दिये गये थे वहीं अरूणा आसफ अली को बहुत दबाव पर बाद में छोड़ा गया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान जब सभी बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये, तो कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता एक महिला नेली सेनगुप्त ने की। क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी महिलाओं ने भागीदारी की। १९१२-१४ में बिहार में जतरा भगत ने जनजातियों को लेकर ताना आन्दोलन चलाया। उनकी गिरफ्तारी के बाद उसी गाँव की महिला देवमनियां उरांइन ने इस आन्दोलन की बागडोर सँभाली। १९३१-३२ के कोल आन्दोलन में भी आदिवासी महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभायी थी। स्वाधीनता की लड़ाई में बिरसा मुण्डा के सेनापति गया मुण्डा की पत्नी 'माकी' बच्चे को गोद में लेकर फरसा-बलुआ से अंग्रेजों से अन्त तक लड़ती रहीं। १९३०-३२ में मणिपुर में अंग्रेजों के विरूद्ध सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व नागा रानी गुइंदाल्यू ने किया। इनसे भयभीत अंग्रेजों ने इसकी गिरफ्तारी पर पुरस्कार की घोषणा की और कर माफ करने के आश्वासन भी दिये। १९३० में बंगाल में सूर्यसेन के नेतृत्व में हुये चटगाँव विद्रोह में युवा महिलाओं ने पहली बार क्रान्तिकारी आन्दोलनों में स्वयं भाग लिया। ये क्रान्तिकारी महिलायें क्रान्तिकारियों को शरण देने, संदेश पहुँचाने और हथियारों की रक्षा करने से लेकर बन्दूक चलाने तक में माहिर थीं। इन्हीं में से एक प्रीतीलता वाडेकर ने एक यूरोपीय क्लब पर हमला किया और कैद से बचने हेतु आत्महत्या कर ली। कल्पनादत्त को सूर्यसेन के साथ ही गिरफ्तार कर १९३३ में आजीवन कारावास की सजा सुनायी गयी और ५ साल के लिये अण्डमान की काल कोठरी में कैद कर दिया गया। दिसम्बर १९३१ में कोमिल्ला की दो स्कूली छात्राओं-शान्ति घोष और सुनीति चौधरी ने जिला कलेक्टर को दिनदहाड़े गोली मार दिया और काला पानी की सजा हुई तो ६ फरवरी १९३२ को बीना दास ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में उपाधि ग्रहण करने के समय गवर्नर पर बहुत नजदीक से गोली चलाकर अंग्रेजी हुकूमत को चुनौती दी। सुहासिनी अली तथा रेणुसेन ने भी अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों से १९३०-३४ के मध्य बंगाल में धूम मचा दी थी।

चन्द्रशेखर आजाद के अनुरोध पर 'दि फिलॉसफी ऑफ बम' दस्तावेज तैयार करने वाले

क्रान्तिकारी भगवतीचरण वोहरा की पत्नी 'दुर्गा भाभी' नाम से मशहूर दुर्गा देवी बोहरा ने भगत सिंह को लाहौर जिले से छुड़ाने का प्रयास किया। १६२८ में जब अंग्रेज अफसर साण्डर्स को मारने के बाद भगत सिंह व राजगुरू लाहौर से कलकत्ता के लिये निकले, तो कोई उन्हें पहचान न सके इसलिये दुर्गा भाभी की सलाह पर एक सुनियोजित रणनीति के तहत भगत सिंह उनके पति, दुर्गा भाभी उनकी पत्नी और राजगुरू नौकर बनकर वहाँ से निकल गये। १६२७ में लाला लाजपतराय की मौत का बदला लेने के लिये लाहौर में बुलायी गई बैठक की अध्यक्षता दुर्गा भाभी ने की। बैठक में अंग्रेज पुलिस अधीक्षक जे. ए. स्कॉट को मारने का जिम्मा वे खुद लेना चाहती थीं, पर संगठन ने उन्हें यह जिम्मेदारी नहीं दी। बम्बई के गवर्नर हेली को मारने की योजना में टेलर नामक एक अंग्रेज अफसर घायल हो गया, जिस पर गोली दुर्गा भाभी ने ही चलायी थी। इस केस में उनके विरूद्ध वारण्ट भी जारी हुआ और दो वर्ष से ज्यादा समय तक फरार रहने के बाद १२ सितम्बर १६३१ को दुर्गा भाभी लाहौर में गिरफ्तार कर ली गयीं। यह संयोग ही कहा जायेगा कि भगत सिंह और दुर्गा भाभी, दोनों की जन्म शताब्दी वर्ष २००७ में ही पड़ रही है। क्रान्तिकारी आन्दोलन के दौरान सुशीला दीदी ने भी प्रमुख भूमिका निभायी और काकोरी काण्ड के कैदियों के मुकदमे की पैरवी के लिये अपनी स्वर्गीय माँ द्वारा शादी की खातिर रखा १० तोला सोना उठाकर दान में दिया। यही नहीं उन्होंने क्रान्तिकारियों का केस लड़ने हेतु 'मेवाड़पति' नामक नाटक खेलकर चन्दा भी इकट्ठा किया। १६३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में 'इन्दुमति' के छद्म नामसे सुशीला दीदी ने भाग लिया और गिरफ्तार हुयीं। इस प्रकार हसरत मोहानी को जब जेल की सजा मिली तो उनके कुछ दोस्तों ने जेल की चक्की पीसने के बजाय उनसे माफी मांगकर छूटने की सलाह दी। इसकी जानकारी जब बेगम हसरत मोहानी को हुई तो उन्होंने पति की जमकर हौसला आफजाई की और दोस्तों को नसीहत भी दी। मर्दाना वेष धारण कर उन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन में खुलकर भाग लिया और बाल गंगाधर तिलक के गरम दल में शामिल होने पर गिरफ्तार कर जेल भेज दी गयी, जहाँ उन्होंने चक्की भी पीसी। यही नहीं महिला मताधिकार को लेकर १६१७ में सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में वायसराय से मिलने गये प्रतिनिधिमण्डल में वह भी शामिल थीं।

१६२५ में कानपुर में हुये कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता कर 'भारत कोकिला' के नाम से मशहूर सरोजिनी नायडू को कांग्रेस की प्रथम भारतीय महिला अध्यक्ष बनने का गौरव प्राप्त हुआ। सरोजिनी नायडू ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास में कई पृष्ठ जोड़े। कमला देवी चट्टोपाध्याय ने १६२१ में असहयोग आन्दोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया। इन्होंने बर्लिन में अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व कर तिरंगा झंडा फहराया। १६२१ के दौर में अली बन्धुओं की माँ बाई अमन ने भी लाहौर से निकल तमाम महत्वपूर्ण नगरों का दौरा किया और जगह-जगह हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश फैलाया। सितम्बर १६२२ में बाई अमन ने शिमला दौरे के समय वहाँ की फैशनपरस्त महिलाओं को खादी पहनने की प्रेरणा दी। १६४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी महिलाओं ने प्रमुख भूमिका निभायी। अरूणा आसफ अली व सुचेता कृपलानी ने अन्य अन्दोलनकारियों के साथ भूमिगत होकर आन्दोलन को आगे बढ़ाया तो ऊषा मेहता ने इस दौर में भूमिगत रहकर कांग्रेस-रेडियो से प्रसारण किया। अरूणा आसफ अली को तो १६४२ में उनकी सक्रिय भूमिका के कारण 'दैनिक ट्रिब्यून' ने '१६४२ की रानी झाँसी' नाम दिया। अरूणा आसफ

अली 'नमक कानून तोड़ो आन्दोलन' के दौरान भी जेल गयीं। १९४२ के आन्दोलन के दौरान ही दिल्ली में 'गर्ल गाइड' की २४ लड़कियां अपनी पोशाक पर विदेशी चिन्ह धारण करने तथा यूनियन जैक फहराने से इनकार करने के कारण अंग्रेजी हुकूमत द्वारा गिरफ्तार हुई और उनकी बेदर्दी से पिटाई की गयी। इसी आन्दोलन के दौरान तमलुक की ७३ वर्षीया किसान विधवा मातंगिनी हाजरा गोली लग जाने के बावजूद राष्ट्रीय ध्वज को अन्त तक ऊँचा रखा।

महिलाओं ने परोक्ष रूप से भी स्वतंत्रता संघर्ष में प्रभावी भूमिका निभा रहे लोगों को सराहा। सरदार वल्लभ भाई पटेल को 'सरदार' की उपाधि बारदोली सत्याग्रह के दौरान वहाँ की महिलाओं ने ही दी। महात्मा गाँधी को स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान उनकी पत्नी कस्तूरबा गाँधी ने पूरा समर्थन दिया। उनकी नियमित सेवा व अनुशासन के कारण ही महात्मा गाँधी आजीवन अपने लम्बे उपवासों और विदेशी चिकित्सा के पूर्ण निषेध के बावजूद स्वस्थ रहे। अपने व्यक्तिगत हितों को उन्होंने राष्ट्र की खातिर तिलांजलि दे दी। भारत छोड़ो आन्दोलन प्रस्ताव पारित होने के बाद महात्मा गाँधी को आगा खाँ पैलेस (पूना) में कैद कर लिया गया। कस्तूरबा गाँधी भी उनके साथ जेल गयीं। डॉ. सुशील नैयर, जो कि गाँधी जी की निजी डाक्टर भी थीं, भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान १९४२-४४ तक महात्मा गाँधी के साथ जेल में रहीं।

इन्दिरा गाँधी ने ६ अप्रैल, १९३० को बच्चों को लेकर 'वानर सेना' का गठन किया, जिसने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान अपना अद्भुत योगदान दिया। यह सेना स्वतंत्रता सेनानियों को सूचना देने और सूचना लेने का कार्य करती व हर प्रकार से उनकी मदद करती। विजयलक्ष्मी पण्डित भी गाँधी जी से प्रभावित होकर जंग-ए-आजादी में कूद पड़ीं। वह हर आन्दोलन में आगे रहती, जेल जाती, रिहा होती, और फिर आन्दोलन में जुट जाती। १९४५ में संयुक्त राष्ट्र संघ के सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में विजयलक्ष्मी पण्डित ने भारत का प्रतिनिधित्व भी किया। सुभाषचन्द्र बोस की "आरजी हुकूमते आजाद हिन्द सरकार" में महिला विभाग की मंत्री तथा आजाद हिन्द फौज की रानी झाँसी रेजीमेण्ट की कमाण्डिंग ऑफिसर रहीं कैप्टन लक्ष्मी सहगल ने आजादी में प्रमुख भूमिका निभायी। सुभाष चन्द्र बोस के आहवान पर उन्होंने सरकारी डॉक्टर की नौकरी छोड़ दी। कैप्टन सहगल के साथ आजाद हिन्द फौज की रानी झाँसी रेजीमेण्ट में लेफ्टिनेंट रही ले. मानवती आर्य्या ने भी सक्रिय भूमिका निभायी। अभी भी ये दोनों सेनानी कानपुर में तमाम रचनात्मक गतिविधियों में सक्रिय हैं।

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की गूँज भारत के बाहर भी सुनायी दी। विदेशों में रह रही तमाम महिलाओं ने भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर भारत व अन्य देशों में स्वतंत्रता आन्दोलन की अलख जगायी। लन्दन में जन्मीं एनीबेसेन्ट में 'न्यू इण्डिया' और 'कामन वील' पत्रों का सम्पादन करते हुये आयरलैण्ड के 'स्वराज्य लीग' की तर्ज पर सितम्बर १९१६ में 'भारतीय स्वराज्य लीग' (होमरूल लीग) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य स्वशासन स्थापित करना था। एनीबेसेन्ट को कांग्रेस की प्रथम महिला अध्यक्ष होने का गौरव भी प्राप्त है। एनीबेसेन्ट ने ही १९९८ में बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की नींव रखीं, जिसे १९१६ में महामना मदनमोहन मालवीय ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया। भारतीय मूल की फ्रांसीसी नागरिक मैडम भीकाजी कामा ने लन्दन, जर्मनी तथा अमेरिका का भ्रमण कर भारत की स्वतंत्रता के पक्ष में माहौल बनाया। उनके द्वारा पेरिस से प्रकाशित 'वन्देमातरम्' पत्र प्रवासी भारतीयों में काफी लोकप्रिय हुआ। १९०९ में जर्मनी

के स्टटगार्ट में हुयी अन्तर्राष्ट्रीय सोशलिस्ट कांग्रेस में मैडम भीकाजी कामा ने प्रस्ताव रखा कि - "भारत में ब्रिटिश शासन जारी रहना मानवता के नाम पर कलंक है। एक महान देश भारत के हितों को इससे भारी क्षति पहुँच रही है।" उन्होंने लोगों से भारत को दासता से मुक्ति दिलाने में सहयोग की अपील की और भारतवासियों का आह्वान किया कि - "आगे बढ़ो, हम हिन्दुस्तानी हैं और हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का है।" यही नहीं मैडम भीकाजी कामा ने इस कांफ्रेंस में 'वन्देमातरम्' अंकित भारतीय ध्वज फहराकर अंग्रेजों को कड़ी चुनौती दी। मैडम भीकाजी कामा लन्दन में दादाभाई नौरोजी की प्राइवेट सेक्रेटरी भी रहीं। आयरलैंड की मूल निवासी और स्वामी विवेकानन्द की शिष्या मारग्रेट नोबुल (भगिनी निवेदिता) ने भी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में तमाम मौकों पर अपनी सक्रियता दिखायी। कलकत्ता विश्वविद्यालय में ११ फरवरी १६०५ को आयोजित दीक्षान्त समारोह में वायसराय लॉर्ड कर्जन द्वारा भारतीय युवकों के प्रति अपमानजनक शब्दों का उपयोग करने पर भगिनी निवेदिता ने खड़े होकर निर्भीकता के साथ प्रतिकार किया। इंग्लैण्ड के ब्रिटिश नौसेना के एडमिरल की पुत्री मैडेलिन ने भी गाँधी जी से प्रभावित होकर भारत को अपनी कर्मभूमि बनाया। 'मीरा बहन' के नाम से मशहूर मैडेलिन भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान महात्मा गाँधी के साथ आगा खाँ महल में कैद रहीं। मीरा बहन ने अमेरिका व ब्रिटेन में भारत की स्वतंत्रता के पक्ष में माहौल बनाया। मीरा बहन के साथ-साथ ब्रिटिश महिला म्यूरियल लिस्टर भी गाँधी जी से प्रभावित होकर भारत आयीं और अपने देश इंग्लैण्ड में भारत की स्वतंत्रता के पक्ष में माहौल बनाने का प्रयास किया। द्वितीय गोलमेज कांफ्रेंस के दौरान गाँधी जी इंग्लैण्ड में म्यूरियल लिस्टर द्वारा स्थापित 'किंग्सवे हॉल' में ही ठहरे थे। इस दौरान म्यूरियल लिस्टर ने गाँधी जी के सम्मान में एक भव्य समारोह भी आयोजित किया था।

इन वीरांगनाओं के अनन्य राष्ट्रप्रेम, अदम्य साहस, अटूट प्रतिबद्धता और उनमें से कईयों का गौरवमयी बलिदान भारतीय इतिहास की एक जीवन्त दास्तां है। हो सकता है उनमें से कईयों को इतिहास ने विस्मृत कर दिया हो, पर लोक चेतना में वे अभी भी मौजूद हैं। ये वीरांगनायें प्रेरणास्रोत के रूप में राष्ट्रीय चेतना की संवाहक हैं और स्वतंत्रता संग्राम में इनका योगदान अमूल्य एवं अतुलनीय है।

संगीत

सांगीतिक परिप्रेक्ष्य में गुरु शिष्य परंपरा की प्रासंगिकता

*डॉ. ज्योति सिन्हा

क्या ? कैसे ? क्यों ? कहाँ ? जब से मन-मस्तिष्क में ये विचार अंकुरित हुये हैं, कहीं न कहीं यह जिज्ञासा जानने की उभरती रही है। आकृति ने जन्म दिया जिज्ञासा को, जिज्ञासा ने शिष्यवृत्ति को और शिष्यवृत्ति ने खोज की 'गुरू' की। सर्वप्रथम मनुष्य ने अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्रकृति से पाया। उसने प्रकृति को अपना प्रथम गुरू माना और तभी से चली आ रही है- गुरू शिष्य परम्परा। हमारी यह परम्परा कितनी पुरानी है, यह बताना मुश्किल है। शायद मानव जन्म के साथ और जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता गया, यह मुखरित हुआ।

हमारा देश आध्यात्मिक और धार्मिक पक्ष से प्रबल होने के कारण, पौराणिक युग में ऋषि-मुनी-तपस्वी अपनी तपस्या व साधना से आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करते थे तथा अपने शरीर व मन को ईश्वर ध्यान में समर्पित करते थे। इनके आदि गुरू ब्रह्मा थे जिन्होंने वेदों का सार यानि ईश्वर की वाणी अपने चतुर्मुख से सर्वप्रथम उद्घोषित की और तत्पश्चात् मुनि पराशर के पुत्र महर्षि वेद व्यास ने वेद के चारों अंगों को विभाजित किया - ऋग्वेद, यर्जुवेद, सामवेद, अर्थवेद। सृष्टि, स्थिति और प्रलय का ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा जी के मुख-मंडल से प्राप्त हुआ, जो कि हमारे आदि गुरू हैं। वेदों में संकलित ज्ञान-विज्ञान के विशाल भंडार को गुरूमुखी विद्या की संज्ञा दे सकते हैं।

वेदो में 'सामवेद' जिसे संगीत का वेद माना जाता है, से 'सामगान' की सृष्टि हुई जो आध्यात्मिक संगीत है। संगीत स्वयं प्रकृति का अनमोल वरदान है, जिसे मानव ने अपनी अनुभूतियों प्रयोगों से प्राप्त किया तथा साधना तपस्या से इसे नियमबद्ध किया जिसके फलस्वरूप संगीत का क्रमबद्ध विकास हुआ। इस उत्तरोत्तर विकास में महती भूमिका निभाई गुरू-शिष्य परम्परा ने।

भारतीय दर्शन, चिन्तन एवं आध्यात्मिक परम्परा में मानव जीवन का लक्ष्य अंततः ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति माना जाता रहा है। मनीषियों ने समस्त साधनों में संगीत कला को ईश्वर प्राप्ति का सबसे उच्च एवं सुलभ साधन माना है। संगीत के आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' माना है। चूंकि हमारा देश आध्यात्मिक पक्ष से ओत-प्रोत है, हमारे संगीत का उद्देश्य भी पारलौकिक आनन्द को प्राप्त करना है। भारतीय संगीत की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक विकास, धार्मिक ऐश्वर्य और जीवन के स्वाभाविक विकास पर आधारित है, इसलिये संगीत का वातावरण भी पवित्र माना गया है। भारतीय संगीत जिसका बीज भक्ति-भावनापूर्ण धरती पर अंकुरित हुआ, पुष्पित-पल्लवित हुआ और आज एक विशालकाय वट-वृक्ष के रूप में सर्वत्र फैला हुआ है। महादेव निर्मित यह कला माधुर्य रस की वर्षा करने वाली है। संगीत की अधिष्ठात्री माँ सरस्वती ने इसे नारदमुनि को दिया, नारदमुनि ने गन्धर्वों, अप्सराओं इत्यादि को। इस प्रकार ज्ञान देने और उसे आगे बढ़ाने की प्रक्रिया चली। संगीत कला का क्रमबद्ध विकास इस गुरू-शिष्य परम्परा के विकास का एक उदाहरण है।

* प्रवक्ता, संगीत, भारती महिला पी.जी. कॉलेज, जौनपुर (उ. प्र.)

गुरू-शिष्य परम्परा हमारे जीवन के सभी अंगो में भरी है। हमारे सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था का यह एक व्यवहारिक तत्व है। हमारी परंपरा में 'गुरू' की महिमा अपरंपार है। "गुरू ब्रह्मा:, गुरू विष्णु:, गुरू देवो महेश्वरः ......" यह मंत्र हम प्रारम्भ से आध्यात्मिक साधना में जपते आये हैं। सद्गुरू का वंदन करते हुये उन्हें 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' की उपमा दी जाती है। श्री गुरू चरण-कमल भी वंदनीय है।

संस्कृत भाषा का शब्द 'गुरू' दो वर्णों के मेल से बना है। 'गु' का अर्थ है - अंधकार और 'रू' का अर्थ है - मिटाने वाला। अर्थात अंधकार को मिटाने वाला, अंधकार का नाश करने वाला। यूं समझें तो शिष्य के अज्ञान रूपी अंधकार को जो दूर करता है, उसमें अलौकिक ज्ञान का प्रकाश भरता है, वह 'गुरू' कहलाता है। गुरू यानि शिक्षा देने वाला व्यक्ति, एक विशिष्ट संज्ञा बन गई। गुरू की महत्ता जीवन के सभी अंगों में भरी है। गुरू की श्रद्धा हमारी संस्कृति का एक चिरस्थायी पहलू है।

गुरू का दर्जा भगवान के बराबर माना जाता रहा और कहीं-कहीं कवियों ने तो गुरू को भगवान से भी ऊपर माना क्योंकि गुरू व्यक्ति और सर्वशक्तिमान के बीच एक कड़ी का काम करता है। साधना, अभ्यास एवं तपस्या के मार्ग में सद्गुरू का आशीर्वाद उसे आगे उच्च्य शिखर तक ले जाता है। गुरू का ज्ञान, सानिध्य, स्नेह शिष्य के जीवन का एक सशक्त अवलम्बन है। एक शिष्य के लिये गुरू 'अभेद्य-कवच' के समान है जो उसके साधना मार्ग में आने वाले अवरोधों, विघ्नों को दूर करने हेतु सक्षम बनाता है तथा उसके अंतः शक्ति से उसका परिचय कराकर उसके आत्मबल को जाग्रत करता है।

वैदिक-अवैदिक असंख्य उद्धरणों में गुरू की महिमा सर्वविदित है। विश्व के सभ्य समाज में जाति, धर्म, भाषा, कला के आधार पर हर कहीं कोई पैगम्बर, देवदूत, गुरू, सही अर्थों में जीवन जीने की शैली का पथ प्रदर्शक बनकर समाज का कल्याण करता रहा है। सही मायने में, सच्चे अर्थों में गुरू वह है जिसके शब्दों तथा वाणी रूपी चोट से शिष्य के अंतःकरण की सोयी हुई चेतना जाग्रत हो जाये। शिष्य कितना ही परिश्रम कर ले परन्तु गुरू के ज्ञान दान के बिना अधूरा है। गुरू कृपा वह पारसमणि है जिसके स्पर्श से मूल्यहीन वस्तु भी मूल्यवान है। गुरू ने अपनी साधना, अभ्यास और प्रयोग से जो जाना, उसे अपने शिष्यों को दिया। शिष्यों ने अपने गुरू द्वारा प्रदत्त अमूल्य निधि को सहेजा-संवारा, इसे अपनी साधना से और अधिक पुष्पित-पल्लवित, विकसित व वितरित किया। इस प्रकार यह क्रम आज तक चलता आ रहा है।

यद्यपि अन्य सभी विषयों में ज्ञानोपार्जन के लिये गुरू की आवश्यकता सर्वस्वीकृत मानी गई है, परन्तु संगीत जैसी अमूर्त विद्या के लिये, जो सिर्फ अनुभूति का विषय है, गुरू की अनिवार्यता एवं महत्ता और भी बढ़ जाती है। यह एक ऐसी प्रयोग प्रधान कला है जिसका केवल शास्त्र या व्याकरण जानने से कला का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अन्य कोई विषय बहुत हद तक ग्रन्थों, पुस्तकों, पत्रिकाओं, लेखकों, साहित्यकारों के उद्धरणों मात्र से समझा जा सकता है। परन्तु संगीत के साथ ऐसा नहीं है। कारण कि इसके सैद्धान्तिक पहलुओं को तो गहन अध्ययन के पश्चात शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है परन्तु भाव पक्ष का जीवन्त प्रमाण देना एक अच्छे गुरू के पथ-प्रदर्शन में की गई कठोर साधना, अभ्यास, रियाज के उपरान्त ही सम्भव है। वस्तुतः संगीत तो मूलतः एक प्रायोगिक विधा है जो साधना के बिना अकल्पनीय है, जिसके लिए एक अदद गुरू की नितान्त आवश्यकता होती है। इसीलिये संगीत को 'गुरूमुखी' विद्या कहा जाता है।

संगीत की भावनात्मक प्रकृति को समझने के लिए मौखिक रूप से गुरू के मुख से सुनना पड़ता है। संगीत में सीना-ब-सीना तालीम का महत्व है। गुरू शिष्य में अपना प्रतिबिम्ब देखता है। अन्य अनेक कारणों से संगीत में गुरू का महत्व अनन्य रूप से सदियों से चलता आ रहा है।

प्राचीन काल में गुरू-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत गुरूकुलों की आदर्श व्यवस्था रही है। विद्यार्थी कुमार को बाल्यकाल में ही गुरूकुल जाना पड़ता था। वहाँ निष्पक्ष, निष्ठावान, सुचरित्र एवं सुयोग्य गुरू के सानिध्य में स्वाध्याय, साधना, तपश्चर्या करते हुये कला में पारंगत होना एवं गुरू की पूर्ण संतुष्टि ही वास्तविक गुरू दक्षिणा थी। गुरू आश्रम में बिना वर्ग भेद के शिक्षा व्यवस्था का उनमुक्त पवित्र वातावरण औदार्य, शुचिता, सहिष्णुता, गुरूभक्ति, श्रद्धा, सखा प्रेम इत्यादि मानवीय गुणों का अमिट प्रभाव शिष्य के मानस-पटल पर अंकित हो जाती थी। समदृष्टि, समभाव से विद्या दान के आदान-प्रदान की प्राचीन व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वार्थ, पदलोलुपता, चाटुकारिता का गुरू-शिष्य के सम्बन्धों में लेश मात्र भी प्रभाव नहीं था। माता-पिता केवल जन्म देते हैं परन्तु गुरू ही व्यक्ति को धर्मपूत सार्थक जीवन बिताने के लिये समर्थ बनाता है। सभी रिश्तों से बढ़कर गुरू को माना गया। पैतृक नाम से भी अधिक गुरू के नाम से व्यक्ति को जाना गया। प्रत्येक गुरूकुल की अपनी विशेषता होती थी जो शिष्य परंपरा से पीढ़ियों में सुरक्षित रखी जाती थी।

संगीत कला के परिप्रेक्ष्य में वैदिक काल में यज्ञानुष्ठान में वेद मंत्र विशिष्ट शैली में गाये जाते थे। याज्ञिन गायन वादन की शिक्षा ही संगीत में गुरू-शिष्य परम्परा की आरम्भिक स्थिति मानी जा सकती है। शनैः शनैः यह परम्परा उचित रीति से चलती रही। परन्तु मध्य युग तक आते-आते हमारी जीवन पद्धति बदलने के साथ-साथ राजनीतिक उथल-पुथल भी रहा जिसके फलस्वरूप सर्वत्र मुसलमानी सत्ता स्थापित हो गयी। परिवर्तन प्रकृति का आवश्यक नियम है जिससे हमारा संगीत जगत भी अछूता नहीं रहा। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में अधिक नियमबद्धता, जटिलता एवं कठोरता आती गयी। किसी कारणवश गुरूकुल के नियमों में शिथिलता बरतने जाने पर शिष्यों को गुरूकुल से बाहर कर दिया जाता। जिस कारण बहुत से शिष्य इस परम्परा से विमुख होते गये। शिष्यों में दबा हुआ असंतोष जन्मा । विद्वेष की भावना से ग्रसित इन शिष्यों ने अपने पुत्रों को गुरूकुलों में भेजना बंद कर दिया तथा अपने ग्राम एवं नगर में ही विद्यालय चलाना आरम्भ कर दिया। इन विद्यार्थियों शिक्षक हुये में शिक्षक हुये, वही असंतुष्ट विद्यार्थी। इस प्रकार एक पवित्र परंपरा में सर्वप्रथम विकृति आई।

अनेक हिन्दु-मुस्लिम शासकों ने अपने समय में कला को पूर्ण प्रोत्साहन एवं कलाकारों को संरक्षण दिया। उच्चकोटि के संगीतज्ञों से दरबार की शोभा बढ़ाना भी इन शासकों का उद्देश्य रहा। मुगल शासकों की कलाप्रियता सर्वविदित है। परन्तु दरबारी संरक्षण पाकर यह एक वर्ग विशेष तक सीमित हो गया। दरबारी कलाकारों का एक नया वर्ग पैदा हुआ और राज्याश्रय के कारण उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी। कुछ चाटुकार धन-पद लोलुप एवं पेशेवर लोगों की वजह से संगीत कला की सामाजिक स्थिति में गिरावट आई। मान्यता प्राप्त दरबारी कलाकारों को 'गुरू' का स्थान दिया जाना क्रम प्राप्त था। इन दरबारी उस्तादों का भी संगीत पर बुरा असर हुआ। दरबारों में संगीत की कलात्मक प्रगति तो हुयी पर इनका सांस्कृतिक संदर्भ छूट गया। वह एक विलासी कला बन गई। अतः उस्तादों की कला भले ही ऊँचे दर्जे की रही हो

परन्तु उनका बौद्धिक एवं सामाजिक जीवन स्तर धीरे-धीरे गिरता गया। प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार विद्वता, चारित्र्य निःस्पृहता, विद्यादान इत्यादि जो गुण गुरू के पास होने चाहिये, वो कम होते गये।

असंस्कृतता, चाटुकारिता, लोलुपता, व्यसनाधीनता, संकीर्णता इत्यादि दुर्गुण इनके पास पनपने लगे। शागीर्दों-शिष्यों के प्रति इनका व्यवहार कठोर एवं उपेक्षापूर्ण रहा। 'सेवा' के पश्चात् 'कुछ' सिखा देना उनके लिये बहुत था। संकीर्ण मानसिकता की वजह से अपनी कला मार्मिक का मार्मिक भाग छुपा लेते थे अर्थात् पूर्ण रूप से नहीं सिखाते थे। 'जिसने पाया उसने छुपाया' वाला युग हो गया।

जब तक राजा, महाराजा, नबाब, जमींदार तथा रईस आदि संगीत को प्रोत्साहन एवं संगीतज्ञों का प्रतिपालन करते थे तब तक संगीत की सेवा आर्थिक स्वार्थों से मुक्त थीं। बाद में बदलते परिवेश में इन नबाबों, जमींदारों के पास इतना धन नहीं रहा कि वे कलाकार को संरक्षण देकर उनका आर्थिक भार अपने ऊपर ले सकें। अतः राज्याश्रय समाप्त होने के पश्चात इन कलाकारों के समक्ष आर्थिक समस्या खड़ी हो गई। अंग्रेजों ने इस सांस्कृतिक उथल-पुथल में विशेष रूचि नहीं दिखाई। ऐसी अवस्था में अनेक गायकों-वादकों को 'तवायफों' ने अपने कोठों पर शरण दिया। 'मुजरा संगीत' की वजह से संगीत की सामाजिक स्थिति खराब हुई। आम जनमानस ने संगीत को अच्छा नहीं माना। ऐसे में संगीत गुरू के सामाजिक स्थिति पर भी प्रभाव पड़ा।

ऐसी विकट परिस्थिति में 'घराने' ने जन्म लिया और इन घरानों के माध्यम से गुरू-शिष्य परम्परा कायम रही। खास शैलियां इन घरानों द्वारा जतन की गईं। अपने-अपने घराने की निजी विशेषता रही जो शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती गयी। इस घरानेबंदी से सदियों तक हमारा संगीत बलिष्ठ हुआ।

आज वर्तमान समय में स्थिति काफी बदल गई है। अब तो, न प्राचीन गुरूकुल पद्धति रही, न खानदानी रस्मों-रिवाज। शिक्षा के बढ़ते प्रचार-प्रसार में संगीत कला को भी विषय रूप में विश्वविद्यालयीन स्तर तक स्वीकार किया गया। संगीत सर्वसुलभ हुआ तथा समाज में व्याप्त संगीत के प्रति हेय एवं तुच्छ दृष्टिकोण को दूर कर, इसे उच्च स्थिति में पहुँचाया गया, जिसका श्रेय अनेक गुरूओं को जाता है। बालकृष्ण बुआ इचल करंजीकर पं. भातखण्डे, पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, पं. ओमकार नाथ ठाकुर, इत्यादि अनेक गुरूओं ने संगीत को सम्मान जनक स्थान दिलाने और विकास में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। आज से ५०-६० वर्ष पूर्व गुरू-शिष्य की परम्परा में पौराणिक युग की बहुधा झलक देखने को मिलती थी। उदाहरण स्वरूप स्वामी हरिदास, बैजुबावरा, गोपाल नायक, तानसेन, पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर, उ. अल्लाउद्दीन खाँ, पं. ओमकार नाथ ठाकुर जैसे बिरले संगीत गुरू पौराणिक गुरूओं का आदर्श निभाते थे।

आज संगीत सीखने की सर्वत्र अनेकों सुविधायें उपलब्ध हुयी हैं। लोगों की संगीत के प्रति अभिरूचि बढ़ी है। 'गुरू' के स्थान पर डिग्रियां पाये हुये शिक्षकों की भरमार हो गई है। वे यंत्रवत अपने शिक्षण कार्य को पूरा करते हैं तथा पाठ्यक्रम पूरा कराकर कार्य की इतिश्री समझ लेते हैं।

गुरू शिष्य परम्परा के हिमायती अनेक गुरूओं व संगीतानुरागियों ने आपत्ति भी उठाई कि विद्यालयों में सीखने से संगीत की जानकारी एवं अभिरूचि कितनी भी बढ़े, वह कलाकार नहीं बन

सकता। इस आपत्ति में काफी दृढ़ तक गुरू-शिष्य परम्परा का पूर्वाग्रह भी है। संगीत व्यक्तिनिष्ठ, व्यक्तिपरक कला है, समूह परक नहीं, जिसमें विनिपात व्यक्ति से व्यक्ति में होता है।

आज बदलते परिवेश में वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत गुरू-शिष्य के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों के बीच परस्पर विश्वास, आदर, श्रद्धा, स्नेह एवं गुरूभक्ति का भाव प्रायः लुप्त होता जा रहा है। गुरू-शिष्य के मध्य जो शालीनता, मर्यादा दिखाई देती थी आज उसका अभाव है। इस स्थिति के लिये दोनों पक्ष जिम्मेदार हैं। शिष्यों को भी धैर्य, लगन, उत्साह, सीखने की आकांक्षा व गुरूभक्ति भाव में कमी आई है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से गुरू की प्रतिष्ठा एवं सम्मान में भी बदलाव आया है। आज अनेक उभरते कलाकार सिर्फ नाम के लिये अपने नाम को किसी ख्यातिलब्ध कलाकार के नाम से जोड़ना चाहते हैं। मन में बैठी गुरू के प्रति प्राचीन धारणा से चिपके रहने की प्रवृत्ति से हमारे मन में विसंगति सी पैदा हो गयी। गुरू के प्रति हमारी श्रद्धा खोखली सी प्रतीत हो रही है। हम उसे छोड़ना नहीं चाहते क्योंकि वह हमारी पंरपरागत मानसिकता का विषय है।

यद्यपि ये स्थितियां मुख्य रूप से विद्यालयों में गुरू-शिष्य सम्बन्धों में उजागर होती हैं। संगीत की जो शिक्षा व्यवस्था है उसके अन्तर्गत गुरू-शिष्य सम्बन्धों में आये, समसामयिक परिवर्तनों के कारण उनके परस्पर श्रद्धा, आदर, स्नेह का अभाव परोक्ष-अपरोक्ष रूप से अवश्य स्थापित होता जा रहा है, जिसके लिये गुरू-शिष्य, शिक्षा पद्धति, आधुनिक परिवेश मानसिकता सभी विषय-अवयव उत्तरदायी है।

इन सबसे अलग यदि ध्यान दें तो हम यह भी देखते हैं कि कई स्थानों, घरानों खानदानी गवैयों, वादकों के परिवारों में वही गुरू शिष्य परम्परा प्रवाहित हो रही है। विद्यालयीन शि से इनका कोई सरोकार नहीं। गुरू वैसे ही अपने शिष्यों को सिखा रहे हैं जैसा उन्होंने अपने गुरूओं से सीखा। बनारस, कलकत्ता इत्यादि स्थानों पर आज भी इस परंपरा का निर्वाह करने वाले गुरू-शिष्य हैं। आज भी गुरू-पूर्णिमा के दिन गुरू पूजा का विधान सदियों से चला आ रहा है, जहां पर गुरू-शिष्य परंपरा का साकार रूप परिलक्षित होता है।

आज आवश्यकता है इस परम्परा से प्रेरणा लेने की। यद्यपि इस परम्परा को वर्तमान वातावरण में स्थापित करना तो दुष्कर है। किन्तु गुरू-शिष्य के मधुर एवं मर्यादित सम्बन्ध को ध्यान में रखकर उसे मूर्त रूप देने का प्रयास करना चाहिये। समाज में गुरू का एक राष्ट्र-निर्माता के रूप में सम्मानजनक स्थान स्थापित होना चाहिये। कबीर दास जी का वह दोहा -

"गुरू गोविन्द दोउ खड़े, काकेलागूं पायं।
बलिहारी गुरू आपनो, गोविन्द दियो बताय।।"

गुरू की जिस महत्ता का बखान करता है उसे अपनाकर दोहे के सारगर्भित अर्थों को जीवन में आत्मसात् करने का प्रयास करना चाहिये जिससे हमारी गुरू-शिष्य परम्परा एवं संगीत की पवित्रता तथा भारतीय सभ्यता-संस्कृति की महत्ता दोनों सुरक्षित रह सके।

वाद-विवाद एवं संवाद

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य की प्रासंगिकता एवं उपादेयता

*डॉ. महेश सिंह यादव

मानवता का दलन ही दलित है, "किसी भी प्राणी के साथ अमानवीय व्यवहार करना ही उसका दलन है। यह दलन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। भारत में मुख्य दलन आर्थिक व सामाजिक प्रकार का है। खासकर सामाजिक होने का मूल कारण है-वर्ण व्यवस्था। जातियाँ होना बुरी बात नहीं है, विदेशों में भी जातियाँ पायी जाती हैं, कर्मों के आधार पर। हमारे देश में भी प्रारम्भ में जातियाँ कर्मगत थीं। चर्म का काम करने वाला चर्मकार, कुम्भ बनाने वाला कुम्भकार, लोहे का काम करने वाला लोहार, अध्यापन करने वाला अध्यापक था। बाद में जातियाँ रूढ़िगत हो गई।'' जो जिस कार्य को करता था, उसके लड़के को उसी जाति का माना जाने लगा। उसके अन्य विकास को रोकने की कोशिश की जाने लगी। उसे घुटन और छटपटाहट के लिए मजबूर किया जाने लगा। उससे कम मजदूरी पर अधिक काम लिया जाने लगा। उसकी आर्थिक स्थिति धीरे- धीरे कमजोर होने लगी, आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण उसका समाज में महत्व भी घट गया और समाज में कमजोर होने के कारण वह दलित हो गया तथा शोषक वर्ग का गुलाम हो गया, रोटी, कपड़े के लिए मोहताज हो गया, उससे शिक्षा का अधिकार भी छीन लिया गया और कहा गया कि शास्त्रों में शूद्र तथा स्त्री के लिए शिक्षा वर्जित है तथा शूद्रों और स्त्रियों को शिक्षा से वर्जित रखने का प्रयास किया गया।

हमारा देश परतन्त्र था, सर्वप्रथम मुसलमानों ने इसे लूटने का प्रसास किया, मुसलमानों के बाद अंग्रेजों का जमाना आया, काफी दिनों तक अंग्रेज रहे। अँग्रेजों के बाद देश स्वतन्त्र हुआ और शिक्षा का अंग्रेजीकरण हुआ, जिसमें स्त्री और शूद्र को भी पढ़ने का अधिकार दिया गया, पर शूद्र सामाजिक दृष्टिकोण से दबाये गये थे, उनके घर भोजन के लाले पड़े थे तथा रूढ़िवादिता एवं कट्टरता से समाज जकड़ा हुआ था। यदि चमार या ऐसे ही कमजोर वर्ग के लड़के विद्यालय भी जाते थे तो उन्हें अलग बैठाया जाता था और जाति-पाँति का भेद-भाव रखा जाता था, उन्हें सामजिक रूप से इतना प्रताड़ित किया जाता था कि उन्हें लाचार होकर विद्यालय छोड़ना पड़ता था। आज समाज में काफी परिवर्तन आ चुका है, दलित वर्ग के बच्चें विद्यालय जाते हैं, उन्हें पढ़ने का भरपूर अधिकार है पर समाज में आज भी उनका निम्न स्थान माना जाता है, तथा समाज उन्हें हीन-भावना का शिकार होने के लिए विवश करता है। 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी' (मुजफ्फरपुर) बिहार द्वारा दिनांक ०३.०२.२००८ को 'दलित साहित्य के सामाजिक सरोकार' विषय पर संगोष्ठी हुई जिसमें डॉ० हरिनारायण ठाकुर ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा, "तन की छुआछूत तो बहुत हद तक मिट चुकी है, पर मन की छुआछूत अभी बाकी है, पूँजीवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, साम्यवाद, गाँधीवाद आदि सभी वाद यहाँ आकर ब्राह्मणवाद में ही विलीन हो जाते हैं। इसलिए दलित प्रश्न केवल

* प्रवक्ता हिन्दी, आर.जी.एन.पी. कालेज, राजा का ताजपुर, बिजनौर (उ. प्र.)

दलितों का प्रश्न नहीं है। यह नया अध्ययन सभी पुराने पड़े मूल्य- मान्यताओं और सिद्धान्तों की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसलिए यह शत-प्रतिशत मानवीय सरोकारों का साहित्य है दलित-विमर्श के द्वारा साहित्य और संस्कृति के अनेक पुराने पड़े प्रतिमान एक बार फिर से जीवित और जीवन्त हो उठे हैं, इसलिए इस पर समाज में खुली बहस होनी चाहिए।"[३] मैं तो पेशे से एक अध्यापक हूँ, मेरे यहां लगभग हर वर्ग के अध्यापक हैं जिसमें चार हरिजन हैं, जिन्हे बात-बात में अन्य अध्यापक पीठ पीछे कहते रहते हैं कि साला चमार है, अभी चमार का असर नहीं गया है। जातीय गुण नहीं जाता है, चाहे व्यक्ति पैसे से कितना ही बड़ा हो जाये। समाज में छुआछूत का यह विष फैला हुआ है, इसे मिटाने के प्रयास हो रहे हैं, पर जो लोग प्रयास कर रहे हैं, उसमें कुछ शोषित वर्ग के हैं, जो तन, मन तथा धन से लगे हुए हैं, पर कुछ शोषक वर्ग के लोग भी है, जिनमें से कुछ छोड़कर ज्यादातर लोग बुद्धि और तन से तो कार्य करते हैं, पर मन से नहीं। जब तक मन से कार्य नहीं करेंगे, तब तक इस समाज से छुआछूत की भावना दूर नहीं हो सकती है। छुआछूत की भावना इतनी प्रबल है कि इसकी गन्ध हमेशा आती रहती है। और कुछ तो अपवित्र होने पर पवित्र हो जाता है पर दलित किसी भी समय, किसी भी ढंग से पवित्र नहीं हो पाता है, "अछूतों का अस्तित्व ४०० ई० के भी काफी बाद में हुआ हालांकि अपवित्र की मान्यता काफी पहले से थी। पवित्रता थोड़े समय तक रहती थी और जन्म, मृत्यु, मासिक धर्म आदि के अवसर पर ही पैदा होती थी, अपवित्रता का समय बीत जाने पर या पवित्रता का संस्कार कर देने पर अपवित्रता नष्ट हो जाती थी और वह व्यक्ति फिर पवित्र तथा समाज में मिलने योग्य हो जाता था किन्तु अछूतपन इससे भिन्न है, यह स्थायी है, जो हिन्दू उनका स्पर्श करता है, वह तो स्नान आदि से पवित्र हो जाता है, किन्तु ऐसी कोई चीज नहीं, जो अछूत को पवित्र बना सके, वे अपवित्र ही पैदा होते हैं, जन्म भर अपवित्र ही बने रहते हैं। अपवित्र ही मर जाते हैं और जिन बच्चों को वे जन्म देते हैं, वे बच्चें भी अपवित्र का टीका माथे पर लगाये ही जन्म ग्रहण करते हैं।"[३] अपवित्रता उनका आनुवांशिक लक्षण माना जाता है, जिसके जिम्मेदार समीप के मट्ठीभर लोग हैं, जो अपने अस्तित्व के लिए दूसरों का अस्तित्व मिटाने पर तुले रहते हैं।

महात्मा गाँधी ने अपनी हरिजन पत्रिका में अस्पृश्यता के विषय में लिखा है, "अस्पृश्यों पर थोपी गयी अस्पृश्यता एक ऐसा जहर है जो अपने प्रभाव क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों पर चढ़ गया है। इसलिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अन्य धर्मावलम्बी सभी आपस में एक-दूसरे के लिए अस्पृश्य बन गये हैं। अस्पृश्यता के वास्तविक निवारण से निश्चय ही हम सभी एक-दूसरे के नजदीक आयेंगे और इस प्रकार भारत के विभिन्न समुदायों के बीच हार्दिक एकता पैदा होगी।"[४] महात्मा गाँधी अस्पश्यता को हिन्दू धर्म का विकृत रूप मानते थें, "मैं हिन्दू धर्म को अस्पृश्यता के पाप से मुक्त करके उसे शुद्ध कर देना चाहता हूँ, जिस छुआछूत रूपी शैतान ने हिन्दू धर्म को विकृत और विरूप बना डाला है, उसे मैं निकाल कर बाहर करना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि अगर यह बुराई जड़मूल से उखाड़कर फेंक दी गयी, तो वही भाई जो आज धर्म को मुल्क की तरक्की में सबसे अधिक बाधक समझते हैं, फौरन अपनी राय बदल देगें। हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता के लिए स्थान है तो मैं उसी वक्त इस धर्म का त्याग कर दूं।"[५]

यद्यपि अस्पृश्य भी हिन्दू हैं, पर मुझे ऐसा लगता है, जैसे हिन्दू उन्हें अलग समझते हैं, उन्हें एक विशेष जाति का तो समझते हैं, साथ ही उन्हें धर्मभ्रष्ट भी समझतें हैं, "अस्पृश्यता के कारण

शर्मिन्दा होना तो दूर की बात है, हिन्दू उसके बचाव की कोशिश करते हैं, उनका तर्क है कि अन्य राष्ट्रों की भाँति हिन्दुओं में कभी दास-प्रथा नहीं रही है और अस्पृश्यता किसी भी स्थिति में दास प्रथा से बुरी नहीं है, यह तर्क किसी छोटे-मोटे आदमी ने नहीं, अपितु स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने अपनी पुस्तक 'अनहैपी इण्डिया' में दिया है।"[६] डा० अम्बेडकर अस्पृश्यता के विराधी थे, उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता दास प्रथा से भी बुरी है, "अस्पृश्यता और दास प्रथा में अन्तर है, जिससे अस्पृश्यता एक परतंत्र सामाजिक व्यवस्था की सबसे खराब मिसाल बन जाती है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपने दास के रूप में रख सकता है, उस पर कोई ऐसी बाध्यता नहीं है कि वह नहीं चाहने पर भी रखे, किन्तु अछूत के पास कोई विकल्प नहीं है। एक अछूत के रूप में पैदा होने पर अछूत की सारी योग्यतायें उसे मिल जाती हैं। दास प्रथा का कानून छुटकारे की इजाजत देता है। एक बार का गुलाम, हमेशा गुलाम, यह गुलाम की नियति नहीं थी। अस्पृश्यता से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं। एक बार अछूत, हमेशा अछूत।"[७] अस्पृश्यता को अम्बेडकर उस प्रथा से भी बुरी मानते हैं पर वह यह भूल जाते है कि अस्पृश्य लोगों को ही दास बनाया जाता था, अतः अस्पृश्य और दास प्रथा एक ही हैं, दोनों के साथ भेद-भाव चलता रहा है, दोनों ही समाज की क्रूर दृष्टि के शिकार रहे हैं।

ऐसे दीन-हीन, अनाथ, अशिक्षित, असभ्य माने जाने वाले लोगों की सम्वेदना ही दलित साहित्य है, "हिन्दी में दलित साहित्य को लाने का प्रथम प्रयास डा० महीपसिंह ने किया। डा० चन्द्रकांत वाडिबडेकर के सहयोग से 'साहित्य और दलित चेतना' नामक पुस्तक का सम्पादन किया। यूँ तो यह किताब ऊपरी दृष्टियों से मराठी दलित साहित्य का अनुवाद भर लगेगा। अपितु इसकी पूर्णता में अनेक प्रकार से विविध सामग्री देने का प्रयत्न भी झलकता है।"[८]

"डा० प्रभाकर नारायण परांजये के अनुसार 'सन् १९६० तक महार, चमार, और कैकाडी समाज के युवाओं को अपने स्तर से ऊपर उठाने के प्रयत्नों में जिन अनुभवों का समना करना पड़ा, उसकी वास्तविकता इन आत्मवृत्तों में शब्दांकित की गयी है।"[९]

यद्यपि साहित्य में 'दलित' शब्द बाद में आया, पर दलितों के प्रति संवेदना आदिकाल से ही दिखायी देती है। नाथों तथा सिद्धों ने समाज के निम्न वर्ग की वकालत की है। भक्तिकाल में समाज के निम्नवर्ग की वकालत करने वालों में कबीरदास का नाम अत्यन्त आदर तथा श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है। निर्गुण सम्प्रदाय के अन्य सन्त नानक, दादू, रज्जब, रैदास, धर्मदास, मलूक आदि ने भी कबीर के ही मार्ग पर चलने का प्रयास किया है तथा समाज के निम्न वर्ग को उसका अधिकार दिलाने की भरपूर कोशिश की इसमें कबीर सबसे अग्रणी हैं। ब्राह्मणों के अहंकार पर प्रहार करते हुए कबीर ने लिखा है -

"पण्डित देखहुँ मन मँह जानी।
कह धौं छूति, कहाँ ते उपजी, तबहिं छूति तुम मानी।
बादे बन्दे रूधिर के संगे घर पर ही महँ घट सपचै।
अस्ट-कमल होय पुहुमी आया, छूति कहाँ ते उपजै।
लख चौरासी नाना बासन सभ सरि भी माटी।
एकै पाट सकल बैठाए, छूति लेत धौ काकी।।"[१०]

कबीर ने समाज की कुरूपता को स्पष्ट

कर समाज को विकृत करने वाले लोगों को ललकारते हुए कहा है-

"बामन से गदहा भला, आन जाति से कुत्ता।
मुल्ला से मुर्गा भला, जगत जगावै सुत्ता।।"

भक्तिकाल के बाद, रीतिकाल तथा आधुनिक काल में भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग में इसकी चर्चा लगभग नगण्य रही, छायावाद के उत्तरार्द्ध तथा प्रगतिवाद के पूर्वार्द्ध में दलितों के प्रति साहित्यकार फिर जागरूक हो गये, प्रगतिवाद तो मनुष्य तथा दलितों की संवेदना पर ही आधारित रहा। निराला में भी प्रगतिवाद के गुण दिखायी देते हैं, उन्होंने 'तोड़ती पत्थर' कविता में लिखा है।

"देखा मुझे उस दृष्टि से,
जो मार खा रोई नहीं।।"[11]

'राम की शक्तिपूजा' में राम दलित वर्ग के हैं, जो रावण के द्वारा सताये जा रहे हैं, तथा शक्ति भी रावण का ही साथ दे रही है-

"अन्याय जिधर है, उधर शक्ति,
कहते छल-छल हो गये नयन,
कुछ बूँद पुनः दृग-जल।"[12]

'भिक्षुक' कविता में भी निराला ने असहाय भिक्षुक का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है, उसके पेट और पीठ दोनों मिलकर एक हो गये हैं। वे झूठी पत्तल चाटने को लाचार हैं-

"चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।"[13]

महाकवि नागार्जुन की भी दलितों के प्रति विशेष संवेदना रही है। उन्होंने गरीबी का बहुत ही दर्दनाक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसे पढ़कर हृदय विदीर्ण हो उठता है –

"कैसे जिएँ कठिन है चक्कर,
निर्बल हम बलहीन हैं मक्कर,
तिलझन ताबड़तोड़ कटाकट,
हड्डी की लोहे से टक्कर।"[14]

दलित, गरीब फॉका करके जीते हैं। कई दिनों तक इनका भोजन नहीं बनता है, तथा कई दिनों तक इनका चूल्हा नहीं जलता है-

"कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास,
कई दिनों तक कानी कुतिया, सोयी उसके पास,
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त,
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त,
दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद,
धुँआ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों क` बाद,
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद,
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।"[15]

रामधारी सिंह 'दिनकर' का भी हृदय दलितों के लिए मचल उठा था, समाज की विषमता ने उन्हें बुरी तरह से झकझोर दिया उन्होंने देखा कि कोई घी और मलाई काट रहा है, तथा किसी के लिए नमक और रोटी भी नसीब नहीं हो रही है। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने लिखा –

"श्वानों को मिलता दूध-भात, भूखे बच्चे अकुलाते हैं।
माँ की छाती से चिपक-ठिठुर जाड़े की रात बिताते हैं।।

नारी की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक तब तेल-फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।।"

दिनकर ने इसका समाधान भी दिया है, उनकी दृष्टि में मनुष्यता, इंसानियत तथा मानवता ही मनुष्य को इन कूप-मंडूक विचारों से बाहर निकाल सकती है, जैसा कि स्पष्ट है-

"जब तक मनुज-मनुज का यह,
सुखीग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा।"[१६]

उपन्यासकारों ने भी दलितों के प्रति अपनी सहानुभूति दिखायी है, "वस्तुतः हिन्दी में प्रेमचन्द के कथा-साहित्य से सहानुभूतिपूर्ण दलित-विमर्श आरम्भ हुआ और अनेक समकालीन तथा परवर्ती उपन्यासकारों ने दलित का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया। आजादी के बाद भैरवप्रसाद गुप्त और नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में जमींदारों द्वारा दलित वर्ग के पात्रों के आर्थिक और दैहिक शोषण का जिसमें उस वर्ग की स्त्रियों का यौन-शोषण भी है, गहरी सहानुभूति और वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ अंकन किया है।

नागार्जुन के 'बलचमना' उपन्यास का बलचमना और 'बरूण के बेटे' के मछुआरे पात्र दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और अपने शोषकों के विरूद्ध विद्रोह का झण्डा उठाते हैं।"१७ देवेन्द्र सत्यार्थी के 'रथ के पहिए' और 'ब्रह्मपुत्र' दो उपन्यास दलित वर्ग की दुःखद परिस्थिति का चित्रण करते हैं। 'रथ के पहिए' में मध्यप्रदेश की गोड़ जाति का चित्रण किया गया है। 'ब्रह्मपुत्र' में 'ब्रह्मपुत्र' नदी के पेट में वसे हुए दलितों का चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट का उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' में बम्बई महानगर के मछुआरों का चित्रण किया गया है। भट्ट जी ने मछुआरों की दीन-हीन दशा तथा अभावों में घुटती जिन्दगी का चित्रण किया है।

सन् १९५७ में 'हिमांशु श्रीवास्तव' का उपन्यास 'लोहे के पंख' प्रकाशित हुआ इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्रण है, गाँव का अभाव, तनाव, दुःख, निरक्षरता तथा अन्धविश्वास का दर्दनाक चित्रण किया गया है।

सन् १९५७ में ही रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में राजस्थान के नटों का जीवन चित्रित है, लेखक ने नटों के सामाजिक जीवन, आचार-विचार, कायदे-कानून तथा यौन-नैतिकता का यथार्थ चित्र अंकित किया है।"[१८] रागेय राघव ने 'धरती मेरा घर' उपन्यास में लोहपीटों की दुखद स्थिति का चित्रण किया है। लेखक का स्वर सहानुभूतिपूर्ण है।

सन् १९६६ में शैलेश मटियानी का 'कोई अजनबी नहीं' उपन्यास प्रकाशित हुआ जो दिल्ली नगर की गन्दी छुतहे बस्तियों में शर्मनाक जीवन बिताने वाले तथा अपमानित होकर जीने के लिए लाचार दलितों का स्वरूप प्रस्तुत करता है।

सन् १९७४ में जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का 'मुर्दाघर' प्रकाशित हुआ। जिसमें "मुम्बई महानगर की उस जिन्दगी का चित्रण किया गया है, जो सड़कों के किनारे, पुलों पर, गटरों, सीलन और सड़ांध से भरी झोपड़ियों में दम तोड़ती है, जहाँ छुतहे, रोगों से पीड़ित आवारा औरतें, भींख मांगने वाले कोढ़ी, और अपाहिज, जूठन पर पलने वाले असहाय बच्चे, चोर, जुआरी, आदि रहते हैं। यह दुनियां पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अनिवार्य देन है, जो ठीक उसकी आलीशान जिन्दगी के नीचे बिलबिलाती रहती है और एक तरफ अपने अस्तित्व के लिए भीख, चोरी, जुआ, अस्मतफरोशी आदि का सहारा लेती है और दूसरी तरफ सभ्य दुनिया के

पहरेदार, पुलिस के अत्याचारों का शिकार बनती है।"[१९]

राजेन्द्र अवस्थी के दो चर्चित उपन्यास 'सूरज किसकी छाँव' और 'जंगल के फूल' में लेखक ने बस्तर के गोंड जाति के असहाय, अशिक्षित तथा अंधविश्वास का चित्रण किया है।

सन् १९७२ में जगदीश चन्द्र का 'धरती धन न अपना' उपन्यास प्रकाशित हुआ तथा १९९४ मे 'नरक कुण्ड में वास' उपन्यास प्रकाशित हुआ। "जगदीश चन्द्र का उपन्यास 'धरती धन न अपना' पंजाब के एक गाँव की कथा को उठाकर अनपढ़ चमार जाति के जीवन का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण है कि पाठक की अनुभव सम्पदा का विस्तार होता है, एक प्रकार से करोड़ों हरिजनों की समस्याओं और व्यथा का समकालीन दस्तावेज कहा जा सकता है। हिन्दी का यह प्रथम उपन्यास है, जो हरिजनों की व्यथा को इतने व्यापक और तीव्र संवेदनाघातों से साहित्य में उजागर करता है।"[२०]

सन् १९७५ में गोपाल उपाध्याय का 'एक टुकड़ा इतिहास' उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसकी नायिका चनुली ब्राह्मणी शूद्र से शादी कर दलित अभिशाप से मुक्त होना चाहती है, पर वह उससे मुक्त नहीं हो पाती है और जीवन भर दलितों के उत्थान के लिए सवर्णों से लड़ती रहती है।

सन् १९७६ में शैलेश मटियानी का 'सर्पगन्धा' उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसमें दलित वर्ग की सामजिक चेतना को प्रस्तुत किया गया है। तथा आरक्षण के मुद्दे को गहरी सहानुभूति और संवेदना के साथ उठाया गया है।

सन् १९८६ में शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसमें बिन्ध्य क्षेत्र के नटों के व्यक्तित्व को उजागर किया गया है।

सन् १९९० में संजीव का 'धार' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसकी नायिका दलित-वर्ग की मैना है, जो बाहर से घृणित पर अन्दर से संवेदनशील, समझदार, ईमानदार तथा अन्याय का प्रतिकार करने वाली है।

सन् २००० में मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी' छपा। जिसमें "बुन्देलखण्ड क्षेत्र में रहने वाली 'कबूतरा' जाति के यथार्थ-जीवन का चित्रण किया गया है जिन्हें औपनिवेशक शासन में जरायम पेशा जाति घोषित कर न केवल तथाकथित सभ्य समाज की नजरों में उपेक्षा और घृणा का पात्र वरन् पुलिस के अत्याचार का नरम चारा भी बना दिया था। यद्यपि आजादी के बाद इन जातियें को समान नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो गया है, पर जीविकोपार्जन का कोई सम्मानजनक साधन न उपलब्ध होने से इनके पुरूष अपराध कर्म और स्त्रियाँ देह-व्यापार के लिए विवश होती हैं। भारत की पचपन वर्षों की आजादी ने इनकी नयी पीढ़ी को सम्मानपूर्ण जीवन जीने का कोई विकल्प नहीं दिया है। मैत्रेयी पुष्पा ने अपमान, विवशता और पीड़ा से लबालब उनकी जिन्दगी को जीवन्त पात्रों के अद्‌भुत कथा संसार में बदल दिया है। इसके साथ ही लेखिका ने समानान्तर 'सभ्य' समाज की जिन्दगी से उनके टकराव, संघर्ष और पराजय को भी अत्यन्त विश्वसनीय और मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः कज्जा और कबूतरा समाज की मुठभेड़ और द्वन्द्वही 'अल्मा कबूतरी' का केन्द्रीय विषय है, भूरी, उसके बेटे रामसिंह और उसकी बेटी अल्मा की कहानी इस टकराहट की कहानी है, जिसमें 'सभ्य' समाज से संघर्ष करने और उसका सबकुछ दाव पर लगा देने के बावजूद 'लहूलुहान कबूतरा ही होते हैं। इसका कारण यह है कि पूरी व्यवस्था ही अपनी सारी शक्ति के साथ उसके विरोध में खड़ी है। भूरी शरीर का सौदा करके भी अपने बेटे को इस योग्य बनाना चाहती है कि वह

सम्मान की जिन्दगी जी सके। पर ऐसा नहीं हो पाता है। वह 'कबूतरा' बनकर ही जीने को अभिशप्त है। वह धीरे-धीरे अपनी संघर्ष-क्षमता खोकर पुलिस का दलाल बन जाता है, और अन्ततः डाकू बेढ़ाराम के नाम पर पुलिस द्वारा प्रायोजित मुठभेड़ में मार डाला जाता है।''[२१]

सन् १९७८ में अमृतलाल नागर का 'नाच्यो बहुत गोपाल' प्रकाशित हुआ। इसमें भंगी के दुखद जीवन का चित्रण किया गया है, समाज में निम्न बनने के लिए भंगी को कैसे लाचार किया जाता है?तथा जो भंगी के साथ रहता है, उसे भी भंगी जैसी ही प्रताड़ना समाज द्वारा मिलती है या उसके साथ कैसा दुर्व्यवहार होता है ? इसका वर्णन किया गया है। निर्गुनिया ब्राह्मण जाति की कन्या है, तथा एक भंगी के साथ भाग जाती है, उसे ब्राह्मण से भंगी बनना पड़ता है, और भंगी जैसा अमानवीय व्यवहार तथा सामाजिक शोषण करने के लिए बाध्य किया जाता है।

'गिरीराज किशोर' के दलित संवेदना से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण उपन्यास प्रकाशित हुए। सन् १९८२ में 'यथा प्रस्तावित' तथा सन् १९८४ में 'परिशिष्ट' का प्रकाशन हुआ। दोनों में समाज के सभ्य वर्ग के द्वारा दलित वर्ग के लोगों की उपेक्षा तथा उनके प्रति क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार का चित्रण बड़ी ही सुगमता से किया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपन्यास, कहानी, काव्य हर क्षेत्र में दलितों के प्रति लेखकों की सहानुभूति दिखायी देती है। साहित्य में दलितों का जीवन सुधारने का भरपूर प्रयास किया गया है, क्रूरता तथा अमानवीय व्यवहार को दिखाकर उसे दूर करने की कोशिश की गयी है। पर मात्र कागजी लेखनी से काम नहीं चलेगा, वर्तमान में इसे व्यवहार में लाने की आवश्यकता है, दलित आन्दोलन की जरूरत है। दलित साहित्य पर जगह-जगह सेमिनार होते हैं, जिसमें तरह-तरह के मनीषी, बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार उपस्थित होते हैं, जिसमें हर वर्ग के लोग होते हैं, वहाँ दलित वर्ग के लोग भी होते हैं। दलित वर्ग के लोग जो वहाँ उपस्थित होते हैं, वास्तव में दलित नहीं होते हैं, उन्हें आर्थिक तथा सामाजिक सम्मान मिल चुका होता है, अतः उनके बीच में दलितों पर सेमीनार करने से कोई लाभ नहीं है, सेमिनार तो उनके बीच होना चाहिए, जो वास्तव में दलित हैं, जिनके घर में खाने के लाले पड़े हैं, जो रिक्शा चलाने और मजदूरी करने के लिए मजबूर हैं, जिनका पेट रिक्शा चलाने तथा मजदूरी करने से भी नहीं भरता हैं, जिन्हें अपमानित जीवन जीने के लिए लाचार किया जाता है, ऐसे हतोत्साहित, लांछित, दुःखी, शोषित तथा क्रूरता के शिकार व्यक्तियों को सचेत करना तथा उन्हें उचित मार्ग दिखाना ही दलित साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए, जो व्यावहारिक धरातल से ही सम्भव है, न कि कागजी उछाल से। इसके लिए गाँधी, अम्बेडकर और ज्योतिबाफूले जैसे लोगों की आवश्यकता है, जो गन्दी, गलीज, घृणित, भनभनाती मक्खियों से युक्त बस्ती में बैठ सकें, तथा उसमें रहने वाले लोगों की समस्याओं को सुनकर उनका निवारण कर सकें। और उनके हक के लिए लड़ाई लड़ें। आज आवश्यकता इस बात की है कि हमें ऐसी कोशिश करनी है कि समाज में सबको सम्मान मिल सके, जो कोशिश से ही सम्भव है, अब कोशिश ऐसी होनी चाहिये कि -

''इस दुनिया में अब न होरी रहे।
बूढ़ी काकी न जूठन की खोरी रहे।
रोती आगे न कोई भी जोरी रहे।
अब यहाँ न किसी की जी हजूरी रहे।।
पत्थर काटते हुए न कोई रोया करे,
खाकर उल्टी करते न कोई सोया करे।
सबके घर में अशन-बसन होया करे
आँसुओं से जमीं न भिगोया करे।।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. रचनाकर्म : सम्पादक डा० माया प्रकाश पाण्डेय, जुलाई-सितम्बर-२००४, पृष्ठ-२१
२. हंस : सम्पादक राजेन्द्र यादव, अप्रैल-२००८ पृष्ठ-८५
३. रचनाकर्म : सम्पादक डा० माया प्रकाश पाण्डेय, अप्रैल-जून-२००५ पृष्ठ-५६
४. हरिजन - महात्मा गाँधी -२०-०४-३४
५. हरिजन - महात्मा गाँधी -२६-१-३४
६. अस्पृश्यता : डा० भीमराव अम्बेडकर
७. गाँधी, नेहरू, टैगोर एवं अम्बेडकर : एच० एल० पाण्डेय-पृष्ठ-११५
८. रचनाकर्म : सम्पादक डा० माया प्रकाश पाण्डेय, - पृष्ठ-५६
९. वही - पृष्ठ -५६
१०. बीजक - शब्द -४१
११. निराला - तोड़ती पत्थर (अपरा संग्रह से) पृष्ठ-२६
१२. निराला - राम की शक्ति पूजा (अपरा संग्रह से) पृष्ठ -४३
१३. निराला - भिक्षुक (अपरा संग्रह से) पृष्ठ-६७
१४. नागार्जुन - 'फूल नही रंग बोलते हैं'
१५. नागार्जुन-अकाल और उसके बाद (सतरंगे पंखो वाली कविता संग्रह से)
१६. दिनकर - कुरूक्षेत्र पृष्ठ-८७
१७. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - प्रो० गोपालराय -पृष्ठ-४२८
१८. हिन्दी का गद्य साहित्य-प्रो० रामचन्द्र तिवारी -पृष्ठ-२११
१९. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - प्रो० गोपालराय -पृष्ठ-४२६
२०. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा० नगेन्द्र -पृष्ठ-४६६
२१. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - प्रो० गोपालराय -पृष्ठ-४३०

निरुत्तर

प्रशासन में भ्रष्टाचार के कारण और निवारण

*डॉ. महालक्ष्मी जौहरी

लोक प्रशासन अपनी शक्ति, सत्ता एवं स्थिति का प्रयोग जन सामान्य के लाभों की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत लाभों के लिए करने लगे तो यही "भ्रष्ट आचरण" भ्रष्टाचार को परिभाषित करता है। यह भ्रष्ट आचरण में घूस, आर्थिक लाभ लेना, सम्बन्धियों को नौकरियों में जगह देना, भेंट स्वीकार करना, बेईमानी, गबन, रिश्वत, अनुचित एवं अवैध रीतियों से पैसा लेना व्यापारिक संस्थाओं पर दृष्टि से अहसान करना ताकि वहां लोक सेवकों के पुत्र-पुत्रियों को रोजगार मिल सके, अपनी स्थिति और प्रभाव का स्वार्थ-सिद्धि के लिए दुरूपयोग करना भ्रष्टाचार है।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा-१६१ में भ्रष्टाचार को परिभाषित किया गया है "जो व्यक्ति शासकीय कर्मचारी होते हुए या होने की आशा में अपने या अन्य किसी व्यक्ति के लिए विधिक परिश्रमिक से अधिक कोई घूस लेता है, या स्वीकार करता है अथवा लेने का प्रयत्न करता है या शासकीय कार्य करने में किसी व्यक्ति के प्रति पक्षपात या उपेक्षा करता है तो उसे तीन वर्ष तक के करावास का दण्ड या अर्थदण्ड या दोनों को दिया जा सकता है।"

यह ऐसा व्यवहार है जिसमें सरकारी कर्मचारी व्यक्तिगत आर्थिक लाभ उठाने के लिए सार्वजनिक पद का दुरूपयोग, बेईमानी से प्राप्त लाभों का समावेश होता है।

जिस प्रकार जिह्वा पर रखे हुए शहद का स्वाद न लेना असम्भव है उसी प्रकार शासकीय कर्मचारी द्वारा राज्य के राजस्व या कार्य पर एक अंश का भक्षण न करना आज के समय में असम्भव है। प्राचीन व मध्यकाल में लोक प्रशासन का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था फलस्वरूप भ्रष्टाचार की कम गुंजाइश थी। वर्तमान युग में लोक प्रशासन के क्षेत्र का विलक्षण विकास हुआ है। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में भ्रष्टाचार बहुत फैला ब्रिटिश प्रशासन में राजस्व, पुलिस एवं आबकारी विभागों की शक्तियां थीं। उनके भ्रष्ट होने की स्थितियां अधिक विकसित हुईं। द्वितीय विश्व युद्ध में भ्रष्टाचार के लिए अधिक अवसर जनित हुए। अफसरों द्वारा सत्ता का स्वार्थ पूर्ण प्रयोग किया गया। वस्तुओं के आभाव में सरकार ने व्यवसाय में लाइसेन्स देना प्रारम्भ किया परन्तु इसमें भी बेईमानी हुई। लाइसेन्स प्राप्त करने के लिए यहां रिश्वत चली।

स्वतन्त्रता के बाद देश में, साम्प्रदायिक दंगे, जनसंख्या स्थानान्तरण, कश्मीर युद्ध, रियासतों के एकीकरण की समस्या आयी तो देश का शासन खण्डित हो गया, लोक सेवकों के लिए भ्रष्टाचार के नवीन मार्ग खुल गये। आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों में वृद्धि होने, नियम, नियन्त्रण, लाइसेन्स परमिट का युग प्रारम्भ के साथ भ्रष्टाचार के नये आयाम बने और इसमें राज्य, केन्द्रीय स्तर के मंत्री, सांसद तथा विधायिका के सदस्यों ने भ्रष्ट लोक सेवकों का साथ दिया। संसद और विधान मण्डलों के निर्वाचित प्रतिनिधि नैतिकता और प्रशासन की एकता के संरक्षक थे, स्वयं ही भ्रष्टाचार,

* प्रवक्ता समाज शास्त्र, डा. आर. पी. रिछारिया महाविद्यालय, बरूआ सागर झाँसी (उ. प्र.)

कुनबापरस्ती एवं निहित स्वार्थों की पूर्ति में फंस गये। यहां राजनैतिक शक्ति का एकाधिकार रहा है यहां मंत्री, विधायक, सांसद अपनी शक्ति का स्वयं के लाभ के लिए परिवार, मित्र दल के साथियों के लाभ के लिए अपने पद का दुरूपयोग करते हैं। यहां आये दिन नेताओं व अधिकारियों के घोटाले प्रकाश में आये हैं जिससे कोई अन्जान नहीं। कि यहां ऐसे अधिकारियों के साथ में कैसे भ्रष्टाचार पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो रहा है। आज जनता कर्मचारियों के भ्रष्ट आचरण से दुखी होकर, रिश्वत देना या अपने पद या स्थिति के अनुसार कार्य करने से वंचित होना भी भ्रष्टाचार का संरक्षक है क्योंकि यदि कोई अधिकारी, व्यवसायी या पुलिस अपने पद का उपयोग कर अपराधी को सजा देना भी चाहती है तो सांसद, मंत्री या पुलिस के अधिकारी पद का रूतबा दिखा उन्हें अपना कार्य नहीं करने देते।

वर्तमान समय में तो डॉक्टर व अध्यापक भी अपने पदों का दुरूपयोग करने लगे है यदि डॉक्टर के पास कोई व्यक्ति सिविल अस्पताल में इलाज कराने जाता है तो वह डॉक्टर उसे पहले तो अपनी क्लीनिक पर बुलाता है फिर वह अपने अस्पताल में भर्ती करता है और छोटे-मोटे इलाज को लम्बी अवधि तक चलाकर बढ़ा सा बिल उसके हाथ में थमा देता है। दस तरीके के टेस्ट इत्यादि या प्रसव का विषय है तो समय का इन्तजार न कर ऑपरेशन कर व्यक्ति की हालत (शारीरिक) खराब कर और बढ़ा सा बिल बनाना आज आम बात है।

अध्यापक यदि सांइस या गणित विषय पर एम.बी.ए., बी.टी.आई., बी.टेक. इत्यादि में अध्यापक है तो बगैर ट्यूशन के बच्चों पर ध्यान नहीं देते। प्राथमिक या हाईस्कूल स्तर में विद्यालयों या महाविद्यालय विषय के अध्यापक कभी राजकीय स्कूलों में पढ़ाते ही नहीं। वहीं प्राइवेट स्कूल, महाविद्यालयों पर जायें तो बढ़ी सी फीस, दिखावा, फैन्सी ड्रेस कॉम्पीटीशन के नाम पर पैसा गार्जियन से लेना, अधिक से अधिक होमवर्क जिसको बच्चा तो क्या माता-पिता भी करते-करते पस्त हो जाते हैं इसके साथ ही बच्चे का ज्ञान निल। आज कल के बच्चों का प्राथमिक बेस तो है ही नहीं, यदि बच्चे को अंग्रेजी की । A, B, C, D १, २, ३ आता है वही अ, आ, इ, ई १, २, ३, ४ की गिनती को वो जानता ही नहीं तो ऐसी शिक्षा किस काम की चाहे हम बच्चों को हजारों की फीस वाले या कम फीस वाले स्कूलों में पढ़ायें।

प्रशासन में भ्रष्टाचार के विभिन्न रूप हैं - निम्न स्तरीय वस्तुओं या कार्य को स्वीकार करना, सार्वजनिक धन और भण्डार का दुरूपयोग करना, झूठे दौरे, भत्ते, गृह किराया आदि का दावा करना, अचल सम्पत्ति, अपनी सामर्थ से अधिक अर्जित करना, पद या सत्ता का दुरूपयोग भर्ती, नियुक्ति, स्थानान्तरण एवं पदोन्नति के सम्बन्ध में गैर कानूनी रूप से धन अर्जित करना, शासकीय कर्मचारियों का व्यक्तिगत रूप से प्रयोग करना, जाली प्रमाण पत्र बनाना, रेल, वायुयान में सीट सुरक्षित में अनियमितता, टेलीफोन कनेक्शन में अनियमितता अनैतिक आचरण, आर्थिक लाभ के लिए आय-कर, सम्पत्ति कर कम आंकलन, बिजली चोरी, आवसीय भूमि का क्रय विक्रय शासकीय क्वार्टरों की अनाधिकृत कब्जा एवं किराये से उठाना आदि अनेक विसंगति के रूप में समाज में भ्रष्टाचार आज भी कायम है।

लोक सेवकों के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम १९४७ में लागू हुआ। विभिन्न श्रेणियों के लिए शासकीय कर्मचारी सम्बन्धी नियमावलियां प्रचलित हैं -

१. अखिल भारतीय सेवा (आचरण) नियम १९५४

२. केन्द्रीय लोक सेवा (आचरण) नियम १९५५

३. रेल सेवा (आचरण) नियम १९५६

इसके अतिरिक्त शासन द्वारा समय-समय पर अनेक नियमों का निर्माण किया गया एवं आदेश जारी किये गये हैं -

१९६० में राजपत्रित एवं १९६६ में अराजपत्रित कर्मचारियों द्वारा कर्ज देने सम्बन्धी, १९७६ उपहार ग्रहण करने सम्बन्धी, १९८१ में मकान व बहुमूल्य सम्पत्ति बेचने सम्बन्धी आदि अनेकानेक नियम बने हैं।

यदि हम लोक प्रशासन से भ्रष्टाचार का निवारण करना चाहते हैं तो चाहे जितने भी नियम बने रहें परन्तु यदि व्यक्ति अनुशासन रहित है तो ऐसे नियमों का क्या उपयोग होगा, व्यक्ति का कर्त्तव्यहीन होना, कार्य कुशलता का न होना कानून व नियमों का उल्लघंन करना, आज्ञा भंग, शासन के प्रति निष्ठा न होना, अनैतिकता, ईमानदारी का अभाव घूसखोरी, भ्रष्टाचार आदि को बढ़ावा न मिले इसके लिए प्रशासनिक भोगियों के साथ, जनता व संसदीय सदस्यों को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि अनुशासन सम्बन्धी कार्यवाही नियोक्ता अथवा कर्मचारी दोनो के हित में है। यह अधिकारियों व अधीनस्थों दोनों के मध्य स्वस्थ्य सम्बन्धों की आधार शिला है। यह व्यक्तियों को कर्त्तव्यनिष्ठ व ईमानदार बनाती है जिससे प्रशासन की कार्य कुशलता में वृद्धि होती है। और यह व्यक्ति को अनैतिक आचरण से रोकती है और यदि कोई इसके विरूद्ध प्रयास करे तो पहले लघु दण्ड जेसे चेतावनी, भर्त्सना, वेतन वृद्धि में देरी, ज्येष्ठता के अधिकारों को छीनना या फिर कठोर दण्ड जैसे निलम्बन, पदावनति, पदच्युति या सेवासे निस्कासन करना चाहिए। प्रशासन द्वारा भी सुधार समितियां और आयोग बने हैं -

१. सचिवालय पुनर्गठन समिति या वाजपेयी समिति १९४७।
२. मितव्ययिता समिति १९४८ इसमें अनैतिक व्यय का विश्लेषण कर, इनको समाप्त करने का प्रयास।
३. आयंगर समिति प्रतिवेदन १९४९, में श्री एन. गोपाल स्वामी आयंगर ने इसका गठन कर अध्यक्षता की।
४. गोरवाल रिपोर्ट १९५१ में ए.डी. गोरबाल ने प्रशासन का अध्ययन ७० पृष्ठ का एक प्रतिवेदन 'लोक प्रशासन पर प्रतिवेदन' सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया।
५. गोपाल स्वामी प्रतिवेदन १९५२।
६. पॉल एच. एपिलबी प्रतिवेदन १९५२ व १९५३ में भारत प्रशासन व्यवस्था की पुनः परीक्षा।
७. प्रशासनिक सुधार आयोग १९६६ ने प्रमुख सिफारिशें प्रस्तुत की - जन अभियोग निराकरण की समस्याऐं, भारत सरकार का प्रशासनीय यन्त्र, नियोजन तन्त्र, केन्द्र-राज्य सम्बन्ध, कार्मिक प्रशासन, वित्त लेखा व लेखा परीक्षा, लोक उपक्रम, राज्यपाल की भूमिका, कार्मिक प्रशासन पर प्रतिवेदन राज्य स्तरीय प्रशासन व जिला प्रशासन आदि सिफारिशों का क्रियान्वयन किया गया है। आयोग की सिफारिशों के परिपेक्ष्य में ही १९६७ में योजना आयोग का पुर्नगठन किया गया। आयोग की सिफारिशों को त्वरित गति से क्रियान्वित न करने का मुख्य कारण नौकरशाही की उदासीनता है आमतौर से नौकरशाही परिवर्तन नहीं चाहिए। विडम्बना यह है कि जब सुधारकों की ही प्रशासनिक सुधारों में पर्याप्त निष्ठा न हो तो कोई सुधार कैसे सम्भव हो।

सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए सन् १९४१ में 'विशेष पुलिस' की स्थापना की जो क्रय-विक्रय में रिश्वत एवं भ्रष्टाचार को रोकने के लिए बनाया। १९४२ में रेलवे विभाग के भ्रष्टाचार के मामलें सौंपे गये। १९४६ में गृह विभाग का अंगीकार कर अधिकारों का विस्तार किया। १९५३ में "भ्रष्टाचार निरोध शाखा" को बढ़ाया, जिसे १९६३ में केन्द्रीय जांच ब्यूरो में एक खण्ड के रूप में स्थानान्तरित कर दिया।

- ✦ संविधान के अनुच्छेद ११३ का संशोधन कर, कानूनी कार्यवाही शीघ्रतापूर्वक और आसानी से की जा सकें।
- ✦ सरकारी विधियों, नियमों और प्रशासकीय कार्यवाही की निरन्तरता कर सरल और स्पष्ट बनाया जाये जिससे कर्मचारियों द्वारा अनैतिक कार्य करने के अवसर सुलभ न हों।
- ✦ परमिट, लाइसेन्स और ठेके केवल उन्हीं व्यक्तियों और कम्पनियों को दिये जाने चाहिए, जिसके नाम पंजीकृत हों।
- ✦ पत्रों व फाइलों को निश्चित अवधि के भीतर निपटाना चाहिए।
- ✦ नियुक्तियों और पदोन्नतियों का कार्य विशेष योग्यता व चरित्र वाले व्यक्तियों को सौंपें जाने चाहिए।
- ✦ शासकीय कर्मचारियों के लिए समुचित आवास पर्याप्त वेतन की व्यवस्था करनी चाहिए ताकि वह रिश्वत व लोभ में न पड़े।
- ✦ सभी लोक सेवकों, विधायकों और मन्त्रियों की निजी सम्पत्ति की घोषणा होनी चाहिए।
- ✦ दान की जानकारी और हिसाब का लेखा जोखा जनता को दिया जाना चाहिए।
- ✦ केन्द्रीय सरकार में सतर्कता आयोग होना चाहिए।
- ✦ अधिकारियों द्वारा आयकर रिर्टन को सही तरह से भरना चाहिए।
- ✦ केन्द्रीय सर्तकता आयोग की स्थापना १९६४ में हुई, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो की स्थापना १९६३ में हुई जो धोखाधड़ी, फरेब व पैसे का दुरूपयोग, संगठित गिरोह तथा पेशेवर अपराधियों जिनके अन्तर्राज्यीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अड्डे हैं, राष्ट्रीय महत्व के मामले की जांच का कार्य सौंपा गया।

प्रशासकीय भ्रष्टाचार में प्रशासकीय विवेक का नियन्त्रण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रशासकीय विवेक व्यक्ति की स्वाधीनता तथा हितों को अत्यधिक प्रभावित कर सकता है। उस विवेक का नियमन करने के लिए प्रशासकीय कानून का होना अत्यन्त आवश्यक है। विकल्पों का चयन करते समय अधिकारियों को मनमानें ढंग से कार्य नहीं करना चाहिए। स्वविवेक का अर्थ यह नहीं है कि सत्ता प्राप्त करके सरकारी अधिकारी द्रोही, पक्षपाती व स्वेच्छाचारी बन जाये। अतः प्रशासन के कानून व संस्थायें प्रशासक के विवेक एवं प्रकृति का निर्धारण करते हैं और उसका नियमन करते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य की बात करें तो आज हमारी लोक सेवा में अविलम्ब सुधार की आवश्यकता है। समूचे प्रशासनिक ढांचे का ही पुनर्निर्माण करना होगा। जितने शासकीय क्रियाकलाप हैं उन्हें ही केन्द्रीय और राज्य सेवाओं में तकनीकी सेवाओं की व्यवस्था करनी होगी। यह धारणा बदलनी होगी कि "विविधज्ञ प्रशासक सब मर्ज की एक मात्र दवा है।" यह राष्ट्र हित में है कि विशेषज्ञों को यथाशीघ्र विधि सम्मत दर्जा प्रदान किया जाये व राष्ट्र के विकास में उनका योगदान स्वीकार किया जाये।

नागरिक समाज

भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाएँ व संस्कृति : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

*डॉ. अजय सिंह

मानवीय सभ्यता के विकास के क्रम में शासन की अनेक प्रणालियां अस्तित्व में आयीं जिसमें लोकतांत्रिक प्रणाली को सर्वाधिक सम्मान प्राप्त हुआ और जो आज भी विश्व के अधिकतम देशों में व्यवहार में लायी जा रही है। लोकतंत्र में 'लोक' का अर्थ जनता और तंत्र का अर्थ 'व्यवस्था' से है। इस प्रकार लोकतंत्र शासन की उस प्रणाली को कहते हैं। जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों के द्वारा संपूर्ण जनता के हित को दृष्टि में रखकर शासन करती है। लार्ड ब्राइड ने लोकतंत्र पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "सही अर्थ में लोकतंत्र ईसाई धर्म की देन है, जिसका सिद्धांत प्रारम्भ से आज तक ईश्वर के सम्मुख सभी मनुष्यों की समानता पर बल देता रहा है।"[1] संस्कृत साहित्य में 'लोकतंत्र' शब्द का प्रयोग 'जनता के राज्य' के अर्थ में नहीं वरन् शासन अथवा राज्यकार्य के सामान्य अर्थ में हुआ है। वास्तव में लोकतंत्र राजनीतिक सत्ता वितरण का वह स्वरूप है जो सामाजिक व आर्थिक भेदभाव से ऊपर उठकर समाज में प्रत्येक सदस्य को शासन का सहभागी बनाता है। लोकतंत्र के सर्वाधिक स्वीकृत शासन पद्धति होने का कारण केवल यह नहीं है कि उसमें अधिकतम जनसमुदाय के अधिकतम कल्याण का लक्ष्य रहा है वरन् प्रमुखतया यह है कि इसमें निर्णय लेने का अधिकार उन्हीं लोगों में निहित रहता है जिनके कल्याण के लिए शासन का यह तंत्र विकसित होता है, क्योंकि स्वयं जनता जानती है उसके हित में क्या है, क्या नहीं। वास्तव में लोकतंत्र का आशय भी यही है। यह वास्तव में 'जनता के द्वारा शासन' न भी हो तो जनता का तथा जनता के लिए शासन अवश्य होता है।[2] सही मायनों में इससे भी आगे जाकर लोकतंत्र समस्त जनमानस से नैतिक समर्थन और अनुकूल आचरण की अपेक्षा करता है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें जनता अपनी स्वयं की इच्छानुसार अपना साध्य व लक्ष्य का निर्धारण करती है और उसे अपने विकास हेतु तमाम अवसर उपलब्ध होते हैं। लोकतंत्र सक्रिय जनता की शक्ति है। जिसका आशय है कि शक्ति का निवास केवल वहीं होगा, जहां उसका उचित प्रयोग हो सके। प्रजातंत्र की व्यावहारिकता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि अधिनायक आये और गये, साम्राज्य अस्तित्व में आये और समय की गर्त में विलीन हो गये, भयावह विश्वयुद्धों की अग्नि परीक्षा हुई, पर विश्व के सर्वाधिक देशों में लोकतंत्रात्मक शासन अभी भी का[illegible] है।[3]

स्वातंत्र्योत्तर भारत में संविधान लोकतंत्र हेतु प्रतिबद्ध है, वस्तुतः विचार और जीवन-दर्शन के तौर पर लोकतंत्र प्रारंभ से ही भारतीयता का अभिन्न अंग रहा है। भारत में लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली वैदिक काल से प्रचलन में रही है। वैदिक काल में भी कुछ प्रतिनिधि निकाय और लोकतांत्रिक स्वशासी संस्थायें विद्यमान थीं। ऋग्वेद में 'गण' से अर्थ गणना अथवा संख्या से था और गणराज्य का आशय लोकतंत्र था। ऋग्वेद और अर्थववेद में 'सभा' तथा 'समिति' नामक संस्थाओं

* रीडर, राजनीति शास्त्र, हंडिया पी. जी. कालेज, हंडिया, इलाहाबाद (उ. प्र.)

का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि जनसाधारण के विभिन्न वर्गों के विशिष्ट व्यक्तियों की शक्तिशाली राजसभा का गठन किया जाये। इस राजसभा में विद्वान् बुद्धिमान और युद्धकौशल में निपुण व्यक्ति मिलकर राष्ट्रहित में कार्य करें। सभा और समिति की सदस्यता पुरूषों के साथ ही स्त्रियों के लिए भी खुली थी। सभा और समिति के सदस्यों से अपेक्षित था कि वे एकमत होकर राज्य के हित के लिए कार्य करें। यद्यपि उन्हें वाद-विवाद और तर्क-वितर्क की पूरी आजादी थी। महाभारत के शांतिपर्व में 'संसद' नामक एक सभा का भी उल्लेख मिलता है, जिसे 'जनसदन' भी कहा जाता है। आधुनिक लोकतंत्र के कुछ महत्वपूर्ण तत्व जैसे निर्बाध चर्चा और बहुमत द्वारा निर्णय तब भी प्रचलित थे। बहुमत से हुआ निर्णय अनुलंघनीय माना जाता था। जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी, क्योंकि जब सभा में लोग मिलते हैं और एक वाणी से बोलते हैं तो उस वाणी और बहुमत की अन्य लोगों द्वारा उपेक्षा नहीं की जा सकती है।'

पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि हम लोकतंत्र को एक राजनीतिक प्रणाली के रूप में अपना रहे हैं जिसके माध्यम से सामाजिक, आर्थिक और नैतिक लोकतंत्र हासिल करेंगे। क्या नेहरू के आर्थिक लोकतंत्र का स्वप्न साकार हो पाया है?क्या गाँधी के सामाजिक लोकतंत्र को हम प्राप्त कर सके हैं ? क्या समतावादी समाज की स्थापना हो पायी है ? भय-भूख व भ्रष्टाचार से मुक्त समाज की स्थापना में हम कहां तक सफल हो पाये हैं ? आजादी के छः दशक के बाद भी आज ये प्रश्न हमारे समक्ष मुंह बाये खड़े हैं। सतही विवेचन में तो यह नेतृत्व और चरित्र का संकट लगता है, किंतु वास्तव में यह भारतीय समाज और लोकतांत्रिक व्यवस्था का संकट है।

राजनीतिक संस्कृति एवं विचारधारा के दृष्टिकोण से आधुनिक भारत में राजा राममोहन राय के बाद ऐसा कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता जो इतना अधिक मौलिक हो जितना गांधीवादी परंपरागत दृष्टिकोण से पं० नेहरू के आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष, मानवीय व वैज्ञानिक दृष्टिकोण में दिखाई देता है। भारतीय इतिहास में पहली बार सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का आधार परम्परा व पाश्चात्य मूल्यों के समन्वय में खोजा गया। हमने तकनीकी विकास व आर्थिक प्रगति के आधारभूत मूल्य को उसकी बुराइयों एवं विरोधाभासी परिणामों की अनदेखी कर आत्मसात करना प्रारम्भ किया। पं० नेहरू की मान्यता कि, साधनों की अपेक्षा साध्य अधिक महत्वपूर्ण है, के कारण नैतिक अवधारणाओं का स्थान गौण हो गया और धीरे-धीरे इसका अंत हो गया। एक बार संसद में भारतीय राजनीति में भ्रष्टाचार के प्रश्न के उत्तर में पं० नेहरू ने कहा कि भ्रष्टाचार किसी भी विकासशील अर्थव्यवस्था में अपरिहार्य है। अतः जब विकास हमारा स्पष्ट लक्ष्य है तो हमें भ्रष्टाचार को राष्ट्रीय प्रगति के स्वाभाविक परिणाम के रूप में स्वीकार करना चाहिए। कांग्रेस की संस्कृति, जो भारतीय राजनीतिक संस्कृति की प्रभावी संस्कृति है, इस दृष्टिकोण का ठोस रूप है। शक्ति संरचना में जो उच्च पदों पर आसीन हैं वे न केवल भ्रष्टाचार सहन करते हैं अपितु उसे प्रोत्साहित भी करते हैं। यहां तक कि निर्णय-निर्माणकर्ता और शासक भी भ्रष्ट-व्यवहार में लिप्त रहते हैं ताकि इस गलाकाट प्रतियोगिता के खेल में जीवित रह सकें। इस प्रकार भ्रष्टाचार एक क्रूर आवश्यकता एवं पूर्ण राजनीतिक नियोजक हो जाता है। हिंसा एवं भ्रष्टाचार परस्पर सहयोगी होते हैं। दोनों ही अनौचित्यपूर्ण व्यवहार के रूप हैं। जिस समाज में भ्रष्टाचार की अति क्षमता निहित होती है, उसमें हिंसा की भी उतनी ही तीव्र क्षमता समाहित होती है। भ्रष्टाचार हिंसा को जन्म देता है और हिंसा मानवीय संगठन के लिए अपरिहार्य शक्ति एवं

सत्ता की संरचना का विनाश कर देती है। देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक घृणा, जातीय संघर्ष व क्षेत्रीय उग्रवाद की भावना ने न केवल लोकतंत्र प्रणाली व उसकी संस्थाओं को क्षति पहुंचाई है वरन् सभ्य जीवन के प्रत्येक स्वरूप को ही नष्ट कर दिया है। आज भारतीय राजनीतिक संस्कृति पूर्णतया मूल्य रहित हो गयी है। एक संस्कृति उन्मुख राजनीति के स्थान पर एक राजनीति उन्मुख संस्कृति को हमने स्वीकार कर लिया है। आज भारत में राजनीतिक व्यवसाय मे जिस नवीन वर्ग का उद्‌भव हुआ है उन्हें 'नेता' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। वे ऐसे राजनीतिज्ञ हैं जिनकी अपनी स्वयं की शैली है, वे दल में उच्च संपर्क वाले व्यक्ति होने का दावा करते हैं तथा शासक दल व सामान्य जनता के मध्य मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। नौकरशाही को प्रलोभन देकर वे अपने ग्राहकों को लाभान्वित करते हैं और इस कार्य के प्रतिफल में उन्हें अपने ग्राहकों से अपार धन सम्पदा प्राप्त होती है। यह 'नेता संस्कृति' इतनी अधिक व्यापक और दृढ़ हो गयी है कि युवा एवं अयोग्य व्यक्ति इसे अंगीकृत करने के लिए आतुर हैं ताकि वे समाज में सम्मान प्राप्त कर सकें।[४]

आजादी से पहले भारत में महात्मा गांधी, पं० नेहरू, मदन मोहन मालवीय, डा० राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना अबुलकलाम आजाद सरीखे व्यक्तियों ने अपने व्यवसायों को त्यागकर स्वयं को राजनीति के प्रति समर्पित कर दिया था तथापि उन्होंने राजनीति को अपनी आजीविका का साधन नहीं बनाया, स्वतंत्र साधनों के माध्यम से राजनीति के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार किया'। राजनीति उनके लिए पवित्र साध्य, लक्ष्य एवं जागृति थी। वर्तमान समय में राजनीति एक लाभकारी व्यवसाय मात्र बन गयी है। राजनेता केवल शक्ति प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं फलतः प्रशासनिक अकुशलता, नैतिक उदासीनता, भ्रष्टाचार, सामाजिक एवं सांप्रदायिक संघर्ष, सिद्धान्तहीनता की उभरती हुई तस्वीर समाज के समक्ष उपस्थित है। वस्तुतः भारतीय राजनीति में आज शासक येन-केन प्रकारेण शक्ति एवं सत्ता से जुड़े रहना चाहते हैं। विपक्ष भी विभक्त एवं सशंकित तथा अपनी पहचान की स्थापना हेतु संघर्षरत है। राजनीतिक दलों की न तो अपनी कोई विशिष्ट विचारधारा है न ही कोई कार्यक्रम परक पहचान। उनका एकमात्र उद्‌देश्य शक्ति पर अपना प्रभाव स्थापित करना होता है।

वे असैद्धान्तिक अल्पकालिक गठबन्धनों का निर्माण करते हैं और जैसे ही उनके हितों में टकराव उत्पन्न होता है, परस्पर पृथक हो जाते हैं। जहां तक संविधान की बात है, सत्ता पक्ष द्वारा उसे अपनी सुविधानुसार परिवर्तित एवं संशोधित कर लिया जाता है। क्षेत्रवाद, संप्रदायवाद, जातिवाद ने राष्ट्र की अखण्डता को बाधित एवं पतित किया है। संचार-माध्यमों का प्रयोग वास्तविक तथ्यों से परिचित कराने के लिए नहीं वरन् जनता को मूर्ख बनाने के लिए किया जाता है।[६]

प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि यदि हमारी आधारभूत परिकल्पना में त्रुटियां नहीं थीं तो फिर भारतीय लोकतंत्र के वर्तमान संकट का कारण क्या है ? कुछ लोग इसे नेतृत्व का संकट बताते हैं तो कुछ लोग चरित्र का संकट। किंतु वास्तव में यह संकट लोकतांत्रिक संस्थाओं और मूल्यों के महत्व को धीरे-धीरे नकार देने के कारण ही पैदा हुआ है। इस प्रक्रिया को 'क्राइसिस ऑफ इन्स्टीट्यूशन' की संज्ञा दी जा सकती है। निःसंदेह इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही भारत में संस्थाओं पर आधारित संसदीय लोकतंत्र का मॉडल अस्तित्व में आया, परन्तु संपूर्ण ढांचे में केन्द्र सरकार का वर्चस्व प्रारम्भ से ही अत्यधिक रहा। एक ओर तो पार्टी प्रणाली और

संघीय प्रणाली जैसी एक लोकतांत्रिक प्रक्रिया प्रारंभ हुई। दूसरी ओर शक्ति, सत्ता और संसाधनों पर केन्द्र की पकड़ बरकरार रही। यही कारण था कि नौकरशाही और राजनीतिज्ञों के बीच प्रारंभ से ही एक तनाव की स्थिति बनी रही। ऐसा ही तनाव केन्द्र और राज्य के मध्य भी समय-समय पर दिखाई देता रहा। किंतु इन सबके बावजूद जब तक केन्द्र और राज्य स्तर पर कांग्रेस के बड़े नेता मौजूद रहे, पं० नेहरू को सत्ता और संसाधनों का उचित बंटवारा करना पड़ता था, किन्तु जैसे-जैसे ये नेता गुजरते गये, संस्थायें और लोकतांत्रिक तौर-तरीके भी समाप्त होते गये। दरअसल, संविधान में लिख देने मात्र से ही लोकतांत्रिक संस्थाओं को जीवित नहीं रखा जा सकता, अपितु केन्द्र और संस्थाओं के मध्य सत्ता व संसाधनों का उचित बंटवारा करके ही इन संस्थाओं को मजबूत बनाया जा सकता था जिसके अभाव में लोकतांत्रिक संस्थाओं का दम तोड़ना नितान्त स्वाभाविक प्रक्रिया थी।

१९६२ में भारत-चीन युद्ध में हार के कारण उपजी सर्वसत्तावादी और केन्द्रीकृत ढांचे वाली सोच की वजह से लोकतांत्रिक संस्थाओं के ह्रास का जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ उसकी चरम परिणिति १९७५ के आपातकाल में हुई। १९७१ के चुनाव के बाद से ही श्रीमती गांधी ने सांगठनिक राजनीति के स्थान पर 'पापुलिस्ट' राजनैतिक शैली को अपनाया। श्रीमती गांधी ने एक तरफ तो कांग्रेस के आंतरिक दलीय संगठन को छिन्न-भिन्न करने का कार्य किया तो दूसरी तरफ उनकी यही कोशिश अन्य राजनीतिक दलों के संदर्भ में भी रही। पार्टी संगठन की अनुपस्थिति के चलते ही अंततः ढेर सारी गैर-लोकतांत्रिक गतिविधियों की घुसपैठ भारतीय राजनीति में हुई। जब पार्टी नहीं रही तो चुनाव के समय जनता से सीधे संपर्क का जरिया भी खत्म हो गया। धन और बाहुबल के आधार पर ही जनता तक पहुंचने की रणनीति बनने लगी। यही नहीं, राज्यों के मुख्यमंत्री भी अब केन्द्र की कठपुतली बन गये। राजनीति के संचालन के लिए धन की आवश्यकता बढ़ी। धन एकत्र करने का काम विशेषज्ञों के हाथों में आ गया और उनसे असुविधाजनक प्रश्न पूछने को राजनीतिक नासमझी माना जाने लगा। सत्ता के मद से नेताओं में सामंतवादी प्रवृत्तियां बढ़ने लगी। भाई-भतीजावाद के साथ ही प्रच्छन्न भ्रष्टाचार ने भी राजनीति की उर्वर जमीन में जड़ें जमानी प्रारंभ की। राजनीतिक दांव-पेंच में सांप्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद और क्षेत्रवाद का दोहन प्रारम्भ हुआ।

राजनीति के अगले चरण में भ्रष्टाचारियों की हिम्मत बढ़ी, उनके निर्लज्ज घिनौने चेहरे सामने आये। राजकीय सौदों में कमीशन लिया जाने लगा। आयाराम-गयाराम की राजनीति में विधायिकाओं के सदस्य स्वयं को नीलाम करने लगे। सड़की राजनीति ने दुःसाहसी युवा नेताओं को जन्म दिया, जिन्हें न आदर्शों की चिंता थी न साधनों की। शब्दशक्ति और बाहुबल से वे अपना काम चला लेते थे। इस दौर में राजनीतिक नेताओं, आपराधिक तत्वों और माफिया गिरोहों के बीच संवाद और सहयोग बढ़ा।

लोकतांत्रिक संस्थाओं के ह्रास और गैर-जनतांत्रिक तरीकों के भारतीय राजनीति में प्रवेश के अगले चरण में मंडल और कमंडल की राजनीति ने नये संभ्रम फैलाये। नौकरशाही और पुलिस अपनी अपेक्षित तटस्थ भूमिका के निर्वहन में असमर्थ रही। नेताओं ने उनकी निष्ठा को अपने पक्ष में झुकाने के सफल प्रयास किये तथा नेताओं से जुड़े आपराधिक तत्वों से उनके नये समीकरण बनने लगे जो एक-दूसरे के लिए परस्पर लाभदायक थे। अब आपराधिक तत्व सहयोगी न रहकर सहभागी बनने लगे हैं, विधायिकाओं के सदस्य और

मंत्री बन इन तत्वों ने नया सामाजिक सम्मान प्राप्त किया है और अपनी स्थिति का उपयोग अपने हितसाधन में किया है। ऐसा नहीं है कि चरित्रवान नेता है ही नहीं, पर वे असहाय हो गये हैं। वे स्थिति को नियंत्रण में रख सकने में असमर्थ हैं।

डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी ने ठीक ही लिखा है, "स्वतंत्रता के पश्चात विधायकों की गुणवत्ता में ह्रास होता गया है। विधायकों में प्रतिभा विद्वता और लगन का अभाव पाया जाता है। हमारे सार्वजनिक प्रशासनों के गिरते हुए स्तरों का यह एक प्रधान कारण हो सकता है। भारत में मूल्यों की राजनीति के स्थान पर सत्तालोलुपता की राजनीति का सूत्रपात हो चुका है।"[9] देश में एक समानान्तर सत्ता विकसित हो गयी है जो वैध सत्ता को भी झुका लेती है। इसका सबसे नवीनतम उदाहरण केन्द्र की यूपीए सरकार द्वारा विश्वास मत प्राप्त हासिल करने के दौरान पक्ष-विपक्ष द्वारा अपनी संख्या को बढ़ाने के लिए किए गये प्रयास हैं। किस तरह सजायाफ्ता मुज़रिमों तक को जेलों से निकाला गया, औद्योगिक घरानों का खुलकर इस्तेमाल हुआ, पद पैसे के प्रलोभन को जरिया बनाया गया। सर्वाधिक शर्मनाक तो सदन के पटल पर नोटों को लहराया जाना रहा। ये सभी घटनायें न सिर्फ वर्तमान भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाओं के गिरते स्तर को बयान करती है वरन् एक खतरे की घंटी भी बजा रही है। वास्तव में यह लोकतांत्रिक संस्थाओं और मूल्यों में ह्रास ही है कि अब भ्रष्टाचार हमें उद्वेलित नहीं करता, हम बोफोर्स, चारा घोटाले, हवाला प्रकरण, संसद सदस्यों से संबंधित सीडी कांड को सह लेते हैं और प्रतिभूति घोटाले को पचा लेते हैं। सत्ता के इस अद्यतन खेल में सब कुछ जायज है। सत्ता सर्वस्व के साथ अन्य सुख भी दे सकती है। धन, वैभव और भोगवादी जीवनशैली/सीमित जीवन का नवीन प्रजातांत्रिक संस्करण है यह।

वस्तुतः इन तमाम विसंगतियों की जड़ हमारी यह मानसिकता है कि 'कोउ नृप होई, हमें का हानी', इस दृष्टि ने हमारी सहनशक्ति को लचीला बना दिया है और हमारी प्रतिरोधक क्षमता को कुंठित कर दिया है। पत्रकारों को बड़े अनुदानों से मौन रखा जा सकता है, बुद्धिजीवियों को सम्मोहन से रिझाया जा सकता है। वे आलोचना फिर भी करते रहेंगे, पर उसकी धार वह नहीं रहेगी, जो रहनी चाहिए। वे प्रतिरोध की शक्तियों को सक्रिय नहीं कर सकेंगे।

इस ह्रास व पतन का एक मुख्य कारण है हमारे सामाजिक चरित्र में गिरावट का आना, जैसा कि यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में कहा भी है, 'राज्य वृक्षों और चट्टानों से नहीं बना सकते। वह बनते हैं उन व्यक्तियों के चरित्र और व्यवहार से जो उसमें निवास करते हैं।' किन्तु आज कल हमारा सामाजिक आचरण और व्यवहार लक्ष्यों में भ्रष्ट और साधनों में अवसरवादी हो गया है। वैश्वीकरण के कार्यक्रम ने कुछ अच्छे परिणाम दिये हैं तो इसके साथ ही अनियंत्रित लिप्सावाद का प्रसार भी किया है। नया धर्मसूत्र है 'धनी बनो, और जल्दी'। धन सुख का पर्यायवाची बन गया है। इसका स्वाभाविक परिणाम हुआ है, सामाजिक विषमता में वृद्धि होना और अंततः लोकतांत्रिक मूल्यों का विस्मरण।

वस्तुतः जैसे-जैसे स्वातंत्रय आंदोलन से उपजा व्यापक वैचारिक धरातल वाला नेतृत्व चुक गया, वैसी ही वैचारिक ऊर्जा की विरासत छोड़ने में असमर्थ होता गया और महात्मा गांधी की परिणति इंदिरा गांधी में होनी शुरू हुई। सार्वभौम वैचारिकता के ताने-बाने बिखर गये। उनके द्वारा रिक्त हुए स्थान की पूर्ति हेतु क्षुद्र सीमित दायरे उभरने लगे। वास्तविक समस्या यह है कि ये परिवेशी क्षुद्रतायें और अलोकतांत्रिक संरचना के सहारे सचमुच हम

वहीं पहुंचना चाहते हैं ? यदि नहीं, तो पहली बात तो यह माननी होगी कि वर्तमान भारतीय राजनीतिक नेतृत्व में वह शक्ति शेष नहीं रह गयी कि वह छोटे-छोटे बंधे तालाबों को एक विशाल नद में बदल सके। क्योंकि उसके पास वह उर्जा नहीं है जो एक आम भारतीय को छोटे परिवेश से निकालकर उसे विराट परिवेश का हिस्सा बना दें और दूसरी बात यह कि विशुद्ध सामाजिक स्तर पर कोई सार्वभौम शक्ति उभरकर हस्तक्षेप करे, तभी मौजूदा राजनीतिक दुष्चक्र टूट सकता है। चिंता यही है कि आखिर उस सामाजिक शक्ति का अभ्युदय कैसे हो, जो आम भारतीय को पर्याप्त शिक्षित विवेकशील बना सके। जिससे वह अपने क्षुद्र परिवेश से टूटकर व्यापक कल्याणकारी लोकतांत्रिक व्यवस्था का हिस्सा बन सके।

उपरोक्त तमाम विसंगतियों और कमियों से निराश व हताश होने की जरूरत कदापि नहीं है। भारतीय जनता में जागरूकता बढ़ी है। राष्ट्र हित की चेतना संसदीय मंतव्य को उजागर कर देती है। सुभाष कश्यप ने ठीक ही लिखा है, कि भारतीय मतदाता किसी भी दल को सत्ता से वंचित कर सकता है और अपने देश की राजनीतिक संरचना तथा इतिहास के प्रवाह को बदल सकता है। यही तथ्य लोकतंत्र का सार और आधार है।[८] जनता की बढ़ती हुई लोकतांत्रिक जीव में गहरी आस्था राजनीतिक जागरूकता और परिपक्वता का परिचय देती है। यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय समाज गरीबी और बेकारी की समस्या के साथ ही जाति एवं धर्म पर बांटने में लाभार्थी वर्ग (शासकवर्ग) की साजिश का शिकार हो रहा है। संसदीय भटकाव में फंसी लोकतंत्र कैद है। इससे निकलने का सिर्फ एक ही रास्ता है- जन संघर्ष।[९] जो जन- समस्याओं से जुड़ी हुई मुद्दों के आधार पर जनता की सूझबूझ से, जनता के समर्थन एवं सहयोग से लड़ी जा सकती है।[१०] जनता की चेतना को कुंठित करने के लिए प्रशासनिक नाटक, न्यायिक दिलासा, जनकल्याण का छलावा, जाति और धर्म की राजनीति, स्वयंसेवी संस्थाओं एवं विकास अभिकरणों द्वारा खैरात की संस्कृति फैलाने का काम आदि के द्वारा जनता को व्यामोह में फंसाये रखती है। ऐसे में चेतनशील ताकतों की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है, जो उत्प्रेरक की तरह चमकते दर्पण पर जमे धूल को साफ करने की कोशिश करें, जिससे जनता अपना चेहरा स्वयं अच्छी तरह देख सके, लेकिन उत्प्रेरक होने के लिए भी महज उत्साह नहीं संघर्ष का अनुभव, सामाजिक शक्ति के प्रति निष्ठा एवं नैतिक उंचाई का होना भी आवश्यक है। इसी बिन्दु पर बुद्धिजीवियों, शिक्षकों, संविधानविदों के मध्य एक गहरे विचार-विमर्श का आवश्यकता है। यह उम्मीद की जानी चाहिए कि इस विचार मंथन से वह अमृत निकलेगा जो हमारी मृतप्राय लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए संजीवनी बनकर उसे नया स्वरूप प्रदान करेगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

१ लार्ड ब्राइस, एशेज ऑन रिफार्म, पेज-२७३

२ गोस्वामी, भालचन्द्र प्रखर, 'स्वतंत्र भारत के पचास वर्ष, भाग-१, प्रथम संस्करण १९९८, पृ० १७५

३ रघुकुल तिलक, लोकतंत्रः स्वरूप एवं समस्याएं, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ १९७२

४ कश्यप, सुभाष, भारतीय राजनीति और संसदः विपक्ष की भूमिका', राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९८ पृ० ९-१०

५ सिंह, रघुवीर, पुण्ताम्बेकर मेमोरियल लेक्चर, इंडियन पोलिटिकल साइंस कांफ्रेंस, जोधपुर विश्वविद्यालय, १९८४

६ सिंह, रघुवीर, पुण्ताम्बेकर मेमोरियल लेक्चर,

इंडियन पोलिटिकल साइंस कांफ्रेंस, जोधपुर विश्वविद्यालय, १६८४

७ सिंघवी, लक्ष्मीमलः भारतीय संसद-नयी दृष्टि, लोकतंत्र समीक्षा, जनवरी मार्च १६६६, पृ० ३१

८ कश्यप, सुभाष, दिनमान, ६ सितम्बर, १६७०, पृष्ठ ६-७

६ बी० निकितिन, पोलिकटल इकोनामी प्रोग्रेस, मास्को

१० प्रधान हरिशंकर प्रसाद, 'मास स्ट्रगल (ओनली ऑप्सन), इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, २८ जनवरी, १६६५

इस्लाम धर्म व्यक्ति के हृदय में मतभेद रूपी अंधकार को दूर करके एकता का सूर्य उदय करता है। इस्लाम ने मानव एकता की विस्तृत और सार्वभौमिक स्पष्ट धारणा प्रस्तुत की है और उसके बहुत ही ठोस आधार स्थापित किये हैं। प्रथम सारे मानव एक ईश्वर की सृष्टि और बन्दे हैं। द्वितीय उनका मूल एक है, इसीलिये वह अपने समस्त बाह्य आदर्शों के बावजूद एक इकाई है, इस्लाम इन आधारों पर सम्पूर्ण मानव जाति के सभी वर्गों को जोड़ता है। इसके साथ ही इस्लाम यह भी कहता है कि सारे मनुष्य वास्तव में एक ही माँ-बाप की संतान हैं, वे एक दूसरे के भाई हैं जो संसार के एक भाग से दूसरे भाग तक फैले हुये हैं। अल्लाह तआला ने उनके बीच बन्धुत्व और भाईचारा का जो सम्बन्ध स्थापित कर दिया है उसे तोड़ने की इस्लाम हरगिज अनुमति नहीं देता और इस दिशा में जो भी कदम उठाये जायें उसका इस्लाम विरोध करता है। भूमण्डलीकरण और उत्तर आधुनिकता के इस युग में इस्लाम धर्म की क्या प्रासंगिकता एवं उपादेयता हो सकती है। इस पर आप अपने विचार 'कृतिका' के विशेषांक २००६, मुसलमान दशा : एवं दिशा में भेजकर सहयोग प्रदान करें।

मानवाधिकार की संकल्पना, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य

*डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये सामाजिक वातावरण का स्वस्थ्य दृष्टिकोण आवश्यक होता है क्योंकि स्वस्थ्य (सकारात्मक) परिस्थितियों के द्वारा ही कोई व्यक्ति अपना विकास कर सकता है। समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये कतिपय अधिकारों की आवश्यकता होती है अर्थात् इनके अभाव में उसके व्यक्तित्व का विकास समाज में संभव नहीं है। इन्हीं को मानव अधिकार कहा जाता है। मानवाधिकार शब्द अपने आपमें स्वतंत्र अस्तित्व रखता है क्योंकि मानव अपने अस्तित्व में आने तक की यात्रा में उसे अधिकार विरासत में प्राप्त होते चले गये। नैतिक एवं कानूनी रूप में जब हम मानव अधिकार की बात करते हैं तो जो मानव जाति के विकास के लिये मूलभूत मानवीय गरिमा को सुनिश्चित करता हो वह मानवाधिकार कहलाता है। मानव अधिकार मानव के विशेष अस्तित्व के कारण उनसे सम्बन्धित है इसलिये ये जन्म से ही प्राप्त हैं और इसकी प्राप्ति में जाति, लिंग, धर्म, भाषा, रंग तथा राष्ट्रीयता बाधक नहीं होती। मानव अधिकार को 'मूलाधिकार' आधारभूत अधिकार अन्तर्निहित अधिकार तथा नैसर्गिक अधिकार भी कहा जाता है। "मानव अधिकार की कोई सर्वमान्य विश्वव्यापी परिभाषा नहीं है। इसलिये राष्ट्र इसकी परिभाषा अपने सुविधानुसार देते हैं। विश्व के विकसित देश मानवाधिकार की परिभाषा को केवल मनुष्य के राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों को भी शामिल रखते हैं।"[१] मानवाधिकार को कानून के माध्यम से स्थापित किया जा सकता है। इसका विस्तृत फलक होता है, जिसमें नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार भी आते हैं, "चीन तथा इस्लामी राज्य कहते हैं कि मानवाधिकार की परिभाषा, सांस्कृतिक मूल्य के अन्तर्गत दी जानी चाहिये अर्थात् मानवाधिकार में मनुष्यों के सांस्कृतिक अधिकार को भी शामिल किया जाना चाहिये।[२] चूँकि मानव के अधिकार नैसर्गिक हैं, लेकिन सामाजिक जागरूकता और कर्तव्यों की जानकारी न होने के कारण मानव के अधिकारों का हनन हो रहा है। ऐसी स्थिति में मानवाधिकार राज्य से विधिमान्य अपेक्षाएं रखता है साथ ही अपेक्षा करता है कि राज्य मानवाधिकार का निर्माता होने के साथ-साथ संरक्षक भी रहे।

मानव अधिकारों के पद का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जनवरी १६४१ में कांग्रेस को सम्बोधित अपने प्रसिद्ध संदेश में किया था, जिसमें उन्होंने चार मर्मभूत स्वतंत्रताओं वाक् स्वातंत्र्य गरीबी से मुक्ति और भय से स्वातंत्र्य पर आधारित विश्व की घोषणा की थी।[३] अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जब मानवाधिकार की बात होती है, तब इसे मानवाधिकार बिल के रूप में कोडीकृत तथा परिभाषित किया गया। इसमें विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों एवं घोषणाओं का योगदान है। मानवाधिकार के विकास में वैधानिक प्रावधान, प्रशासनिक आदेश तथा स्थानीय स्तर पर न्यायिक घोषणाओं की महती भूमिका रही है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार की यदि हम बात करें तो मानव-अधिकार की विभिन्न समस्याएं नस्लीय भेदभाव, भाषायी अधिकार, धार्मिक अधिकार,

* वरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, डी. वी. (पी. जी.) कालेज, उरई

स्वतंत्रता, लैंगिक भेदभाव (लिंगभेद), मृत्युदंड, पुलिस अत्याचार (नृशंसता) मौलिक अधिकार के उल्लंघन से जुड़ी हुई हैं। मानवाधिकार से जुड़ी ये समस्याएं अब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नीति-निर्माताओं, शिक्षकों, समाजसेवियों एवं छात्रों का ध्यान आकर्षित करने लगी हैं।

स्वतंत्र भारत का संविधान हर नागरिक के मूलभूत अधिकारों की सुरक्षा की गारण्टी देता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद २१ के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को अपनी मानवीय गरिमा से जीने का अधिकार सुनिश्चित करता है। इसके तहत प्रत्येक मानव को गरिमापूर्ण जीवन व्यतीत करने के साथ कुछ न्यूनतम आवश्यकतायें अनिवार्य हैं, जिसमें मजदूरों (स्त्री एवं पुरूष) के स्वास्थ्य एवं शक्ति तथा बच्चों के शोषण के विरूद्ध संरक्षण के साथ बच्चों को स्वस्थ्य रूप से विकसित होने के साथ-साथ, स्वतंत्रता एवं गरिमा का माहौल बनाए रखना, समान शिक्षा का अवसर प्रदान करना तथा मातृत्व सुविधा प्रदान करने के लिए न्यायपूर्ण एवं मानवोचित परिवेश बनाना चाहिए। लेकिन हकीकत कुछ भी हो परन्तु स्वतंत्र भारत के संविधान लागू होने के आधी सदी से अधिक बीत जाने के बाद लोगों में मानवाधिकारों के प्रति सजगता तो दिखती है परन्तु अपने कार्यक्षेत्र में अपने विरूद्ध किए जा रहे उत्पीड़न को चुपचाप सहते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मानवाधिकार के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करना, विकास का केन्द्रीय एवं अपरिवर्तनीय लक्ष्य हो गया है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार की घोषणा

रूजवेल्ट ने कहा था "स्वातन्त्र्य से हर जगह मानव अधिकारों की सर्वोच्चता अभिप्रेत है। हमारा समर्थन उन्हीं को है, जो इन अधिकारों को पाने के लिए या बनाये रखने के लिये संघर्ष करते हैं - मानव अधिकारों पद का प्रयोग अटलांटिक चार्टर में किया गया था। उसी के अनुरूप मानव अधिकारों पद का लिखित प्रयोग संयुक्त राष्ट्र चार्टर में पाया जाता है। जिसको द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात सेन फ्रांसिकों में २५ जून १९४५ को अंगीकृत किया गया है।"[४] मानवाधिकार की विश्वव्यापी घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ के बैनर तले हुई। १० दिसम्बर १९४८ के संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानवाधिकार आंदोलन को अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए अनिवार्य तत्व के रूप में प्रारंभ करने के साथ मानवाधिकार चार्टर भी प्रकाशित किया। संघ अपने सदस्यों से अपेक्षा करता है कि इसके चार्टर का ईमानदारी से पालन किया जाए। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से पूर्व भी यद्यपि इस दिशा में स्थानीय स्तरों पर छोटे-मोटे प्रयास किये जाते रहे हैं जिनके योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता है पूर्व में किये गये इन छुटपुट प्रयासों के आंकलन से विदित होता है कि "सबसे पहले मानवाधिकारों के लिये संघर्ष की शुरूआत १५ जून १२१५ से हुई जब बिट्रेन के तत्कालीन सम्राट जॉन को उसके मामलों द्वारा कतिपय मानवीय अधिकारों को मान्यता देने वाले घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये विवश किया गया था। इतिहास में इसे 'मैग्नाकार्टा' कहा जाता है, मैग्नाकार्टा के द्वारा जो अधिकार सामन्तों को प्राप्त हुये वे कालान्तर में जनसाधारण को हस्तान्तरित हो गए। इसी प्रकार वर्ष १६२८ के अधिकार-पत्र पर बिट्रेन के सम्राट के हस्ताक्षर करवाने में बिट्रेन की संसद सफल हुई जो कालान्तर में मानवीय अधिकारों के क्षेत्र में मील के पत्थर सिद्ध हुए।"[५] मानवाधिकार की अंतर्राष्ट्रीय घोषणा के तहत निम्न अधिकार समाहित हैं -

- वाक स्वतंत्रता का अधिकार
- न्यायिक उपचार का अधिकार
- सरकार (किसी देश में) की भागीदारी का अधिकार

- काम का अधिकार
- स्तरीय जीवन जीने का अधिकार
- आराम एवं सुविधापूर्ण जीवन जीने का अधिकार
- शिक्षा का अधिकार
- समान काम के लिए समान वेतन का अधिकार
- सामाजिक सुरक्षा का अधिकार
- वैज्ञानिक प्रगति में भाग एवं उससे लाभ लेने का अधिकार
- जीवन, सुरक्षा एवं स्वतंत्रता का अधिकार
- मनमानी ढंग से गिरफ्तारी अथवा निर्वासन के विरूद्ध अधिकार
- विचार, विवेक एवं धार्मिक स्वतंत्रता
- निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायिक सुनवाई का अधिकार
- शांतिपूर्ण सभा संगोष्ठी करने तथा संघ बनाने का अधिकार''[६]

संयुक्त राष्ट्र के इस घोषणा पत्र के मूल में मात्र प्रजातांत्रिक (लोकतांत्रिक) संविधानों में निहित नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार ही नहीं अपितु कई आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की भी चर्चा है। प्रत्येक नागरिक एवं राष्ट्र के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक देश का यह कर्तव्य है कि वे अपने यहाँ इन अधिकारों का संवर्द्धन तथा संरक्षण सुनिश्चित करें साथ ही प्रत्येक नागरिक के लिये इन अधिकारों को प्रभावी बनाने तथा उनका निरीक्षण करने के लिये जागरूक एवं प्रेरित किया जाना चाहिए।

सन् १९४८ से सन् १९५४ के बीच संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग ने वैधानिक रूप से दो मसौदे तैयार किए। सन् १९७६ में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अधिकारों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय मसौदा तैयार किया गया। इस अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा के साथ-साथ इन प्रावधानों को जोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार बिल बनाया गया। इसमें नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार जहाँ परम्परागत अधिकार की श्रेणी में आते हैं, वहीं दूसरी ओर आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार, आधुनिक अधिकार हैं।

भारत में मानवाधिकार

मानवाधिकार किसी व्यक्ति या समूह विशेष द्वारा की जाने वाली मांग से ज्यादा राज्य के कर्तव्य क्षेत्र का हिस्सा होना चाहिए। यदि किसी भी व्यक्ति या समूह द्वारा यह तथ्य उभारा या प्रस्तुत किया जा रहा है कि उसका मानवाधिकार हनन हो रहा है, उसके जीवन के प्रति विपरीत परिस्थितियां हैं तो यह राज्य की उपेक्षा को प्रदर्शित करता है। राज्य सत्ता से चलता है और सत्ता के मुखिया की भूमिका राजा की तरह ही है।''[७] भारत में मानवाधिकार की शुरूआत के बारे में आम सहमत नहीं है। एक वर्ग का मानना है कि इसकी शुरूआत स्वतंत्रता आन्दोलन के समय अंग्रेजी सरकार के विरूद्ध चलाए गए आन्दोलन या अभियानों के तहत इसकी शुरूआत हुई, वहीं दूसरों का मानना है कि भारत का गौरवशाली इतिहास इस बात का साथी रहा है, जिनमें सहनशीलता, उदारता और दया भारतीय परम्परा के अभिन्न अंग रहे हैं। ऐसा सिर्फ भारत में होता आया है अन्य देश तो केवल इसे आचरण में ढ़ालने तक ही सीमित रहे परन्तु इसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली। प्राचीनकाल से हमारा धर्म एवं संस्कृते दूसरे देशों की संस्कृतियों एवं धर्मों को आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखता रहा है। हमारी वैदिक सभ्यता में सहनशीलता और दूसरों के प्रति आस्था का सम्मान करते हुए इसमें मानव अधिकार के संरक्षण की परम्परा रही है। तथापि संहिताबद्ध कानून तथा न्याय में मानव अधिकार को

अनिवार्य बाध्यता के रूप में स्थान नहीं दिया गया था। यद्यपि एक विकसित न्याय व्यवस्था का अस्तित्व था, किन्तु कोई मानव अधिकार घोषणा पत्र नहीं था। हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म तथा अशोक के शिलालेखों पर उत्कीर्ण दार्शनिक आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों में मानव-अधिकार के पुट व्याप्त थे। मौलिक अधिकारों की मान्यता स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान की गई। यह संघर्ष मलरूप से नागरिक एवं मानवाधिकारों को कुचलने के [illegible] था। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान चले स्वराज (भारतीय शासन) आन्दोलन लाखों भारतीयों में आत्म चेतना जगाने तथा उन्हें नैतिक एवं वैधानिक रूप से सजग बनाने का प्रयत्न था।

आजादी के पश्चात भारतीय संविधान में नागरिकों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए ठोस प्रावधान बनाए गए तथा उन्हें न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व का दर्जा प्रदान किया गया।

मानवाधिकार के क्षेत्र

भारतीय एवं वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखने पर मानव अधिकार की विभिन्न समस्याएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमें प्रमुख नस्लीय भेदभाव, धार्मिक अधिकार, भाषाई अधिकार, लिंगभेद, पुलिस अत्याचार आदि जो मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के कारण उत्पन्न हुई हैं। वर्तमान के युग में मानव अधिकार उल्लंघन की कई घटनायें घटित हो रही हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में दलितों पर अत्याचार, बड़ी परियोजनाओं के कारण लोगों के विस्थापन, प्राकृतिक आपदा (चक्रवात, सूखा इत्यादि) से प्रभावित लोगों की मूलभूत सुविधा उपलब्ध कराने सम्बन्धी कमी की समस्या, बच्चों के साथ अमानवीय बर्ताव, बच्चों की वेश्यावृत्ति के लिए बाध्य करना (विशेषकर दिल्ली, कर्नाटक और उड़ीसा में) कई राज्यों में आतंकवादी गतिविधियों, जेल में बलात्कार तथा उत्पीड़न, महिला हिंसा, बंधुआ मजदूरी, अल्पसंख्यकों के प्रति किया जाने वाला अत्याचार एवं धार्मिक सहिष्णुता के प्रश्न जुड़े हुए हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात मानव अधिकारों के प्रति विश्व समुदाय की चिन्ता लाजिमी थी और भारत का स्वतंत्रता आन्दोलन इस बात का जीवंत उदाहरण है, जिसमें नागरिक अधिकार एवं मानव अधिकारों के लिए ही लड़ाई लड़ी गयी। पं. जवाहर लाल नेहरू ने स्वतंत्रता आन्दोलन के पहले ही इन मानव सम्बन्धी अधिकारों का प्रचार-प्रसार शुरू कर दिया था। पं. जवाहर लाल नेहरू की निस्वार्थ भावना और निष्ठा से इस दिशा में प्रगति हुई और उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया से गुजरते हुए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग N.H.R.C. की स्थापना सन् १९९३ में की गई। यह राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग मानव अधिकारों के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए हमारी चिन्ता का प्रतिफल है। इसका गठन मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम १९३३ के अधीन किया गया, जो २८ सितम्बर १९९३ से अस्तित्व में आ गया। जम्मू एवं कश्मीर राज्य इसका अपवाद है। यह अधिनियम इस राज्य के उन्हीं विषयों पर लागू होता है, जिनकी चर्चा सूची १ से ३ तक तथा अनुसूची VIII में है। इस अधिनियम में आयोग को वैधानिक दर्जा मिलने के साथ-साथ यह भारत में मानव अधिकार के संरक्षण तथा संवर्द्धन का आधार तैयार करता है। मानव अधिकार अधिनियम १९९३ की धारा (३०) में मानव अधिकार हनन से जुड़े मामलों की शीघ्र जांच तथा न्याय दिलाने के लिए मानव अधिकार न्यायालयों के गठन का प्रावधान है। इसके साथ ही आयोग निम्न कार्य निष्पादित करेगा -

- ✦ घटना से पीड़ित व्यक्ति के द्वारा दायर याचिका पर जांच करेगा साथ ही उसे यह भी जांच करने का अधिकार है कि लोक सेवक द्वारा कहाँ तक ढिलाई की गई है।

- मानव अधिकार को हनन करने वाले आतंकवाद सहित अन्य कारकों की समीक्षा करेगा। इसको समाप्त करने के उपचार भी करेगा।
- समाज के विभिन्न वर्गों में मानव अधिकार के प्रति सजगता फैलाएगा। वह प्रकाशनों, मीडिया तथा सेमिनारों के माध्यम से मानव अधिकार संरक्षण के प्रति जागरूकता फैलाएगा।
- मानव अधिकार के क्षेत्र में कार्यरत गैर सरकारी संगठनों तथा अन्य संस्थाओं को प्रोत्साहित तथा मानव अधिकार सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय घोषणाओं और रूचियों की समीक्षा करेगा तथा उनके प्रभावी क्रियान्वयन के लिए उपाय सुझाएगा' मानवअधिकार पर शीघ्र कार्य को प्रोत्साहित करेगा।
- किसी न्यायालय में मानव अधिकार उल्लंघन का मामला दर्ज हो तो उस न्यायालय के अनुमोदन से मामले में हस्तक्षेप करेगा। साथ ही राज्य सरकार को सूचित कर राज्य सरकार द्वारा संचालित किसी उपचार स्थल शिविरों एवं अन्य संस्थानों में जहाँ लोगों को रखा गया है, उनकी स्थिति जाँचने के लिए पहुँच सकता है।
- मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए संवैधानिक प्रावधान अथवा किसी कानून की समीक्षा कर सकता है और उसे प्रभावी बनाने के लिए सुझाव दे सकता है।

ऐसी परिस्थितियों में आयोग कार्य करते हुए अपना दृष्टिकोण रखता है और इसके कार्यों का उल्लंघन करने पर उसे निम्न अधिकार प्राप्त हैं -

१९०८ की सिविल प्रक्रिया संहिता के तहत आयोग को सिविल न्यायालय की शक्ति प्राप्त है, जिसके तहत आयोग गवाह के खिलाफ सम्मन जारी कर सकता है। साक्ष्य खोजने और संरक्षण का अधिकार के साथ शपथनामा (प्रमाणपत्र प्राप्त करने) सार्वजनिक रिकार्ड प्राप्त करने, किसी न्यायालय से कागजात प्राप्त करने इत्यादि के अधिकार इसके पास हैं। आयोग अथवा आयोग द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति किसी भवन में प्रवेश कर सकता है, उसे साक्ष्य को जब्त करने और उसकी प्रति प्राप्त करने का अधिकार है। साक्ष्य एवं गवाहों की तहकीकात के पश्चात संतुष्ट होने पर वह मामले को दण्डाधिकारी को सुपुर्द करने का अधिकार रखता है। आयोग के समक्ष कोई भी कार्यवाही, न्यायिक कार्यवाही मानी जायेगी।

राज्य मानवाधिकार आयोग

भारत के राज्यों में मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम १९९३ की धारा २१ में राज्य में मानवाधिकार आयोग गठन का प्रावधान है और राज्यों में इसके गठन की प्रक्रिया तेजी से बढ़ रही है। इन आयोगों के वित्तीय भार का वहन राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। सम्बन्धित राज्य का राज्यपाल, अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति करता है। आयोग का मुख्यालय राज्य में कहीं भी हो सकता है।

सन् १९९३ की धारा २१ (५) के तहत राज्य मानव अधिकार के हनन से सम्बन्धित उन सभी मामलों की जांच कर सकता है, जिनका उल्लेख भारतीय संविधान की सूची II तथा III एवं IV में किया गया, वहीं धारा ३६ (६) के अनुसार आयोग ऐसे किसी भी विषय की जांच नहीं करेगा, जो किसी राज्य आयोग अथवा अन्य आयोग के समक्ष विचाराधीन है।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह बात स्वीकार की गई है कि मानवाधिकार के बिना धारणीय विकास सम्भव नहीं है, किन्तु यहाँ लोग

यह मानने को तैयार नहीं हैं कि विकास के बिना मानव अधिकार में संवर्द्धन भी नहीं हो सकता है, इसके लिए विवेक सम्मत विधान और सशक्त समाज की आवश्यकता है, किन्तु देखा जाए तो ये अपने आपमें पूर्ण नहीं है। मानव अधिकार को अवधारणा एवं निर्माण की दृष्टि से देखा जाये तो इसे सरकार एवं संगठित लोगों ने बनाया है वे स्वतः नहीं मिलते क्योंकि सार्वजनिक सेवा का लाभ समाज के गरीब वर्गों को तभी मिलता है, जब सरकार उसे प्रदान करने में सक्षम होती है और ऐसा तभी होता है, जब वहाँ का शासन भ्रष्टाचार से मुक्त होता है। बालश्रम को तभी समाप्त किया जा सकता है, जब समाज की आर्थिक परिस्थिति ऐसी हो, जिसमें बच्चे माता-पिता की आय पर आश्रित हों तथा सक्षम न्याय प्रणाली द्वारा कानूनी प्रावधानों का पालन होता हो। वियना में आयोजित मानवअधिकार सम्मेलन में प्रत्येक मानव को समान महत्व दिया गया। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में सर्वप्रथम बहुउद्देशीय मानव अधिकार संधि की चर्चा की गई। संयुक्त राष्ट्र, चार्टर में मानव अधिकार की घोषणा प्रस्तावना-अनुच्छेद १, १३ अनुच्छेद ५५, अनुच्छेद ६८, अनुच्छेद ७६ में है। इसके प्रस्तावना में कहा गया "हम संयुक्त राष्ट्र संघ के लोग भावी पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए कृत संकल्प हैं। हमने अपने जीवन काल में मानव समुदाय को दो बार इन विभीषिकाओं से उत्पीड़ित होते देखा है। हम मौलिक अधिकार गरिमा और मानव मूल्य में विश्वास व्यक्त करते हुए स्त्री-पुरूष के समान अधिकारों तथा छोटे-बड़े राष्ट्रों को एक दृष्टि से देखने का प्रयास करेंगे। इस घोषणा के अनुच्छेद ३० में नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार प्रदान करने की बात कही गई है। इस प्रकार १९४८ का घोषणा पत्र स्वतंत्रता के क्षेत्र में सभी राष्ट्रों को समान मानदंड उपलब्ध कराता है। इस घोषणा के अनुच्छेद (१) में कहा गया है कि सभी मनुष्य जन्म से समान हैं तथा वे अधिकार एवं गरिमा में बराबर हैं।" मानव को सभी के साथ तर्कयुक्त एवं विवेकपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उन्हें दूसरों के साथ विनम्र एवं मातृत्वपूर्ण आचरण करना चाहिए। मानव अधिकार सम्बन्धी वैधानिक रूप से बाध्य करने वाले दो अन्तर्राष्ट्रीय मसौदे तथा नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार से सम्बन्धित समझौते को २३ मार्च, १९७६ को कार्यान्वित किया गया। इन दोनों घोषणाओं के आधार पर भारत ने अपना मानव अधिकार सम्बन्धी घोषणा पत्र तैयार किया।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य की जब हम बात करते हैं तो आज मानव अधिकार की अवधारणा महत्वपूर्ण हो गयी है। मानव अधिकार आन्दोलन की उपादेयता तभी है, तब समाज के सभी नागरिकों को मानव अधिकार उपलब्ध हों। मानव अधिकार का मूल मकसद (अवधारणा) यह होना चाहिए कि समाज से सभी प्रकार के भेदभाव का अन्त हो। वर्तमान राजनैतिक तंत्र राष्ट्रीय लक्ष्य को प्राप्त करने में सक्षम नहीं हो पा रहा है। भारत के संदर्भ में जिन मूल्यों के आधार पर स्वतंत्रता आन्दोलन चलाया गया, उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। वे मूल्य विश्लेषण और विकास के लिए उचित ढांचा प्रदान करते हैं। वर्तमान में पाश्चात्य विचारों के समागम ने मानव चेतना को झकझोर दिया है। भारत ने सभी उत्तम विचारों को विवेकपूर्ण दृष्टि से स्वीकार करते हुए एक राजनैतिक तंत्र विकसित किया है और संविधान निर्माता यह महसूस करते थे कि बुनियादी मानवाधिकार के बिना प्राप्त की गई स्वतंत्रता बेमानी है। इसलिये भारतीय संविधान में मानवाधिकारों को वैधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

नागरिक स्वतंत्रता के लिए भारत के कर्णधारों ने प्रारम्भ से ही ध्यान देना शुरू कर दिया था और इसी के तहत भारत में मानव अधिकारों

को शुरू से ही महत्व दिया जाता रहा है। किन्तु हाल के वर्षों में भारतीय परिप्रेक्ष्य में मुम्बई दंगे, गुजरात के दंगे, तमिलनाडु एवं उड़ीसा में झींगा की खेती, गोधरा काण्ड, संसद पर हमला, उड़ीसा में पुलिस हिरासत में सुमन बेहरा को बंधक बनाकर रखने की घटना एवं सार्वजनिक रूप से महिलाओं की हत्या, हिंसा जैसी घटनाएं मानवाधिकार के हनन के साक्ष्य हैं। इससे मानवाधिकार के फलक में विस्तार हो रहा है। हमारे भारतीय समाज की लगभग आधी आबादी गरीबी में जीवन व्यतीत कर रही है। आधे निरक्षरता के अंधकार में डूबे हुए हैं। शोषण के कारण समाज का एक बड़ा समूह उत्पीड़ित है अर्थात् मानव गरिमापूर्ण जीवन नहीं व्यतीत कर रहा है। सामाजिक कार्यकर्ता अक्सर उत्पीड़न, बर्बरता, अमानवीय व्यवहार और क्रूरता का प्रश्न उठाते हैं किन्तु वे भूल जाते हैं कि घोर दरिद्रता के कारण लोग किस प्रकार दयनीय जीवन-यापन व्यतीत कर रहे हैं। लोगों को मानव अधिकार के प्रति सचेत तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के लिए क्या कुछ उपाय होने चाहिए यह शोध का केन्द्र बिन्दु है।

देश में आबादी के साथ-साथ उत्तर प्रदेश न सिर्फ मानवाधिकारों के हनन के मामलों में सबसे आगे हैं, बल्कि पूरे देश में इन मामलों की दर्ज शिकायतों में से आधे से अधिक इस राज्य से हैं। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की १५ अप्रैल २००८[८] को जारी रिपोर्ट के अनुसार, मानवाधिकार के हनन के मामले में उ. प्र. के बाद देश की राजधानी दिल्ली का नम्बर आता है। "मानवाधिकार हनन के राष्ट्रीय आयोग में दर्ज ६० फीसदी मामले उ. प्र. के हैं। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की हाल की (२००५-२००६) की रिपोर्ट के मुताबिक देश में ७४४४४ मामलों में से अकेले ४४५६० मामले उ. प्र. के हैं यह शर्मनाक स्थिति है। दिल्ली के ५०२७, बिहार के ४५४५, हरियाणा के ३०००, राजस्थान के २५००, उत्तराखण्ड के १७८६ मामले दर्ज हैं। लक्ष्यद्वीप से एक भी शिकायत नहीं आयी है।"[६]

रिपोर्ट में कहा गया है कि नागालैण्ड ऐसा राज्य है जहाँ इस सम्बन्ध में सबसे कम केवल दो मामले दर्ज किए गये। सिक्किम और दादरा नगर हवेली में मानव अधिकारों के हनन से सम्बन्धित पाँच-पाँच मामले दर्ज किये गये।

हाल के वर्षों में मानवाधिकार के हनन के सबसे अधिक मामले महिलाओं से सम्बन्धित हैं, क्योंकि वर्तमान में भारतीय महिलाएं समाज एवं राज्य की विभिन्न गतिविधियों में पर्याप्त सहभागिता कर रही हैं। परन्तु इससे उनके प्रति घरेलू हिंसा के अलावा कार्यस्थल पर सड़कों एवं सामाजिक यातायात के माध्यमों में एवं समाज के अन्य स्थलों पर होने वाली हिंसा में भी वृद्धि हुई है। इसमें शारीरिक, मानसिक एवं यौन सभी प्रकार की हिंसा सम्मिलित है।

सन् १९९७-९८ की रिपोर्ट देखने पर स्पष्ट होता है कि देश भर के २६ राज्यों में मानवाधिकार उल्लंघन की कुल ३५७७६ शिकायतें प्राप्त हुई, जिससे १७४५३ सिर्फ उत्तर प्रदेश के थे।[१०] राष्ट्रीय महिला आयोग के अनुसार उ. प्र. में महिला उत्पीड़न के कुल १८९२६ मामले दर्ज हुए (२००१) जो देश में महिलाओं से जुड़े अपराधों का १३.४ प्रतिशत हैं। इसमें ३१.८ प्रतिशत दहेज हत्याएं हैं।[११] नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार उत्तर प्रदेश में १६ वर्ष से कम उम्र की लड़कियों के प्रति हिंसा के सन् २००३ में पंजीकृत मामले हैं - प्रताड़ना (३०.४ प्रतिशत), छेड़छाड़ (२५ प्रतिशत), अपहरण (१२ प्रतिशत), बलात्कार (१२.८ प्रतिशत), भ्रूण हत्या (६.७ प्रतिशत), यौन उत्पीड़न (४.६० प्रतिशत), दहेज मृत्यु (४.६

प्रतिशत), दहेज निषेध (२.३ प्रतिशत) व अन्य (६ प्रतिशत)। वैसे तो यह अपराध पूरे राष्ट्रीय स्तर पर होते हैं, पर इनमें उत्तर प्रदेश सबसे आगे हैं। महिलाओं के विरूद्ध अपराधों में आधे से कुछ अधिक अपराधों में आधे से कुछ अधिक अपराध (५६.७० प्रतिशत)। केवल पाँच राज्यों में होते हैं।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा ने भेदभाव को न करने के सिद्धान्त की पुष्टि की थी और घोषित किया था कि सभी मानव स्वतंत्र पैदा हुए हैं और गरिमा एवं अधिकारों में समान है तथा सभी व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के, जिसमें लिंग पर आधारित भेदभाव भी शामिल है, सभी अधिकारों एवं स्वतंत्रता के हकदार हैं। फिर भी महिलाओं के विरूद्ध उ.प.िर भेदभाव होता रहा है, थोड़ा पीछे चलें तो सर्वप्रथ. १६४६ में महिलाओं की प्रास्थिति पर आयोग की स्थापना की गई थी। महासभा ने ७ नवम्बर, १६६७ को महिलाओं के विरूद्ध सभी प्रकार के भेदभाव की समाप्ति पर अभिसमय अंगीकार किया गया। सन् १६८१ एवं १६६६ में यौन-शोषण एवं अन्य दुख से पीड़ित महिलाओं को सक्षम बनाने की व्यवस्था की गई।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रायोजित अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक (१६७६-१६८५) के दौरान महिलाओं के तीन सम्मेलन हुए। चौथा सम्मेलन वर्ष १६६५ में बीजिंग में हुआ, जिसके द्वारा महिलाओं के सम्बन्ध में बहुत अधिक जानकारी हुई है और जो राष्ट्रीय महिला आन्दोलनों एवं अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के बीच अमूल्य घड़ी का आधार बना। मानवाधिकार संरक्षण कानूनों एवं राष्ट्रीय महिला आयोग के गठन से नारी की समाज में स्थिति कुछ सुदृढ़ हुई है। अब महिला उत्पीड़न की घटनाओं में अपेक्षाकृत कमी आयी है।

स्टेट ऑफ राजस्थान, ए. आई. आर. १६६७ एम. सी. ३०११ मामला कामकाजी महिलाओं के यौन उत्पीड़न से सम्बन्धित है। इस मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा कामकाजी महिलाओं के साथ यौन उत्पीड़न की घटनाओं की रोकथाम के लिए प्रमुख दिशा निर्देश जारी किए जिसमें यौन शोषण प्रमुख है। इसके अलावा भारतीय दंड संहिता १८६० में भी महिलाओं के विरूद्ध किए गए अपराधों के लिए कठोर दंड की व्यवस्थाएं की गई हैं। धारा ३५४ में स्त्री की लज्जा, धारा ६६ में अपहरण, धारा ३७६ में बलात्कार, धारा ३६८-क में निर्दयतापूर्ण व्यवहार तथा धारा ५०६ व ४१० में स्त्री का अपमान करने को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। दहेज की मांग की विभीषिका से नारी की रक्षा करने हेतु दहेज निषेध अधिनियम १६६१ पारित किया गया है। सती निवारण अधिनियम १६५७ में सती प्रथा के निवारण हेतु कठोर दंड की व्यवस्था की गई है। ओंकार सिंह बनाम स्टेट ऑफ राजस्थान १६५५ के मामले में इस अधिनियम को संवैधानिक घोषित किया गया है। भारतीय हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम सन् १६५६ की धारा १८ स्त्रियों की सम्पत्ति में मालिकाना हक प्रदान करता है। श्रम कानून महिलाओं के लिए संकटापन्न स्थिति तथा रात्रि में कार्य का निषेध करते हैं। मातृत्व लाभ अधिनियम कामकाजी महिलाओं को प्रसूति लाभ की सुविधाएं प्रदान करता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता १६७३ की धारा १२५ में उपेक्षित महिलाओं के भरण-पोषण का प्रावधान किया गया है। देवेन्द्र सिंह बनाम जसपाल कौर ए. आई. आर. - १६६६ पंजाब एण्ड हरियाणा २२६ बाद में उच्चतम न्यायालय ने अभी निर्धारित किया कि विवाह शून्य एवं उत्कृष्ट घोषित हो जाने पर भी पत्नी हिन्दू विवाह अधिनियम १६५५ की धारा २५ के अन्तर्गत भरण-पोषण पाने की हकदार होती है।[११] देश के संविधान में १२वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद २१ क(ङ) के अन्तर्गत जारी सम्मान के विरूद्ध प्रथाओं को

समाप्त करने का आदेश अंगीकृत किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नारी विषयक मानवाधिकारों की विभिन्न एवं न्यायिक निर्णयों में पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया गया है। वर्तमान समय में यह कहाँ तक परिलक्षित होता है ? शोध का प्रश्न है।

इतना सब कुछ होने के बाद आज महिलाओं के प्रति विश्वव्यापी हिंसा की घटनाएं बदस्तूर जारी हैं, जिससे कोई भी समुदाय, समाज एवं देश मुक्त नहीं है। महिलाओं के प्रति भेदभाव इसलिए विद्यमान हैं क्योंकि इसकी जड़ें सामाजिक प्रतिमानों एवं मूल्यों में जमीं हुई हैं और वे अन्तर्राष्ट्रीय करारों के परिणामस्वरूप परिवर्तित नहीं होते हैं, वैसे तो महिलाओं के विरूद्ध हिंसा के कारणों को समाप्त किए बिना उसका पूर्ण निदान संभव नहीं पर यदि पाश्चात्य एवं विकसित देशों पर दृष्टिपात करें तो ऐसा लगता है कि इसका कारण मानवीय संरचना ही है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारों के प्रति आम जनता में जागरूकता का अभाव सा परिलक्षित होता है। यहाँ शोषण, अन्याय, उत्पीड़न, अत्याचार लोगों के अधिकारों का हनन आदि सामान्य रूप से प्रचलित हैं। शहरी संस्कृति की विकृतियों के कारण आज भी भारत के किसी भी कोने में किसी भी महिला के साथ जो बिना अंगरक्षकों के चलती है, उनके साथ किसी भी समय कुछ भी घटित हो सकता है और इसके लिए जरूरी नहीं कि अपराधी पकड़ा ही जाए।

हमारा यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि मानव अधिकारों को प्रोत्साहित करने के लिए तथा भविष्य में मानव अधिकारों के उल्लंघन को रोकने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रणाली को और भी अधिक प्रभावी बनाया जाए नहीं तो केवल आदेश और निर्देश जारी कर देने भर से कुछ बनने वाला नहीं, जब तक मानवाधिकार के मुख्य नियम एवं लोगों में जागरूकता सम्बन्धी निर्देशों के पालन की दिशा में हम सचेष्ट नहीं होंगे तब तक जुल्म का यह सिलसिला चलता रहेगा और यूँ ही सूली पर लटका रहेगा मानवाधिकार।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. कृतिका-भारत में मानव अधिकार दशा एवं दिशा-डॉ. किशन यादव, वर्ष १, अंक १, पृ. ६८, जनवरी-जून २००८
२ कृतिका-भारत में मानव अधिकार दशा एवं दिशा-डॉ. किशन यादव, वर्ष १, अंक १, पृ. ६८, जनवरी-जून २००८
३. रिसर्च जनरल आफ सोसल एण्ड लाइफ साइंस, वाल्युम ०४, वर्ष २, जनवरी-जून २००८, पृ. ४११
४. रिसर्च जनरल आफ " , पृ. ४११
५. प्रतियोगिता दर्पण, नवम्बर २००४, पृ. ७०४
६. मानवाधिकार-भारत की सामाजिक समस्याएं, एन. एन. ओझा, पृ. २०८-२०६
७. विचार - गरीबी, मानवाधिकार एवं धान्य कूट : एक मानव शास्त्रीय अध्ययन, मार्च २००८, पृ. १२६
८. चाणक्य सिविल सर्विसेज टुडे, जून २००८
६. दैनिक जागरण, कानपुर, ३१ जुलाई २००८
१०. सहारा समय - हाल मानवाधिकार का, पृ. ३४-३५
११. सहारा समय - कैसे कहें कानून का राज, पृ. ३४-३५
१२. भारत की सामाजिक समस्याएं, एन. एन. ओझा, पृ. २१८

लोक कला/लोक साहित्य

'दसमत कैना' नारी-संघर्ष की अद्भुत गाथा

(संदर्भ-छत्तीसगढ़ी लोकगाथा)

*डॉ. मो. हसीन खान

'लोक' का अर्थ बड़ा व्यापक है। इसकी व्यापकता का अंदाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि ग्रामीण जीवन में यह लोकगीतों, लोक कथाओं, लोक गाथाओं, लोकोक्तियों आदि के माध्यम से लोक-साहित्य के रूप में वाचिक परम्परा द्वारा आज भी संरक्षित है। वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में - "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है उसमें भूत-भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है, लोक राष्ट्र का अमर-स्वरूप है।" माना कि आधुनिक जीवन-पद्धति ने इसे कुछ हद तक प्रभावित किया है, परन्तु इसकी व्यापकता के सामने वह भी निरीह-सा है। वह इसलिये कि 'लोक' जीवन के लिये अमृत है और यही अमृत ग्रामीण जीवन में उसके संस्कारों, आचारों और विचारों को जीवित बनाए रखता है।

छत्तीसगढ़ में देवार एक घुमंतू जाति है। वे मुख्यतः गीत, नृत्य के माध्यम से अपनी आजीविका चलाते हैं। देवार गाथा गायकों द्वारा 'दसमत कैना' की गाथा मोहक और रसीले अंदाज में लोक वाद्य 'रूंझू'[1] (यह वाद्य वायलिन-सारंगी सदृश्य है) के साथ गायी जाती है। वर्तमान में यह विलुप्ति के कगार पर है, क्योंकि देवार जाति की नई पीढ़ी इस गायन विधा से कटी हुई है। 'दसमत कैना' की गाथा न प्रेमाख्यान है, न वीरगाथा, न ही यह कोई विस्मय भरी रोमांच कथा है। छत्तीसगढ़ की घुमंतू देवार जाति के लोगों द्वारा गाई जाने वाली यह लुप्तप्राय लोक गाथा प्रतिरोध के उन केन्द्रों की ओर इशारा करती है, जो दमित अस्मिताओं की मुक्ति-कामना और छटपटाहट के चलते सक्रिय होते हैं। "लोक के अंदरूनी शक्ति-विमर्श में सत्ता की अतिक्रामकता और स्वेच्छाचार के विरूद्ध निरीह जन की नैतिक दृढ़ता का आग्रह किस तरह चुनौती बन जाता है, इसे यह गाथा अत्यन्त कलात्मक ढंग से व्यंजित करती है।"[2]

इसी परिप्रेक्ष्य में देखें तो छत्तीसगढ़ी लोकगाथा 'दसमत कैना' की पात्र 'दसमत' का जीवन भी आम नारी के जीवन से अलग नहीं है। ब्राह्मण राजा भोज की सात बेटियाँ थी। उसकी सबसे छोटी बेटी का नाम 'दसमत कैना' था। वह अप्रतिम सुन्दर थी। एक दिन राजा भोज ने अपनी सातों बेटियों को क्रमशः बुलाकर पूछा कि तुम किसके कर्म का खाती हो, किसका नाम लेती हो -

> 'काखर करम के खाथस बेटी,
> काखर लेथस नाँव।'

इस प्रश्न पर छः बेटियों ने कहा कि "पिताजी हम आपके कर्म का खाते हैं और आपका ही नाम लेते हैं। परन्तु 'दसमत कैना' का यह उत्तर कि -

> "अपन करम से खाथँव पिताजी
> ईश्वर के लेथँव नांव।"

राजा को यह नगावार लगा। दसमत का यह उत्तर केवल एक पुरूष के अहम् पर चोट नहीं थीं, जिसे प्रजा अपना-अपना ईश्वर मानती है।

---

* हिन्दी प्रवक्ता, श्री गांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, माल्टारी, आज़मगढ़

'दसमत कैना' ने शायद पहली गलती यही की कि लड़की भावना के ऊपर उठकर अपने कर्म का उद्घोष बाप से ही नहीं बल्कि एक राजा के सामने कर दिया। किशोरी दसमत का यह निर्भीक कथन न सिर्फ उसके विलक्षण आत्मबोध को व्यक्त करता है, बल्कि पितृसत्ता की सामंती ठसक को अप्रत्याशित चुनौती भी देता है। यही दसमत के स्त्रीत्व का प्रस्थान बिन्दु है तथा यहीं से उसके 'करम' की परीक्षा शुरू होती है। राजा भोज ने उसके 'करम' को परखने के लिए उसका विवाह काले-कलूटे गरीब उड़िया सुदन बिहइया के साथ कर दिया। तब से 'दसमत' ओड़निन हुई -

'दसमत कैना
राजा भोज बाम्हन के बेटी।
कुल बम्हनीन के जात।
अऊ अपन करम के कारन
पाय ओड़िया भरतार।।'[3]

परन्तु दसमत ने अपने 'करम' से अपनी नियति को बदल डाला और एक नई नियति, पितृसत्ता की दृष्टि से अप्रत्याशित और अवांछित कर्म-गति प्राप्त की।[4] यह शोषण के खिलाफ दसमत का संघर्ष था, जिसमें वह अपने कर्म-कौशल से सफल हुई तथा उड़िया कबीले की मुखिया बन जाती है, जिसमें नौ लाख उड़िया हैं जिन्हें बांध और तालाब बनाने में महारत हासिल है। दरअसल, अज्ञान के कारण सूदन का परिवार साहूकार के द्वारा शोषण का शिकार हुआ था। हीरा कमाकर भी गरीबी में जीने के लिये विवश था। यह तो आज भी हो रहा है, कितने सूदन गरीबी को नियति मानकर सेठ-साहूकारों (पूंजीपतियों) द्वारा शोषित हो रहे हैं।

इसके आगे की गाथा में दसमत के रूप लावण्य के प्रति राजा महमदेव की आसक्ति तथा येन-केन प्रकारेण उसे अपने अधिकार में लेने का प्रबल आग्रह तथा दसमत की छटपटाहट व प्रतिरोध देखते ही बनती है। सात रानियों और भरे-पूरे परिवार के रहते हुये भी दसमत के प्रति राजा की आसक्ति को निरस्त करने का साहस सामाजिक स्तर पर असंदिग्ध दृढ़ता के साथ उठा दिखाई नहीं देता। स्वयं दसमत भी एकबारगी राजा के प्रणय-निवेदन को ठुकरा देने की बजाए उसे समझाइश देती है; इसके लिए पहले वह राजा को उसकी हैसियत की तुलना में अपनी विपन्नता की दुहाई देती है -

"तोर मोर हावै ग कतल बंगला के
पान ग बाम्हन देवता
मोर गदही के दुई कान।
तोर मेर हावै ग सेज-सपूती
मोर गोदरी के अनलेख।
तोर मेर हावै ग बंदूक भाला
मोर कुदरी के मार
तोर मोर हावै ग चका-विपेया
ओरिया हे घनचार।"[5]

लेकिन राजा की आसक्ति (Infatuation) इतनी प्रबल है कि उसकी जैविकता उसकी सामाजिकता को सोख लेती है। वह दसमत को प्राप्त करने के लिये उसे प्रलुब्ध (Seduce) करने का प्रयत्न करता है :-

"अऊ बेटिया ल छोड़वँ बहुरिया ल छोड़ब ओ!
तोर बर तजौं परान।
अऊका तोला कूंदे-कूंदे कुंदरवा
साँचा म ढोरसोनार।"[6]

दसमत कैना समझाने-बुझाने की कोशिश में राज. के ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने के गौरव और अभिजात्य का हवाला देते हुए वर्णक्रम में अपनी निम्नतर स्थिति के कारण दोनों का मेल न हो सकने के लिए तर्क रखती है :-

"बारा-बरर के बाम्हन राजा
मै ओड़निन के जात।"[७]

परन्तु ब्राह्मण जाति का राजा महमदेव रूपसी दसमत के लिए अपनी बिरादरी को छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है। जबकि यही उच्च वर्ग, छोटी जाति को धर्म-कर्म से भ्रष्ट कहकर इस 'आड़' जाति को नीच कहता है। लेकिन रूप-सौंदर्य के आगे उनके श्रेष्ठ होने का ढोंग अपने आप ही प्रकट हो जाता है। यह बिडम्बना शोषित-पीड़ित-दलित जाति के लिए नहीं, अपितु कथित उस उच्च वर्ग के लिए जो रूप-रंग और वैभव की दुनियां में लुकाछिपी का खेल खेलता है तथा अपनी श्रेष्ठता का केवल दिखावा करता है।

दसमत ने अपनी नारी धर्म का पूरी तरह निर्वहन किया। वैसे भी पसीना बहाकर जीने वाला व्यक्ति प्रलोभनों में नहीं फँसता। झोपड़पट्टी कभी अट्टालिकाओं के आगे नत-मस्तक नहीं होती। झोपड़पट्टी अट्टालिका से कम होती भी कहाँ है ? यह तो पसीने की गंध में नहाई हुई होती है। जबकि अट्टालिका खून से नहाई होती है। एक गरीब मेहनतकश ओड़िया स्त्री के रूप में दसमत कैना अन्त में अनुनय के बजाय प्रतिवाद का रास्ता चुनती है। प्रतिवाद अन्तिम उपाय है। इसलिए लोक में दमित अस्मिताएं प्रायः अनाक्रामक और संयत दिखाई देती है। ठीक इसी प्रकार दसमत भी प्रतिरोध के अपेक्षाकृत नरम उपाय का इस्तेमाल करती है जो कि दरअसल राजा के आभिजात्य, उसकी वर्ण श्रेष्ठता पर सीधी चोट है। दसमत राजा को सूअर का मांस खाने और शराब पीनें की शर्त रखती है :-

"अरे मंदे-मांस ल खावे राजा
जब लगबे मोर साथ।"[८]

गाथा के एक अन्य पाठ में एक बुजुर्ग ओड़िया स्त्री राजा के सामने इस तरह की शर्त रखती है :-

"हमर जात के बेटी बनावे
अऊ खावे मंद-मांस
तब ओड़निन ल पाबे राजा
अइसे तय नहीं पास।"[९]

कहना न हो कि यह एक कठिन शर्त है। लेकिन प्रणयांध राजा अपनी जाति और सामाजिक प्रतिष्ठा खोने को भी तैयार है। वह शर्त मंजूर कर लेता है। प्रतिरोध का यह अस्त्र भी विफल हो जाने पर दसमत अन्ततः कठोर उपाय अपनाने को बाध्य होती है। उसे सूअर का मांस खिलाकर, शराब पिलाकर, बेसुध कर खटिया पर लिटा देती है। उसके बालों को गदही की पूँछ से बांध कर गदही को हकाल देती है। गदही की पूँछ से बंधकर घिसटता राजा सबकी हँसी का पात्र बनता है :-

"गदही के पूंछी ल
झींक के देवय बांध।
दू कोड़ा गदही ल पीटेगा
चार कोड़रा राजा ल
ढेलवानी म दिसे कुहाय।"[१०]

उपहास यहाँ प्रतिरोध का अस्त्र है। लोक-संस्कृति के अध्येता मानते हैं कि - "लोक जिन स्थितियों को अनुकूल नहीं बना पाता या बदल नहीं पाता, उन्हें उपहास का विषय बना देता है।"[११]

यह प्रसंग प्रेमचंद के 'गोदान' में मातादीन-सिलिया प्रसंग की याद दिलाता है। मातादीन-सिलिया के अनुलोम संबंध को ब्राह्मण समुदाय स्वीकार नहीं करता लेकिन दलित भी उसे सहजता से नहीं स्वीकारते। वे मातादीन को खूब पीटकर उसके मुँह में हड्डी का टुकड़ा डालकर उसका ठीक उसी रीति से दलितीकरण करते हैं, जिस रीति से उड़िया-जन राजा महमदेव को मांस-मदिरा का सेवन कराते हुए अपने समुदाय में

दीक्षित करते हैं। दोनों प्रसंगों में प्रतिरोध की पद्धति में जो एक रूपता दिखाई देती है, क्या उससे लोक की स्वातंत्र्य कामना के सार्वभौम होने का संकेत नहीं मिलता क्या ? इससे यह अनुमान नहीं होता कि लोक के भीतर वर्णवाद-विरोधी चेतना प्राक-आधुनिक और औपनिवेशिक स्थितियों में भी निरन्तर सक्रिय रही है ?

इस प्रतिवाद के बाद जाहिर है, दसमत और नौ लाख ओड़िया-जनों की खैर नहीं। वे उस स्थान को छोड़कर "सुरहीडीह" चले जाते है। राजा उनका पीछा करता है। दसमत के स्वजन-परिजन महमदेव की सेना के हाथों मारे जाते है। उसका पति सूदन बिहइया भी गोली का शिकार हो जाता है, पर "दसमत सब कुछ खोकर भी अपने स्वाभिमान, मान-मर्यादा और अस्मिता की रक्षा के लिए प्राण-पण से जुटी रही।"[१२] आगे 'दसमत कैना' की परिणिति तो और भी दुखद होती है। पति की लाश के निकट ही राजा की उपस्थिति उसकी असहायता की पराकाष्ठा बन जाती है। ऐसे में दसमत राजा से कहती है - "पहले मैं अपने पति का अंतिम संस्कार कर लूँ फिर तुम मुझे ले जाना।" इस तरह बहाने बनाकर दसमत कैना अपने पति की चिता में स्वयं कूद पड़ती है और अपनी इज्जत और अपनी अस्मिता की रक्षा करती है -

> "अरे बरत आगी म दसमत रानी मईया रे
> अऊ सत्ती गेईन हे झपाय।
> अऊ बरत आगी म ओड़निन कैना, अपन
> बिहाता संग भईया सत्ती गीस झपाय।"[१३]

दसमत के सती होने का प्रसंग, एक भिन्न स्तर पर राजा के स्वेच्छाचार की प्रतिक्रिया है। गाथाकार मुख्यतः इसी पर बल देता है। आत्मविसर्जन यहाँ आत्म रक्षा का आखिरी उपाय बन जाता है। इसे अलाउद्दीन के आक्रमण से अपने सतीत्व की रक्षा के लिए पद्मिनी के देहत्याग के ऐतिहासिक प्रसंग के साथ रखकर पढ़ें तो दोनों में अद्भुत समानता दिखाई देती है। ओड़ार बांध में भी चित्तौड़ की तरह जौहर का दृश्य है। बांध की अथाह जलराशि में नौ लाख उड़िया डूब मरते हैं अथवा एक अन्य पाठ में राजा के साथ युद्ध करते हुए प्राण न्यौछावर कर देते हैं।

भारतीय स्त्री की नियति दोनों प्रसंगों में पितृसत्ता के सर्वसत्तावाद से जुड़ी दिखाई देती है। यह पुरूष-प्रपंच की शिकार स्त्री की कथा है। इतिहास का सच यहाँ गाथा का सच बन गया है। कहना न होगा कि यही समाज का सच है। दसमत अपनी यौनता की स्वतंत्र पहचान और उसकी रक्षा के लिए द्रोपदी की तरह संघर्ष करती है, पर अन्ततः सावित्री की नियति को प्राप्त होती है। यही उसकी त्रासदी है।

अतएव् 'दसमत कैना' की यह गाथा एक दमित स्त्री की संघर्ष कथा है, जो श्रम, जाति और वर्ण पर आधारित निम्नतर सामाजिक-अस्मिता के प्रतिरोध को नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित करती है।

संदर्भ सूची

१. निरंजन महावर-नारी मोनोग्राथ 'देवार' - म०प्र० आदिवासी लोककला परिषद से साभार।

२. जय प्रकाश - लोक मड़ई - २००४, लोकमड़ई उत्सव समिति आलीवारा, जिला राजनांदगाँव (छत्तीसगढ़), पेज १०८

३. लोकगाथा गायक चिंतादास बंजारे, ग्राम-घोटिया, बढ़ईटोला, राजनांदगाँव - के पाठ से।

४. "दसमत अपने पति व देवर के साथ उनके झोपड़ी में पहुँच गई। सुदन ने दसमत को बताया कि वे पत्थर तोड़कर, जुगनूँ निकालते

है और उसे महाजन को देते हैं, जिसके बदले महाजन उन्हें राशन देते हैं, जिससे जीविका चलती है। काले-कलूटे उड़िया पत्थर तोड़ते-तोड़ते और काले पड़ गये थे। एक दिन दसमत कैना ने कहा कि स्वामी! आप एक जुगनू छिपा कर ले आना, मैंने आज तक जुगनू नहीं देखा है। दूसरे दिन सूदन बिहइया और उसका छोटा भाई लच्छन एक-एक जूगनू को धोती में बांध कर ले आते है। दसमत के हाथ में वह जुगनू रख दिया, दसमत की आंखें चौथियां गई। दसमत ने बताया कि यह जुगनू नहीं, हीरा है। मुझे उस महाजन के पास ले चलो। दोनों भाई उड़िया महाजन के पास पहुँचे। महाजन दसमत के प्रश्नों से निरूत्तर पड़ गया तथा दसमत से माफी मांगने लगा और बिना मांगे ही बहुत सारी सम्पत्ति दसमत को देकर विदा करता है। दसमत उस सम्पत्ति से सुंदर मकान बनवाती है और अपने बुद्धि से सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करती है।"

– सोनऊ राम निर्मलकर : देवारों की लोकगाथाएं।

५. भैंसवार देवार के पाठ से – संकलनकर्ता – खुमानलाल साव, दलेश्वर साहू।

६. चैतराम देवार के पाठ से – संकलनकर्ता – पी.सी. लाल यादव।

७. चैतराम देवार के पाठ से – संकलनकर्ता – पी.सी. लाल यादव।

८. चैतराम देवार के पाठ से – संकलनकर्ता – पी.सी. लाल यादव।

९. सोनऊ राम निर्मलकर – "देवारों की लोक गाथाएं" (शोध-कृति) पृष्ठ ४५।

१०. चैतराम देवार के पाठ से – संकलनकर्ता – पी.सी. लाल यादव।

११. बद्रीनाथ : 'मूक जीवन का भाष्य' शीर्षक लेख, मड़ई-१९९९, सम्पादक-डॉ. कालीचरण यादव, रावत नाच महोत्सव समिति, बिलासपुर (छत्तीसगढ़) पृष्ठ १९।

१२. रमाकांत श्रीवास्तव – लोक मड़ई-२००४, पृष्ठ ८९

१३. चैतराम देवार के पाठ से – संकलनकर्ता – पी.सी. लाल यादव।

लोक संस्कृति के आइने में भोजपुरी कला और कबीर साहित्य का मूल्यांकन

*अमृता धीर **ममत. यादव

लोक में प्रचलित शब्दों के अपने निहितार्थ होते हैं। इन निहितार्थों की व्याख्या विस्तृत एवं कई अर्थों का समावेश लिये हुये होती है। भोजपुरी वास्तुकला के अन्तर्गत गृह-निर्माण को प्रमुख स्थान प्राप्त है। भोजपुरी क्षेत्र में प्रायः दो प्रकार के मकान पाये जाते हैं - कच्चा एवं पक्का मकान। कच्चे मकान को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

१. मिट्टी के मकान २. छप्पर के मकान छप्पर के घरों को बनाने की प्रक्रिया निम्नांकित है। लकड़ी के उन मोटे खम्भे को जो छप्पर रूपी छत को संभाले रहते हैं खम्भा कहते हैं। यदि छप्पर भारी हो तो उसको नीचे सहारा देने के लिए छोटी-छोटी लकड़ियाँ लगा दी जाती हैं जो "थून्हीं" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मोटे-मोटे लकड़ी के खम्भों के ऊपर एक लम्बी मजबूत लकड़ी अथवा मोटा बॉस रखा जाता है, जिसे "लरही" की संज्ञा प्राप्त है। छप्पर के निर्माण के पहले लम्बे-लम्बे बॉस के खंड जमीन पर रखे जाते हैं जो कोरो कहलाते हैं। इन्हीं कोरो पर बॉस पर बॉस को छिलकर उसके लम्बे तथा पतले टुकड़ों-जो बाता या बत्तर कहा जाता है। उसको बॉस पर बिछा दिया जाता है। इन्हीं बत्तो के ऊपर सरकंडा या पुआल या खरपतवार को बिछा देते हैं। इसे छिलके या मुंज से भी बनाया जाता है। डोरी या रस्सी से सरकंडों को बत्ता या कोरो से कस कर बांध दिया जाता है। इस प्रकार से छप्पर बांध छान कर जमीन पर तैयार हो जाता है तब उसे कई लोगों की सहायता से ऊपर उठाकर दोनों खम्भों के ऊपर लरही के ऊपर स्थापित कर दिया जाता है। इस छप्पर के दोनों ओर थोड़ा झुका देते हैं। जिससे बरसात का पानी छप्पर पर से फिसलकर जमीन पर गिर जाये। जब छप्पर का बना मकान बनाना अभीष्ट होता है। तब उपर्युक्त पद्धति से दो छप्परों को पृथक-पृथक बनाया जाता है। इनमें से प्रत्येक छप्पर के ये पल्ले बहुत भारी होते हैं। तब उनकी स्थिति को दृढ़ बनाये रखने के लिये सहारा देने के लिए लकड़ी लगायी जाती है। जिसे टेक ठेंगुनी या थून्हीं की संज्ञा दी जाती है। दोनों पल्लों को कसकर मजबूती के साथ बांधे रखने के लिए छोटी तथा झाड़ी लकड़ियाँ लगायी जाती है, जिसे कैंची कहते हैं। छप्पर का यह अंतिम भाग जहां से वर्षा का यह पानी चू चू कर जमीन पर गिरता है ओरी कहलाता है। जनपदीय भाषा में इस प्रकार से बनाये गये छप्पर को पलानी के नाम से अभिहित किया जाता है। कबीर का एक पद इस दृष्टिकोण के लिए उद्धित है -

संतौ आई ग्यांन की आँधी रे।
भ्रम की टाटी समे उड़ानी माया रहे न बांधी रे।।
द्रचिते की दोई थूै गिरानी मोह बलेंडा टूटा।
तृष्णा छानि परी धंर उपरी दुरमती भांडा फूटा।।
आंधी पाछे जो जल वरसे तिहि तेरा जन भींना।

* शोध छात्रा, हिन्दी, विनोवा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखंड)
** शोध छात्रा, संस्कृत, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ.प्र.)

कहे कबीर मनि भया प्रगासा उदे भानु
जग चिनां ।।

इस पद में कबीर ने बताया है कि अज्ञान का आवरण हटने पर हीं ज्ञान का प्रकाश होता है और भक्ति का प्रार्दुभाव होता है। इस तथ्य को उन्होंने छप्पर, आंधी और वर्षा के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। इस रूपक को ज्ञान की आंधी बताया गया है। आंधी आने पर छप्पर या छाजन नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं ज्ञान की आंधी आने पर भ्रम की टटिया उड़ गई वह टटिया माया की रस्सी से ही बंधी थी। वह रस्सी भी छिन्न भिन्न हो गयी। छप्पर को रोकने के लिए जो खम्भे लगे थे वे भी आंधी के थपेड़ों में ध्वस्त हो गये। ये दो खम्भे चित्र की दो अवस्थाओं विषयाशक्ति और वाह्याचार के थे ज्ञान रूपी आंधी के थपेड़े से वे नष्ट हो गये। अतः उस तृष्णा रूपी छप्पर का मुख्य आधार मोह रूपी बड़ेरे (बांस या बल्ली) भी मग्न हो गया। फलस्वरूप वह छप्पर धाराशायी हो गया अर्थात् तृष्णा विनष्ट हो गयी। छप्पर के गिरने पर अर्थात तृष्णा के नष्ट होने पर कुमति रूपी बरतन भी टूट गये। सामान्यतः आंधी के बाद वर्षा होती है और गरीबों की झोपड़ी में भीषण तबाही मचाती है। यहां ज्ञान की आंधी के बाद प्रेम भक्ति रूपी जल की वर्षा हुई है।

कबीर लोक जीवन के कवि हैं। उनका लोकानुभव काफी समृद्ध था उन्होंने गृहस्थी के लिए उपयोगी न जाने कितनी वस्तुओं की चर्चा अपनी कविताओं में की थी। ईंधन, करछी, कलस, कुल्हाड़ी, कोयला, खटिया, गाठरि, चरखो, छुरी, डंडा, तराजू, तबी, थाल दीपक, धागा, पंखा, पिआला, पोटली, मटकी, साबुन, हंडिया, अंगना, चौका आदि के अलावा पेवंद, गुदड़ी, बिछौना, तकिया आदि लोक जीवन से संबंध बहुत सारी चीजों का उल्लेख अपने काव्य में किया है -

"पांच पेवंद की बनी रे गुदड़िया, तामे
हीरा लाल लगावी"
"मन का पलंग संताष बिछौना ज्ञान का
तकिया लगाये रख तू"

कबीर ने एक रमैनी में प्रस्तुतार्थ के रूप में जुलाहे के कपड़ा बुनने की प्रक्रिया का वर्णन किया है। वह कपड़ा बनाने के लिए ताना तैयार करता है। दो गड्ढे खोदकर उसमें करघा प्रतिष्ठापित करता है। ढरकी में रखी हुई नरी के द्वारा बाना तैयार करता है। वह पूरी या भरनी को हजारों तांगों में गरता है और फिर ताना बाने के द्वारा सभी प्रकार के तांगों को यानी सूत कुसूत को मलता हुआ कपड़ा तैयार करता है।

अस जोलहा का मरम न जाना,
जिन जता भाप पसारिन्हि ताना ।
मही आकाश दुइ गाड खैदाया,
चाँद सुरूज दुई नीह बनाया ।।

कबीर ने मदिरा बनाने की प्रक्रिया को यथातथ्य बतलाया है। अद्भुत रसायन के निर्माण की प्रक्रिया का कबीर ने मदिरा के सांग रूपक द्वारा जिस सरस शैली में चित्रण किया है वह उनकी गहन जीवनानुभूति का परिचायक है। उनकी असाधारण कवित्व शक्ति का भी द्योतक है। पद में प्रयुक्त कलाली, लाहनी, गुड़, कसपोतनहारी आदि शब्द मदिरा - निर्माण की प्रक्रिया का पूरा बिम्ब प्रस्तुत करते हैं।

"काया कलाली लाहनि मेलउं गुरू का
सबद गुड़ कीन्हा
त्रिसना काम क्रोधमद, मतसर,
काटि-काटि कस दीन्हा।।
भवन चतुरदस भाड़ी पुरई ब्रम्हा अगिनि
परजारी।
मुद्रा मदन सहज धुनि लागी सुखमन
पोतन हारी।।

यहां कबीर ने म दिरा के रूपक द्वारा सहसार से झरते हुए अमृत रस को पान करने का चित्र अंकित किया है। इस संबंध में उन्होंने मदिरा बनाने की पूरी प्रक्रिया का उल्लेख किया है। मदिरा बनाने वाले को काल या कलाल कहते हैं। शराब बनाते समय खमीर उठाने के लिए जो पदार्थ डाला जाता है उसे लाहन कहते है। उसे तीखापन लाने के लिए जो पदार्थ डाला जाता है वह कस कहलाता है। शराब तैयार करने के लिए एक भाठी या भट्ठी तैयार की जाती है उस भट्ठी के ऊपर मटका (हाड़ी) रखा जाता है। जिसमें मदिरा बनाने की सामग्री रहती है, उस हाड़ी के मुंह को कार्क से बंद कर देते हैं। कार्क में एक छिद्र रहता है जिसमें एक नली लगाते हैं। कार्क के छिद्र को पूरी तरह बंद करने के लिए नली के चारों ओर मोम लगाते हैं जिसमें भाप बाहर न निकल सके। नली के ऊपर एक गीला कपड़ा लपेटते हैं और उसे पानी से भिंगोते रहते हैं। जिसे मटके से निकलने वाली भाप शीतल द्रव बनकर नली के नीचे रखे हुए पात्र में मद्य के रूप में गिरती रहती है।

कबीर दास कहते हैं कि क्या कोई ऐसा सिद्ध संत है जो सहज आनंद को जागृत कर सके मैं ऐसे संत को अपने जप तप आदि साधनों का दलाली के रूप में देने को प्रस्तुत हूँ। जिस प्रकार मदिरा पिलाने वाला मद्य पिलाकर मस्त कर देता है उसी प्रकार यदि कोई संतराम रस की एक बूंद मुझे दे दे तो मैं उसका अनुगृहीत रहूंगा।

उसी मदिरा रूपी राम रस को तैयार करने के लिए मैं कलाली को लाहन के रूप में अपनी काया देने को प्रस्तुत हूँ। उसमें गुरू के सबद को गुड़ के रूप में डालूंगा। अपने भीतर विद्यमान, तृष्णा, काम, मद आदि विकारों को मैं कस के रूप में डालूंगा। शरीर में विद्यमान स्थूल कोषों से भाटी निर्मित भट्ठी को प्रज्जवलित करूंगा। प्रेम रूपी मन से मटके के छिद्र को अच्छी तरह से बंद कर दूंगा। सुषुम्ना नाड़ी में अनाहत नाद की सहज ध्वनि उत्पन्न होती है और भीतर कपाल कुहर के झरने से अमृत रस झरेगा। उसी मदिरा को जीवात्मा पीकर तृप्त हो जाएगा। इस मदिरा की गंध बहुत तीक्ष्ण है। बिरला ज्ञान सिद्ध पुरूष की इस मदिरा को सहज करने की क्षमता रखते हैं।

स्पष्ट है कि लोक (भोजपुरी) में प्रचलित इन शब्दों के माध्यम से कबीर ने उसके मर्म को गहराई से अवलोकित एवं विश्लेषित किया होगा।

ग्रामीण विकास में कृषि एवं शिक्षा की दशा एवं दिशा

*डॉ. उमा रतन
**डॉ. शंकर लाल

प्राचीन काल से ही भारत का स्वरूप ग्रामीण रहा है। भारत गांवों का देश है। इस देश की अधिकांश आबादी गांवो में निवास करती है। आज आधुनिक भारत का अतीत इन्हीं ग्रामीण संस्कृतियों पर टिका है। समयानुसार विदेशियों के आगमन से इसके स्वरूप में परिवर्तन हुआ। क्योंकि इस देश की धरती पर आर्य, यूनानी, शक, कुषाण, हूण, अरब, मुसलमान, पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी व अंग्रेज आये। जिनका प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ना आवश्यक था। इनके बावजूद भी भारत अपने ग्रामीण अस्मिता को बचाये रखने में सफल रहा। आज भी भारत की आत्मा गांवों में बसती है। हमारे गांवों में विभिन्न धर्म, जाति और समुदाय के लोग मिल-जुलकर रहते हैं। गांवों के विकास के बिना देश का विकास अधूरा है। प्राचीन काल से ही गांवों का महत्व रहा है। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय सरकार गांवों के महत्व को समझने लगी और उनके विकास पर अधिक ध्यान किया जाने लगा।

आज भारत आजादी के ६० वर्ष पूरा कर चुका है तथा अब तक दस पंचवर्षीय योजनाएँ लागू व पूर्ण हो चुकी हैं। ग्यारहवी पंचवर्षीय योजना अप्रैल २००७ से शुरू हो गयी है। अब ग्रामीण भारत इन ६० वर्षो में पूरा बदल चुका है। यहाँ ग्रामीण विकास में कृषि एवं शिक्षा के क्षेत्र में किये गये प्रयासों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर अब तक हुए इन क्षेत्रों में प्रयासों पर चर्चा करेंगे।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य की बात करें तो भारत में गांव की अधिकांश जनसंख्या का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है। स्वतंत्रता के बाद कृषि के क्षेत्र में भूमि सुधारों से जमींदारी और जागीरदारी समाप्त हुई तथा कृषकों को भू-स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हुए। जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार अधिनियम १९५० के बाद लागू किये गये जिसके बाद लगान, नियमन व कास्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा और काश्तकारों का भूमि पर मालिकाना अधिकार प्राप्त हो जाने से भूमि की सीमाबन्दी के पश्चात अधिक भूमि का सरकार द्वारा अधिगृहण और भूमि का भूमिहीनों में आवंटन किया गया। जोतों के उपविभाजन एवं अपखण्डन की समस्या का समाधान चकबंदी के माध्यम से किया गया। इससे कृषकों को जमींदारी और जागीरदारी के शोषण से मुक्त कर दिया गया तथा कृषकों को अपनी स्वेच्छा से कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रम शुरू किये गये। जिसमें चकबंदी व्यवस्था को भी लागू किया गया। भारत में कृषि में सुधार हेतु हरित क्रान्ति की शुरूआत १९६६ ई. में की गयी। जिसका श्रेय डॉ. नार्मन बोरलाग तथा डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन को है। इस क्रान्ति के कारण खाद्यान्न उत्पादन में आत्म निर्भरता बढ़ी। परम्परागत तरीकों को छोड़कर आधुनिक तरीकों को अपनाया गया। क्रान्ति से गेहूँ के उत्पादन में अत्याधिक प्रगति हुई। कृषि साख की आपूर्ति के लिए स्व. श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने जुलाई

* रीडर, अर्थशास्त्र विभाग, बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी (उ. प्र.)
** व्याख्याता, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

१६६४ ई. में १४ बड़े निजी क्षेत्र के व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीकरण किया। अक्टूबर १६७५ ई. में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गई। ग्रामीण विकास तथा कृषि हेतु एक सर्वोच्च बैकिंग संस्था नाबार्ड की स्थापना वर्ष १६८२ में की गई। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि एवं ग्रामीण विकास की विभिन्न योजनाओं के लिए वित्तीय संसाधनों की आपूर्ति कर लघु कृषक, दस्तकार, भूमिहीन श्रमिकों स्वयं सहायता समूहों को ऋण एवं अनुदान दिये जा रहे हैं। सहकारी बैंक तीन स्तरीय रूप में अल्पकालीन ऋण, मध्यमकालीन ऋण एवं दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। किसान साख का सहकारी बैंको, व्यापारिक बैंको तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको द्वारा वर्ष १६६८-६६ में ७.८४ लाख जारी किये गये जो २००६-०७ में बढ़कर ६४२.४६ हो गये हैं। १६५०-५१ में कृषि के लिए सहकारी साख का योगदान ३.१ प्रतिशत था जो बढ़कर वर्तमान में ४० प्रतिशत से अधिक हो गया है।

देश के ग्रामीण कृषकों की सम्पन्नता कृषि उत्पादन वृद्धि के साथ ही उत्पादित उपज के सही मूल्य प्राप्ति पर भी निर्भर है। वास्तव में कृषि उपज के विपणन की समस्या सम्पूर्ण ग्रामीण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित है। किसानों को विचौलियों के जाल से मुक्त कराने के लिए सरकार ने विपणन व्यवस्था में सुधार करने के लिए आवश्यक कदम उठाये। इस दिशा में सरकार ने नियंत्रित मंडियों के विस्तार, कृषि उपज के श्रेणीकरण व प्रभावीकरण, माल गोदामों की व्यवस्था बाजार एवं मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का प्रसारण व सहकारी विपणन व्यवस्था संबंधी नीति अपनाई। सरकार ने वर्ष १६८८ ई. में राष्ट्रीय कृषि विपणन संस्थान की स्थापना की। यह संस्थान कृषि विपणन में विशिष्ट प्रशिक्षण, शिक्षण एवं अनुसंधान की सेवाएं प्रदान करते हुए कृषि विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। आज कृषि के क्षेत्र में सुधार के लिए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद पूरे तरीके से कार्य कर रहा है। समय-समय में नये-नये आविष्कारों द्वारा जो भी सुधार सम्भव है उसको अपनाने के लिए प्रेरित कर रहा है। अब तक भारतीय कृषि के क्षेत्र में कई नवीन क्रान्तियों को अपनाया जा चुका है कुछ का यथा जैसे दोहरी हरित क्रान्ति को लागू करने की बात चल रही है। आज भारत के ग्रामीण संरचना का मुख्य क्षेत्र कृषि के विकास में कई नवीन प्रयास सुधार हेतु अपनाये जा रहे हैं जिससे भारत की उत्पादन क्षमता में अत्याधिक वृद्धि हुई है।

उपरोक्त प्रयासों के साथ-साथ भारत सरकार कृषि के विकास के प्रति सदैव प्रयासरत रही है और उसने अपनी प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में उसके सुधार हेतु लक्ष्य निर्धारित किये हैं जिसका क्रमवार विवरण अग्रेषित है। प्रथम पंचवर्षीय योजना जो १६५१ से १६५६ तक लागू रही जिसमें समग्र विकास को लक्ष्यगत करते हुए सिंचाई और बिजली के विकास पर विशेष बल दिया गया। खाद्यान्न की समुचित उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाना उस समय की आवश्यकता थी क्योंकि विभाजन के बाद देश में खाने के अनाज का संकट बढ़ गया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना (१६५६-६१ ई.) में रणनीति बदली और यह योजना उद्योग प्रधान रही जिससे प्रथम पंचवर्षीय योजना में जो कृषि में सुधार परिलक्षित हुआ था वह लगभग रुक सा गया। सरकार को तीसरी पंचवर्षीय योजना (१६६१-१६६६) में पुनः कृषि विकास पर बल देना पड़ा। इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीण विकास पर ध्यान केन्द्रित करते हुए ग्रामीण उद्योग परियोजना (१६६२ ई.) गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (१६६४ ई.) कृषक प्रशिक्षण एवं शिक्षण कार्यक्रम (१६६६ ई.) कुआं निर्माण कार्यक्रम (१६६६ ई.) आदि को संचालित किया गया। प्रथम

व तृतीय योजना का क्षेत्र देश में कृषि का विकास कर खाद्यान्न की स्थिति में सुधार लाना था और यह कार्य साधन सम्पन्न कृषकों के ही माध्यम से सम्भव था। इस प्रकार इसका लाभ भी इन्ही कृषकों को मिला।

चौथी पंचवर्षीय योजना (१९६९-१९७४ ई.) में ग्रामीण विकास की पुरानी अवधारणा में बदलाव लाते हुए इसमें छोटे और सीमान्त किसानों, खेतिहर मजदूरों और सूखाग्रस्त क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया गया। इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीण विकास के उद्देश्य से संचालित किए गए कार्यक्रमों में ग्रामीण जनशक्ति कार्यक्रम (१९६९ ई.) सूखा क्षेत्र प्रवीण कार्यक्रम (१९७०) ग्रामीण रोजगार नकदी योजना (१९७२ ई.) जनजाति क्षेत्र विकास कार्यक्रम (१९७२ ई.) ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (१९७२ ई.) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पांचवी पंचवर्षीय योजना (१९७४-७९ ई.) के अन्तर्गत लघु कृषक विकास एजेन्सी (१९७४ ई.) की स्थापना और पूरे देश में इसकी शाखाएं खोली गईं। इन एजेन्सियों द्वारा लघु एवं सीमान्त कृषकों को कृषि यन्त्रों एवं कृषि निवेश हेतु आवश्यक सहायता उपलब्ध करायी गयी। इसी योजना अवधि १९७६ ई. में आयोजित हुई विज्ञान कांग्रेस में गरीबी उन्मूलन की विचारधारा उभरी और उसके परिणामस्वरूप हरित क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। कृषि के क्षेत्र में नवीन उपकरणों के प्रयोग पर जोर दिया गया। छठवीं पंचवर्षीय योजना (१९८०-८५ ई.) में ग्रामीण विकास और गरीबी उन्मूलन के क्षेत्र में सुव्यवस्थित एवं सुविचारित अवधारणा के तहत "मजदूरी परक रोजगार" उपलब्ध कराने की योजनाएं प्रारम्भ की गईं और स्वरोजगार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की व्यवस्था की गई। १९८१ ई. में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम का सूत्रपात किया गया और इसी शृंखला में वर्ष १९८३ ई. में ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी योजना लागू की गई। सातवीं पंचवर्षीय योजना (१९८५-९० ई.) में पंचायती राज व्यवस्था को सशक्त करने का प्रयास किया गया। आठवीं पंचवर्षीय योजना (१९९२-९७ ई.) में कृषि एवं ग्रामीण विकास को भी प्राथमिकता देने का प्रयास किया गया। नौवी पंचवर्षीय योजना (१९९७-२००२) में कृषि मजदूर सामाजिक सुरक्षा योजना (२००१) की शुरूआत की गयी। दसवीं पंचवर्षीय योजना (२००२-२००७) में ग्रामीण विकास की रफ्तार और भी तेज हुई। इस योजना में नए प्रयासों के साथ-साथ पूर्व घोषित प्राथमिकताओं को जारी रखा गया। साथ ही किसानों को वर्षा की कमी से होने वाले नुकसान की भरपाई हेतु "वर्षा बीमा योजना २००५" का शुभारम्भ किया गया। इसी प्रकार ११वीं योजना (२००७-२०१२) के प्रमुख कार्यक्रम "भारत निर्माण योजना" के अन्तर्गत सिंचाई, सड़कें, जलापूर्ति, आवास, ग्रामीण, विद्युतीकरण, ग्रामीण दूर संचार सम्पर्क सहित ६ घटक निर्धारित किए गए हैं। जिसमें सिंचाई के क्षेत्र में सुधार हेतु १७६२०५ करोड़ रूपये की धनराशि निवेश हेतु आवंटित की गयी है। इसी योजना में कृषि ऋण की स्थिति को अच्छी बनाने हेतु ५० लाख नए किसानों को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य के साथ वर्ष २००७-०८ के लिए २२५००० करोड़ रूपये की ऋण सहायता उपलब्ध कराने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। अल्पावधि फसल ऋण के लिए २ प्रतिशत ब्याज सहायता योजना में १६७७ करोड़ रूपया का भी प्रावधान किया गया है। बजट में भूमि जल पुनर्भरण के अन्तर्गत वर्षा के जल को कुएं में ले जाने के लिए छोटे और सीमान्त किसानों को सौ प्रतिशत तथा अन्य किसानों को ५० प्रतिशत सब्सिडी देने का प्रावधान किया गया है। इसके लिए नाबार्ड को १८०० करोड़ रूपये की धनराशि उपलब्ध कराए जाने की बजट में व्यवस्था है। साथ ही राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना को जारी रखते हुए इसके लिए ५००

करोड़ रूपये का प्रावधान किया गया है।

६१वें स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह ने कृषि क्षेत्र में समग्र विकास के उद्देश्य से २५००० करोड़ रूपये के कृषि विकास पैकेज २००७ की घोषणा भी की है और देश में खाद्यान्न उत्पादन में तीव्र अभिवृद्धि का लक्ष्य रखते हुए १६ अगस्त २००७ को ५००० करोड़ रूपये के एक खाद्य सुरक्षा मिशन योजना २००७ को भी मंजूरी प्रदान की गयी है जिससे त्वरित रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में बसने वाले कृषकों और गरीबों के लिए आर्थिक सम्बल प्राप्त हो सकेगा।

कृषि के अतिरिक्त ग्रामीण आधारभूत संरचना के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश वृद्धि हेतु वर्ष १९९५-९६ में एक ग्रामीण आधारभूत संरचना विकास कोष का गठन किया गया है। ग्रामीण सड़कें, पुल, सिंचाई, अति लघु एवं लघु हड्डल परियोजनायें, भू-संरक्षण, बाढ़ संरक्षण, वन विकास, गोदाम, ग्रामीण हाट, पशुपालन, ग्रामीण शैक्षणिक संस्थायें, सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थायें, ग्रामीण ज्ञान केन्द्र, ग्रामीण सूचना प्रौद्योगिकी, साज सज्जा, पेयजल व्यवस्था तथा आंगनवाड़ी केन्द्र आदि कार्यों में इस कोष का उपयोग किया जायेगा। वर्ष १९९५ से २००६-०७ तक ६०००० करोड़ रूपये का कोष में प्रावधान किया गया था जिसमें से २५ जनवरी २००७ तक राज्य सरकारों को ५८७९५.३६ करोड़ रूपये स्वीकृत किये गये हैं तथा ३४६४३.८७ करोड़ रूपये का वितरण किया जा चुका है। इससे ग्रामीण क्षेत्र में अमूल चूल परिवर्तन आये हैं।

आजादी के बाद निर्धनता उन्मूलन से जुड़े कई कार्यक्रम शुरू किये गये। १९७७-७८ से समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम शुरू किया गया। इन कार्यक्रमों में प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, इन्दिरा आवास योजना, स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना, सूखा ग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम, रेगिस्तान विकास कार्यक्रम, तथा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना प्रमुख हैं। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार की वृद्धि हुई और निर्धनता में कमी आयी।

गांव में विकास के सभी कार्यक्रम तभी पूर्णतः संचालित हो सकते है यदि शिक्षा का स्तर अधिक हो अन्यथा इन योजनाओं का पूरी तरह ग्रामीण जनता को प्राप्त नहीं हो पाता। मानव जीवन में शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए संविधान में इसे राज्य सूची में शामिल किया है। शिक्षा के सम्बन्ध में संविधान के नीति निदेशक तत्वों के अन्तर्गत अनुच्छेद ४५ के द्वारा १५ वर्ष की आयु के सभी बच्चों को निशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था सुनिश्चित करना सरकार का दायित्व निर्धारित किया गया है। ६-१४ वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा को मूलभूत अधिकार बनाने हेतु संसद द्वारा ८६वां संविधान संशोधन अधिनियम २००२ पारित किया गया। इस कानून के बन जाने से शिक्षा बच्चों का मौलिक अधिकार बन गयी है और सरकार इस जिम्मेदारी से अपना पल्ला नहीं झाड़ सकती है। हमारे नीति-निर्माताओं ने दृढ़ महसूस किया है कि गरीबी, बीमारी, पिछड़ापन जैसी समस्याओं का पूर्ण समाधान निरक्षरता दूर किए बिना संभव नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में जहां १९५१ में साक्षरता की दर केवल १८.३ प्रतिशत थी वही २००१ में बढ़कर ६४.८ प्रतिशत हो गयी है। लेकिन इन सुधारों के बावजूद भी अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। महिला साक्षरता अभी भी ५३.७ प्रतिशत ही है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की मानव विकास रिपोर्ट, २००६ जिसे अभी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सिंगापुर सम्मेलन में १६ सितम्बर २००६ को जारी किया गया, उसके अनुसार प्रौढ़ साक्षरता दर (१५ वर्ष से अधिक आयु के लोगों की साक्षरता दर) के लिहाज से हम चीन,

श्रीलंका और मालद्वीप जैसे देशों के पीछे हैं। अभी भी ६.१४ वर्ष आयु वर्ग में स्कूल में नामांकित न होने वाले बच्चों की संख्या १ करोड़ है। भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश की हालत अत्यन्त निराशाजनक है। जिस राज्य ने देश को सबसे अधिक प्रधानमंत्री दिये हों वह आर्थिक तथा शैक्षिक दोनों रूपों में पिछड़ेपन की स्थिति में जकड़ा हुआ है। मानव विकास मंत्रालय के आंकड़ों के अनुसार दिल्ली और असम अपने बजट का ३० प्रतिशत से अधिक धन शिक्षा पर खर्च करते हैं। जबकि बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, मणिपुर, मेघालय, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु, त्रिपुरा और चण्डीगढ़ अपने बजटीय खर्च का २० प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करते हैं। उ०प्र० और पश्चिमी बंगाल जैसे बड़े राज्य अपने कुल खर्च का २० प्रतिशत से कुछ कम धन खर्च करते हैं। १६८६ की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में देश से निरक्षरता के कलंक को हमेशा के लिए मिटाने के उद्देश्य से सकल घरेलू उत्पाद ६ प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करने का लक्ष्य रखा गया। लेकिन इस लक्ष्य की तुलना में शिक्षा पर केन्द्र और राज्यों का कुल खर्च सकल घरेलू उत्पाद के ३ प्रतिशत से अधिक कभी नहीं हो सका।

उपरोक्त दोनों तालिकाओं से स्पष्ट है कि प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में किये गये व्यय में वृद्धि नहीं हुई जबकि उच्च शिक्षा में व्यय का प्रतिशत थोड़े परिवर्तनों को छोड़कर सामान्य रहा तथा प्राथमिक शिक्षा पर सबसे अधिक किया गया। जबकि माध्यमिक शिक्षा पर व्यय में दिनोंदिन गिरावट आयी तथा प्रौढ़ शिक्षा व अन्य व्यय खर्च सामान्य ही रहे। प्राथमिक शिक्षा पर अधिक व्यय किये जाने से उसके स्तर में सुधार अवश्य हुआ परन्तु तमिलनाडु, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश जैसे कई दक्षिणी राज्यों में प्राइवेट कम्पनियां उच्च शिक्षा के क्षेत्र में व्यय को

शिक्षा पर योजनागत एक तालिका प्रस्तुत है -

तालिका-१

पंचवर्षीय योजना	सम्पूर्ण शिक्षा पर खर्च (प्रतिशत में)
प्रथम	७.८%
द्वितीय	५.८%
तृतीय	६.६%
चतुर्थ	५.८%
पंचम	३.३%
षष्ठम्	२.७%
सातवीं	३.१%
आठवीं	४.५%
नौवीं	२.६%
दसवीं	२.८७%

बढ़ाकर आधार कायम कर रही हैं। परन्तु देश की प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ माध्यमिक, उच्च तकनीकी और प्रौढ़ शिक्षा के विकास की अत्यन्त आवश्यकता है वहाँ सरकार को विशेष ध्यान देना पड़ेगा।

वर्तमान में सरकार द्वारा चलाए जा रहे कार्यक्रम "सर्व शिक्षा अभियान" और "दोपहर का भोजन कार्यक्रम" शिक्षा से सम्बन्धित हैं। सर्व शिक्षा अभियान ६-१४ वर्ष के सभी बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने के लिए बनाया गया मुख्य कार्यक्रम है। यह एक समयबद्ध कार्यक्रम है और पूरे ग्रामीण भारत में लागू है। इसका उद्देश्य सन् २०१० तक पूरे देश में संबधित आयु वर्ग के सभी बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा देना है। इस कार्यक्रम पर खर्च केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच नौवीं योजना में ८५:१५, दसवीं योजना में ७५:२५ और ग्यारहवीं योजना में ५०:५० के अनुपात से करने की व्यवस्था४ है। जब २००१ में यह कार्यक्रम शुरू

तालिका-२

विभिन्न पंचवर्षीय योजना में शिक्षा पर व्यय (करोड़ रूपये में)

पंचवर्षीय योजना	शिक्षा पर कुल व्यय	उच्च शिक्षा पर व्यय	प्राथमिक शिक्षा पर व्यय	माध्यमिक शिक्षा पर व्यय	प्रौढ़ शिक्षा पर व्यय	अन्य व्यय
१९५१-५६	१५३ करोड़ (१००%)	१४ (९%)	८५ (५६%)	२० (१३%)	-	३४ (२२%)
१९५६-६१	२७३ करोड़ (१००%)	४८ (१८%)	९५ (३५%)	५१ (१९%)	-	७९ (२८%)
१९६१-६६	५८९ करोड़ (१००%)	८७ (१५%)	२०१ (३४%)	१०३ (१८%)	-	१९८ (३३%)
१९६९-७४	७८६ करोड़ (१००%)	१९५ (२५%)	२३९ (३०%)	१४० (१८%)	-	२१२ (२७%)
१९७४-७९	९१२ करोड़ (१००%)	२०५ (२२%)	३१७ (३५%)	१५६ (१७%)	-	२३४ (२६%)
१९८०-८५	२५३० करोड़ (१००%)	५५९ (२७%)	८३६ (३३%)	५३० (२१%)	२२४ (९%)	३८१ (१५%)
१९८५-९०	७६३३ करोड़ (१००%)	१२०१ (१६%)	२८९४ (३७%)	१८३२ (२४%)	४७० (६%)	११८१ (१७%)
१९९२-९७	९६०० करोड़ (१००%)	१५१६ (८%)	९२०१ (४७%)	३४९८ (१८%)	१८९४ (९%)	३५३७ (१८%)
१९९७-२००२	२४९०८ करोड़ (१००%)	२९८६ (१२%)	१४४४७ (५८%)	३२३८ (१३%)	७४७ (३%)	३४८७ (१४%)
२००२-२००७	४३८२५ (१००%)	३९४४ (९%)	२६७५० (६६%)	५२५९ (१२%)	१३१५ (३%)	४८२१ (११%)

हुआ तो स्कूल न जाने वाले बच्चों की संख्या ३ करोड़ ६० लाख थी। अब तक यह संख्या घटकर १ करोड़ रह गयी। इस कार्यक्रम के लिए निर्धारित राशि २००५-०६ में ७१५६ करोड़ से बढ़ाकर २००६-०७ में १००४१ करोड़ रूपये कर दिये गये हैं।

शिक्षा गांरटी योजना और वैकल्पिक तथा अभिनव शिक्षा सर्वशिक्षा अभियान का अंग है। इन्हें बच्चों के लिये बनाया गया है जो दुर्गम क्षेत्रों में रहने के कारण अथवा दूर-दराज के क्षेत्रों में रहने के कारण गरीबी या अन्य सामाजिक और आर्थिक कारणों से कभी स्कूल नहीं जा सके। प्रारम्भिक

स्कूल के बच्चों को पोषण उपलब्ध कराने के लिए दोपहर का भोजन कार्यक्रम एक राष्ट्रीय कार्यक्रम है। सरकारी, स्थानीय निकायों और सहकारी सहायता प्राप्त स्कूलों में प्रारम्भिक स्तर के ६-१४ वर्ष तक के बच्चों का स्कूलों में दाखिला बढ़ाना और उन्हें पढ़ाई जारी रखने के लिए प्रोत्साहित करने के अलावा इस कार्यक्रम का उद्देश्य पोषाहार के स्तर में सुधार करना भी है। इस समय १२ करोड़ बच्चों को इस योजना से लाभ पहुँच रहा है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन कई गतिविधियों का पिटारा है जिनमें साक्षरता, गिनती सीखना, पोषाहार, स्वास्थ्य की देखभाल, पर्यावरण संरक्षण, कौशल उन्नयन, व्यवसायिक प्रशिक्षण शामिल है। पिछले कुछ वर्षों में ग्रामीण क्षेत्रों और नगरीय क्षेत्रों के बीच साक्षरता का अंतर बहुत कम है।

ग्रामीण विकास में कृषि एवं शिक्षा के योगदान से प्राचीन कालीन गांव की संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। गांव में शिक्षा के ज्यादा प्रचार-प्रसार से आज गांव के लोग प्रत्येक क्षेत्र में अपनी सहभागिता बढ़ा रहे हैं। आज हो रहे नवीन आविष्कारों व तकनीकी क्षेत्रों में सुधार व दूर संचार क्रान्ति को बड़े रूचिपूर्ण तरीके से ग्रामीण जनता अपना रही है और जिससे ग्रामीण विकास के नये आकड़ें देश के सामने आ रहे हैं। यदि ऐसा ही सुचारू रूप से चलता रहा तो अवश्य ही ग्रामीण क्षेत्र विकास की बुलंदियों को छू लेगा।

इतिहास दृष्टि

मौर्ययुगीन कृषि व्यवस्था का ऐतिहासिक अवलोकन

*कु. अनीता सिंह

भारतीय इतिहास का प्रत्येक युग अपनी सभ्यता, संस्कृति एवं व्यवस्था की विशेषताओं को लेकर अपनी अलग पहचान रखता है। पाषाण युग से लेकर आधुनिक काल तक के इतिहास की यही विशेषता है, लेकिन जब हम केन्द्रीयकृत साम्राज्य की बात करते हैं तो हमें मौर्य युग में पहली बार किसी साम्राज्य के केन्द्रीय स्वरूप के उदाहरण प्राप्त होते हैं। मौर्यकालीन साम्राज्य एक संगठित साम्राज्य था। इतिहास में पहली बार इसी युग में सर्वाधिक विकासोन्मुख कार्य किया जाना सम्भव हो सका। मौर्यकालीन राजनीति, प्रशासन आदि के बारे में जानकारी समकालीन ग्रन्थों से प्राप्त होती है। यहाँ पर हम मौर्ययुगीन कृषि पर ही अपना ध्यान सीमित रखकर यह जानने का प्रयास करेंगे, कि मौर्य युग में कृषि के लिये भूमि व्यवस्था कैसी थी तथा फसलों की कौन-कौन सी कोटियाँ थीं, और सिंचाई के इस युग में क्या-क्या साधन थे तथा इस काल में कृषि के किन उपकरणों का प्रयोग किया जाता था और राजस्व (भूमि) व्यवस्था कैसी थी।

मौर्यकाल में भूमि विभाजन का मुख्य आधार फसलों की उपयुक्तता तथा जल की सुविधा थी। "पाणिनी ने अष्टाध्यायी में भूमि की तीन कोटियों का उल्लेख किया है।"[1] प्रथम भूमि के रूप में हल्य या सीत्य भूमि (जो हल की जोत में हो) दूसरी ऊसर-रेहाड़ या नोनी धरती तथा तीसरी गोचर या चारागाह भूमि है। पाणिनी ने कृषि योग्य समस्त भूमि को सीत्य कहा है। वहीं दूसरे इतिहासकार पतंजलि ने हल से जोती जाने वाली प्रत्येक भूमि को 'हल्या' तथा प्रत्येक जुता हुए खेत को 'सीत्य' बताया है। उन्होंने हल्य भूमि के अतिरिक्त 'परमहल्या' का भी उल्लेख किया है, जो अवश्य ही बड़ा क्षेत्रफल का होता रहा होगा। इसी प्रकार सीत्य और परमसीत्य का भी उल्लेख भाग्य में है। अर्थशास्त्र में 'केदार' शब्द खेतों के लिये प्रयुक्त हुआ है। खेतों के नाम; उनमें बोये जाने वाली फसलों तथा आवश्यक बीज के तौलों के अनुसार भी निश्चित किये जाते थे। जैसे - "ब्रैहेय - ब्रीहि या धान का खेत, शालेय - शालि का खेत, पण्य जौ का खेत, यवक्य - यवक नामक चावल या जई का खेत, षण्टिक्य - साठी का खेत, तिल्य - तिल का खेत, औमीन - अलसी का तेल, मौदगीन - मूँग का खेत आदि।"[2]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भूमि के चार प्रकार मिलते हैं - एक निकास भूमि जिसमें गृह ग्राम तथा नगर सम्मिलित थे, दूसरा कृषि भूमि, तीसरा - चारागाह भूमि तथा चौथी जंगल या अकृषित भूमि। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने नये तथा समतल भूमि में समतल भूमि को कृषि के लिये अधिक उपयोगी ठहराया है। इस प्रकार यह देखते हैं कि भूमि विभाजन सम्बन्धी अधिकांश विद्वानों ने कृषि भूमि के अतिरिक्त बंजर या परती भूमि तथा जंगल भूमि का अलग-अलग उल्लेख किया है।

मौर्यकाल में कृषि कार्य करने के लिये किन-किन उपकरणों का प्रयोग किया जाता था, इस सम्बन्ध में समकालीन ग्रन्थों के देखने से यह पता चलता है कि अष्टाध्यायी के कई सूत्रों में हल का

* ईदगाह मोहल्ला, वार्ड नं. 23, पो. दिहरी, ओन, सोन, रोहतास (बिहार)

उल्लेख है। हल के अतिरिक्त कृषि के अन्य महत्वपूर्ण औजार जैसे - कुदाल, फावड़ा, युग-बस्ता, रहट, चक्र, चरस या मोट आदि उपकरणों का प्रयोग फसलों की सिंचाई के लिये किया जाता था। भूमि की जुताई को पतंजलि ने हलस्य-कर्ष कहा है। अष्टाध्यायी में इसके लिये कृषति धातु का प्रयोग हुआ है। मौर्यकाल में यूनानी लेखक भारत आने पर यहाँ की भूमि, उपजाऊ शक्ति और किसानों के कौशल आदि को देखकर चकित रह गये थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों में कृषकों की जुताई का बड़ा प्रशंसनीय वर्णन प्रस्तुत किया है।[३] पाणिनी के अनुसार जुताई के लिये कृषक बड़े-बड़े हलों का प्रयोग करता था। उनके अनुसार कृषक एक ही खेत की बार-बार जुताई करता था। दो बार जोत के लिये द्वितीया - करोति, तीन बार जोत के लिये तृतीया - करोति शब्द प्रचलित थे। जुताई के बाद खेत बीज बोने लायक हो जाता था इसे 'वाप्य' कहते थे। खेत की बुवाई शुभ मुहूर्त में की जाती थी। कौटिल्य ने मूँग-उरद के फसल को सामनी (सावन) और कार्तिकी (कार्तिक) के बीच बुवाई योग्य माना है। बाल्मीकि ने खेत की बुवाई का उपर्युक्त समय वर्षा ऋतु माना है। उनका यह विश्वास था कि उपजाऊ भूमि में वर्षाकाल में बोया हुआ बीज अवश्य फलीभूत होता है। वर्षा होने पर छोटी-छोटी क्यारी बनाकर चावलों (शालि-अक्षत) को खेतों में बोया जाता फिर उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपते तथा खेत के चारों ओर बाढ़ लगाकर उसकी रक्षा करते थे। पतंजलि में एक साथ दो धान्यों को मिलकर बोने का उल्लेख किया है।[४] कृषक प्रायः उरद और तिल मिलाकर बोते थे, खेत उरद बोने के लिये तैयार किया जाता था और प्रधान धान्य के रूप में उसमें उरद तथा गौण रूप में तिल बो दिया जाता था। मौर्यकाल में मिश्रित कृषि का प्रचलन था जो नवीन न होकर बहुत प्राचीन है, जिसके उदाहरण हमें सिन्धुघाटी सभ्यता के कालीबंगा नामक स्थलों की खुदाई से प्राप्त होते हैं जहाँ गेहूँ के साथ-साथ सरसों या राई के उगाने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं।[५] इस प्रकार की कृषि वर्तमान में भी बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर उपयोग में लाई जा रही है।

किसी धान्य (फसल) के बीज को कितने क्षेत्र में बोना है इसका मोटा हिसाब किसान रखते थे। बीज बो देने के पश्चात अंकुर आने और पौधे के कुछ बड़े हो जाने पर किसान खेती की निराई तथा सिंचाई करता था। निराई पौधे के चातुर्दिक उगे हुये घास-फूस तथा मोथो की कुदाली आदि से साफ करके की जाती थी। फसल का संरक्षण कर उसे तैयार कर लेने के पश्चात जब धान्य पक जाते तथा पीले पड़ जाते तो उन्हें तीक्ष्ण दतियों से काट लेते थे जिसे लवन (कटाई) कहते थे। फसल काटने वाले को लावक कहा जाता था। कटाई या लवनी के लिये पूर्णरूपेण तैयार खेत लाण्य कहलाते थे। कुछ फसलें काटी जाती तथा कुछ जड़ से उखाड़ ली जाती थीं। जैसे - जौ काटी जाती थी परन्तु मूँग, माष, दालें, अलसी आदि के पौधों को जड़ से उखाड़कर लवनी की जाती थी।

कृषकों को उत्तम फसल उत्पादन के लिये भरपूर सिंचाई की आवश्यकता आरम्भ से ही रही है। प्राचीनकाल में ज्यादातर प्राकृतिक साधनों द्वारा ही सिंचाई हो पाती थी। यहाँ की जलवायु तथा प्राकृतिक स्थिति से ही भारत देश का अपना एक अलग अस्तित्व है। इन दोनों कारणों से ही अलग-अलग स्थलों पर सिंचाई के अलग-अलग साधन थे जैसे लाट देश में सिंचाई वर्षा द्वारा, सिन्धु देश में नदियों द्वारा, द्राविड़ देश में तालाबों द्वारा, उत्तरापथ में कुओं से और पूर्वी क्षेत्र में बाढ़ से सिंचाई की जाती थी। वर्षा के जल से कृषि करने वाले प्रदेश देव मात्रक, नदी के जल से सिंचाई

करने वाले प्रदेश नदी मात्रक या अदेव मात्रक एवं बिना सिंचाई के ही धान्योत्पादन करने वाली समुद्री प्रदेश प्रकृति मात्रक कहलाते थे। वर्षा के लिये मौर्यकाल में भी प्राचीनकाल की तरह एक अलग मान्यता रही है, कौटिल्य ने लिखा है कि जब बृहस्पति मेष-राशि से वृष राशि पर संक्रमण करे जब शुक्र ग्रह की उदयास्ति गति अषाढ़ की पंचमी आदि नौ तिथियों में संचरित हो, सूर्य के चारों ओर मंगल दिखाई दे तो ये सभी अच्छी वर्षा के लक्षण है।(६)

ग्रीक लेखक डायडोरस ने भारत में साल में दो बार वर्षा एवं तदनुसार दो फसलों का उल्लेख किया है। एक वर्षा जाड़े में होती थी जब गेहूँ बोया जाता था दूसरी वर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती थी, जब ब्रीही तिल प्रियंगु आदि बोये जाते थे। वर्षा के अतिरिक्त नदियां भी सिंचाई के प्राकृतिक साधन थे। पाणिनी ने कई छोटी-छोटी नदियों के नाम दिये है जिनमें उन दिनों सिंचाई होती थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि मिस्र की भाँति भारत में भी सिंचाई विभाग के कुछ अधिकारी नदियों की देखभाल तथा भू-मापन किया करते थे।(७) अतः आज की भाँति भी उन दिनों भी राज्य द्वारा सिंचाई के लिये अलग विभाग की व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र में कृषि के उन्नति के लिये सिंचाई के कृत्रिम साधनों पर अधिक बल देने के लिये राजा को सलाह दी गई है। नहरें, जलाशय, कुयें, पुल, बाँध, तालाब, झील आदि कृत्रिम साधन सिंचाई के मुख्य साधन थे। जिसके निर्माता मंत्रक कहलाते थे और जिसका निर्माण राज्य की ओर से किया जाता था।

मौर्य साम्राज्य में अशोक के सार्वजनिक निर्माण कार्य का उल्लेख हमें उसके दूसरे दीर्घ - शिलालेख में मिलता है जिसमें सड़कों के किनारे प्रत्येक दो कोस की दूरी पर कुओं के निर्माण करवाये गये हैं। जिनका उद्देश्य सिंचाई भी था क्योंकि पानी पीने के लिये सम्राट ने अलग से प्याऊ की व्यवस्था की थी।

नहरें भी नदी, कुआँ के बाद सिंचाई का तीसरा प्रमुख साधन मानी गईं हैं। नन्द राजा महापदमनन्द ने तनसुलीयवाटा से कलिंग तक सिंचाई के लिये नहर का निर्माण करवाया था। १९१४ ई. के वेसनगर उत्खनन में डॉ. भण्डारकर ने मौर्य अथवा पूर्व मौर्यकाल में निर्मित एक ऐसी नहर का पता लगाया था जो कि ७ फिट चौड़ी और ५ फिट २६ इंच गहरी थी। संभवतः सामूहिक उपयोग की वस्तु होने के कारण नहरों का निर्माण सामूहिक प्रयत्न तथा परिश्रम सम्पन्न होता था। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के गुजरात गवर्नर पुण्यगुप्त द्वारा निर्मित विशाल सुदर्शन झील - जिसका परवर्ती काल में सम्राट अशोक तथा शक शासक महाक्षत्रप रूद्रदामन ने पुर्ननिर्माण करवाया था जो तत्कालीन कृषि तथा सिंचाई के प्रति राजकीय योगदान एवं रूचि का ज्वलंत उदाहरण है।(८)

इसके अतिरिक्त तालाब की सिंचाई के प्रमुख साधन थे शासन की ओर से प्रत्येक गाँव में एक तालाब का निर्माण सिंचाई के लिये कराया जाता था। मौर्यकालीन भारतीय कृषकों ने प्रकृति पर निर्भर न रहकर अच्छी फसलों और उत्तम पैदावार हेतु सिंचाई के लिये विविध कृत्रिम साधनों का विकास कर लिया था जिसका आधार संभवतः वैज्ञानिक अनुसंधान न होकर उन कृषकों का व्यवहारिक ज्ञान तथा अनुभव था। इस समाज में ऐसे भी लोग थे जिन्हें इन क्षेत्रों में सिद्धहस्तता प्राप्त थी। पतंजलि और कौटिल्य दोनों ने यह माना है कि मौर्यकालीन शासकों के सक्रिय योगदान ने इसे और भी विकासशील बना दिया लेकिन जितना प्रयास इस क्षेत्र में मौर्य शासकों ने किया यदि बाद के शासकों ने भी उसी तरह का प्रयास किया होता तो हमारा प्राचीन भारत बहुत उन्नतिशील होता।

मौर्यकाल में राज्य की अर्थव्यवस्था का प्रमुख स्रोत भू-राजस्व था यह कृषकों से वसूला जाता था, यह कितना लिया जाता था इसके बारे में कई मत है क्योंकि मैगस्थनीज का यात्रा वृतान्त जो चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में भारत आया था सर्वाधिक महत्वपूर्ण साक्ष्य है किन्तु दुर्भाग्यवश यह विवरण अपने मूल में उपलब्ध न होकर कतिपय अवतरण परवर्ती लेखकों की कृतियों में सुरक्षित है तथा इस सम्बन्ध में कुछ पूरक सहायता अशोक के अभिलेखों में उपलब्ध सन्दर्भों से प्राप्त होते हैं। यूनानी इतिहासकार डायडोटस, स्ट्रैबो, एरियन सभी ने यह स्वीकार किया है कि लगभग चौथा भाग राजस्व के रूप में वसूला जाता था।

भूमि पर स्वामित्व के विषय में डायडोरस ने यह माना है कि भूमि अचल सम्पत्ति थी इस पर किसी निजी व्यक्ति का स्वामित्व नहीं था। एरियन यह मानते हैं कि कर सीधे राज्य को दिये जाते थे इससे यह स्पष्ट है कि भूमि पर राज्य का अधिकार था।

मौर्यकालीन कृषि की इस महत्वपूर्ण स्थिति के कारण समाज में कृषकों को उच्च स्थान प्राप्त था। राज्य भी इस व्यवसाय की समृद्धि पर लोक स्थिति की निर्भरता को समझकर कृषि की ओर विशेष ध्यान देता था, उसकी ओर से कृषि की रक्षा के सभी सम्भावित प्रयत्न किये जाते थे। कौटिल्य ने वानप्रस्थी को छोड़कर अन्य भ्रमणार्थियों तक को ग्राम की सीमा में प्रवेश करना निषिद्ध ठहराया है।

प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से उपर्युक्त विवरणों के आधार पर मैंने मौर्यकालीन कृषि पर प्रकाश डाला है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आज से लगभग २३०० वर्ष पूर्व का कृषि कार्य और उसके विकास के लिये किया गया प्रयास कितना सराहनीय था, काश ऐसा ही प्रयास बाद के कालों में भी किया गया होता तो समाज का अन्नदाता, भरणकर्ता, पोषककर्ता कृषक आज भुखमरी और आत्महत्या की कगार में खड़ा नहीं होता न ही यह कहावत "उत्तम खेती मध्यम बान निखिद चाकरी पशू निदान" आज आलोचना बनी होती।

संदर्भ

१. पाणिनी की अष्टाध्यायी - ३/२/११६
२. वासुदेव शरण अग्रवाल - पाणिनी कालीन भारतवर्ष पृ. १६६, संस्करण १९७२
३. एरियन - ५१६
४. भाष्य - २/३/१६ - "तिलैः सह भाषान वपित तिलैः मिश्रीकृत्य भाषा उत्येत।"
५. सिन्धु सभ्यता, के. के. थापालियाल, पृ. १८०, १९९२, तृतीय संस्करण
६. अर्थशास्त्र २१२४/७-८
७. मैगस्थनीज का फैग्मेन्टल - ३४/५०
८. रूद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख (डी. सी. सरकार - सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन भाग-१, पृ. १७६)

बेहतर कल की उम्मीद में जागृत होकर बुलन्द आवाज़ के साथ क्रांति का आह्वान करती निर्मला पुतुल की कविताएँ

*डॉ. राधा वर्मा

भ्रष्ट समाज और व्यवस्था से प्रभावित मनुष्य को जागृत कर तथा भ्रष्ट समाज और व्यवस्था के ठेकेदारों को सचेत कर क्रांति की सोच निर्मला पुतुल की कविताओं में देखने को मिलती है। इनकी कविताएँ अत्याचारों को सहन करने वालों को जहाँ जागृत करने की कोशिश करती हैं वहीं दूसरी ओर उन लोगों से भी रू-ब-रू करवाती हैं जो बेहतर कल की उम्मीद में जागृत होकर निडरता के साथ बुलन्द आवाज़ में क्रांति का आह्वान कर रहे हैं।

शोषितों की दयनीय स्थिति के लिए जिम्मेदार भ्रष्ट व्यवस्था का पर्दाफाश कर, उससे प्रभावित मनुष्य को जागृत कर 'खून को पानी कैसे लिख दूँ' कविता में पुतुल कहती हैं कि जिन्हें जनता ने अपना प्रतिनिधि निर्वाचित किया उनसे बेहतरी के लिए कुछ करने की उम्मीद रखना बेकार है। ये लोग तो अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी, चाहे वह अनुचित ही क्यों न हो - करने को तैयार है। पुरूष प्रधान समाज में पुरुष से तो क्या उम्मीद रखनी परन्तु यहाँ तो स्त्री भी स्त्री के हक में कुछ करने को तैयार नहीं दिखती। तभी तो पुतुल महिला प्रतिनिधि को संबोधित कर बड़े निर्भीक स्वर में कहती है -

> अरे और तो और, आखिर तुम भी घुमा-फिराकर
> गोल-गोल बतियाती शामिल हो गयी न इया मुर्मू।
> कम से कम तुमसे तो ऐसी उम्मीद नहीं थी।
> क्या इसलिए सौंपी थी एक दिन हम सबने मिलकर
> तुम्हारे हाथों अपनी कमान ?[१]

उनकी असलियत को सामने लाकर उन्हें सचेत कर पुतुल कहती है कि मैं भ्रष्ट व्यवस्था की सोची-समझी साजिश की शिकार पहली और आखिरी नहीं हूँ। मुझसे पहले भी इस साजिश के कई शिकार हुए हैं और बाद में भी होंगे, तुम्हारी ही बारी भी हो सकती है। कवयित्री आज की स्थिति से साक्षात्कार कर कहती है कि व्यवस्था चाहती है कि हम कोई सवाल न करें, असहमति न जतायें, न विरोध करें, न उनके कामों में किसी तरह का हस्तक्षेप करें। अपनी परिधि में रहें और इधर-उधर बिना इजाजत के न देखें । परन्तु तुम्हीं बताओ यह कैसे सम्भव हो सकता है ? बड़ी बुलन्द आवाज के साथ पुतुल कहती है-

> आँख रहते अन्धी कैसे हो जाऊँ मैं ?
> कैसे कह दूँ रात को दिन ?
> खून को पानी कैसे लिख दूँ ?
> और जबकि मुझे ठीक-ठीक पता है कि अपने
> पूरे होशो-हवास में कुचली गयी थी वह
> तब तुम्हीं बताओ
> उसे उसकी नादानी कैसे मान लूँ ?[२]

* 'वर्मा निवास', गाहन, कमला नगर, संजौली, शिमला-171006 (हि. प्र.)

एक औरत के साथ अमानवीय व्यवहार होता देखकर उसके पक्ष में खड़ी होकर पुतुल सच्चाई को सामने लाती है । सच्चाई को छुपाने के लिए प्रयासरत भ्रष्ट व्यवस्था के विरूद्ध स्पष्ट शब्दों में एलान करती पुतुल कहती है -

बिछ जाएँ जब-तब उनके इशारे पर
उनकी खातिर
तो नहीं चाहिए हमें उनका एहसान
उठा ले जाएँ वे अपनी व्यवस्था
ऐसा विकास नहीं चाहिए हमें ।[३]

नवगठित झारखण्ड राज्य की घोषणा की खबर सुनकर 'भाई मंगल बेसरा' कविता में भाई मंगल बेसरा को वास्तविक स्थिति से अवगत करवाते हुए सचेत कर पुतुल कहती है -

यह खुशी से नाचने का वक्त तो जरूर
है भाई मंगल बेसरा,
पर थोड़ा सुसताकर बहुत कुछ सोचने
का भी वक्त है यह।[४]

मैं तुम्हारी खुशी में विघ्न नहीं डालना चाहती। तुमने अपने स्वराज के लिए, सूदखोरी, शोषण, अत्याचार से मुक्ति के सपने के लिए बहुत संघर्ष किया। तुम कई बार गिरे, तुम्हें कई बार कमजोर बनाया गया फिर भी तुम उठ खड़े हुए। परन्तु तुम एक बात पर गौर करो कि जिनसे तुम मुक्ति चाहते थे यानि जो तुम्हारे विरोधी और दुश्मन थे। वह आज तुम्हारे शुभ-चिंतक बने हुए हैं। इनकी असलियत से अवगत कराती हुई पुतुल कहती है -

वही तुम्हारे मार्गदर्शक होंगे। नीति
निर्देशक होंगे वही
उन्हीं के हाथों में होंगी तुम्हारे मस्तिष्क
में खुलने वाले
तमाम कमरों की चाभियाँ।[५]

ऐसा होने पर निश्चित है कि -

उन्हीं के हाथों में होगा रिमोट
जब चाहेंगे बदल देंगे चैनल
और सब कुछ बदल जायेगा एक झटके में
हमारे चाहने न चाहने के बावजूद।[६]

कवयित्री उनकी असलियत से मंगल बेसरा को सचेत कराती हुई कहती है कि तुम पुरखों के सपने रौंदने वाले लोगों के पीछे मत दौड़ो। उन्हें पहचानो। इनके कई चेहरे हैं। ये बहुरूपिये हैं। वे तुम्हारे सपनों को खत्म करने वाले लोग हैं क्योंकि -

उनके ऐजेन्डे में दूर तक भी शामिल नहीं है
आन्दोलन को जन्म देने वाली आँखों के
सपने
वे कल तक पिछले दरवाजे से आते थे
तुम्हारी सभाओं में
अब सामने से आएँगे जेब में लाइसेंस
लेकर
और मंचासीन होंगे तुम्हारे सामने, साथ
होने का भरम देते हुए।[७]

इसलिए इन पर नजर रखना। निश्चिन्त होकर मत सो जाना। यह खुशी से नाचने का वक्त नहीं है। यह वक्त है -

बहुत कुछ कहने सुनने, करने और
गुनने का
कहो और पूरी ताकत से कहो जो
कहना चाहते हो तुम।
वर्ना पछताओगे एक दिन
बहुत कुछ बोलना चाह कर
कुछ न बोल पाने का दर्द भोगते।[८]

पुतुल भ्रष्ट व्यवस्था का पर्दाफाश कर उससे प्रभावित मनुष्य को जागृत ही नहीं करती बल्कि व्यवस्था के ठेकेदारों को भी सचेत करती है। इसे इनकी 'जो कुछ देखा-सुना, समझा, लिख दिया'

कविता में देखा जा सकता है। जहाँ पुतुल कहती है कि मैं कविता की परिभाषा नहीं जानती। छन्द, लय, तुक का मुझे कोई ज्ञान नहीं है और न ही शब्दों और भाषाओं में मेरी पकड़ है। मैंने जो कुछ देखा-सुना, समझा उसे लिख दिया। व्यवस्था के ठेकेदारों को सम्बोधित कर पुतुल कहती है कि तुम्हारी मर्जी है तुम इसे पढ़ो या न पढ़ो या इसे नष्ट कर दो। पर एक बात याद रखो -

फिर कोई आयेगा और लिखे-बोलेगा वही
सब कुछ
जो कुछ देखे-सुनेगा
भोगेगा तुम्हारे बीच रहते।[९]

मैं जानती हूँ -

तुम्हारे पास शब्द हैं, तर्क हैं, बुद्धि है
पूरी की पूरी व्यवस्था है तुम्हारे हाथों
तुम सच को झुठला सकते हो बार-बार
बोलकर
कर सकते हो खारिज एक वाक्य में
सब कुछ मेरा
आँखों देखी को
गलत साबित कर सकते हो तुम।[१०]

इतना होने पर भी पुतुल बेहतर कल की उम्मीद में निडरता तथा बुलन्द आवाज के साथ उनको आगाह कर कहती है कि इस बात को मत भूलो -

अभी पूरी तरह खत्म नहीं हुए
सच को सच
और झूठ को
पूरी ताकत से झूठ कहने वाले लोग।[११]

पुतुल को उम्मीद है कि भले ही परिस्थितियाँ कितनी भी विषम क्यों न हो। लोगों के जागृत होने पर एक दिन भ्रष्ट व्यवस्था जरूर समाप्त होगी और उसके स्थान पर स्वस्थ व्यवस्था जन्म लेगी । वह उस व्यवस्था को भेदने के लिए तैयार है जो लोगों की दयनीय दशा के लिए उतरदायी है ताकि शोषणमुक्त और वर्गविहीन समाज की नींव रखी जा सके। भ्रष्ट व्यवस्था के खिलाफ क्रांति का आह्वान इनकी कविता 'उतनी ही जनमेगी निर्मला पुतुल' में देखा जा सकता है। भ्रष्ट व्यवस्था और उससे प्रभावित मनुष्य का चित्रण करती पुतुल कहती है -

यह तो लगी है आग
इस छोर से उस छोर तक
तुम्हारी व्यवस्था में
उसमें जल रही हूँ मैं।[१२]

अपनी इस दयनीय दशा से मुक्ति का रास्ता तैयार करती पुतुल उस व्यवस्था के खिलाफ क्रांति करने को तैयार है जिसमें पल-प्रतिपल वह जल रही है। इन पंक्तियों में इसे देखा जा सकता है -

इसलिए चुप नहीं रहूँगी अब
उगलूँगी तुम्हारे विरूद्ध आग
तुम मना करोगे जितना
उतनी ही जोर से चीखूँगी मैं।[१३]

अब मैं डरकर टूटने बिखरने वाली नहीं हूँ। अब तुम्हारे पत्थरों से मेरा सिर नहीं फूटेगा बल्कि तुम्हारे हाथ के पत्थर चकनाचूर हो कर गिर जायेंगे। ताकत के साथ मुकाबला करने को तैयार पुतुल कहती है कि यदि इस जंग में मैं हार भी जाती हूँ तो घबराने की कोई बात नहीं है। क्योंकि अब मैं अकेली नहीं हूँ। इसलिए अब यह जंग और भी तेज होगी। ये पंक्तियाँ यही बयान करती हैं -

और अगर किसी तरह हारी इस बार भी
तो कर लो नोट दिमाग की डायरी में
आज की तारीख के साथ
कि गिरेंगी जितनी बूँदे लहू की धरती पर
उतनी ही जनमेगीं निर्मला पुतुल
हवा में मुट्ठी-बँधे हाथ लहराते हुए।[१४]

इसी तरह क्रांति की सोच इनकी कविता 'धीरे-धीरे' में देख सकते हैं। पुतुल स्पष्ट कहती है कि समय के अंधेरे को तोड़कर धीरे-धीरे चीजें साफ होंगी। ये पंक्तियाँ उदाहरण हैं -

जमीन की परतें तोड़कर फूटते अंकुर की
तरह
फूटेगा एक दिन हमारा असन्तोष
और भड़क उठेगी आग।[१५]

इस आग में सब कुछ भस्म हो जायेगा, कुछ भी नहीं बच पायेगा। गलियों में खेलते हुए बच्चों की ओर संकेत कर पुतुल कहती है कि एक दिन ये बड़े होंगे जिनमें से कुछ तो ऐसे जरूर निकलेंगे -

जो दौड़ेंगे समय की रफ्तार से भी तेज
अपने समय की बहती बयार के
खिलाफ।[१६]

यही नहीं एक दिन चुप्पी साधे हुए आदमी की भी चुप्पी टूटेगी और धीरे-धीरे उसके इरादे सख्त होंगे। उस समय की स्थिति को पुतुल ने इन पंक्तियों में शब्दबद्ध किया है -

और तनेंगी मुट्ठियाँ आकाश में
व्यवस्था के खिलाफ
भीतर ईजाद करते कई-कई खतरनाक
शस्त्र।[१७]

ऐसा होने पर हमारा विश्वास पक्का और बढ़ता जायेगा और हमारी कोशिशें कामयाब होंगी। उस समय की बदली हुई स्थिति से अवगत कराती पुतुल कहती है -

धीरे-धीरे उठेगा आखिरी पर्दा
और दिखेगा एक दिन सब कुछ
साफ-साफ
नाटक के पीछे चल रहा नाटक
और उसके पात्रों के असली चेहरे।[१८]

यह सच है कि यह सब जल्दी नहीं हो जायेगा। इसमें वक्त तो जरूर लगेगा। पर होगा जरूर क्योंकि -

कुछ भी एकाएक नहीं होता
जन्म लेने से पहले
गर्भ में पलते शिशु की तरह
सब कुछ पल रहा है समय की कोख
में।[१९]

पुतुल अपनी कविताओं के माध्यम से मनुष्य को इस भयावह समय से अवगत कराते हुए जागरूक करना चाहती है। 'मैं चाहती हूँ' कविता में पुतुल की कवयित्री की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि मैं यह नहीं चाहती कि तुम मेरी कविता को कविता मानो या मेरा नाम कवियों की सूची में शामिल करो। मैं यह नहीं चाहती कि इस कविता को कोई गाये या उस पर नाचे। मैं तो सिर्फ यह चाहती हूँ कि -

मेरे शब्दों की जमीन से
उगे कई-कई बिरसा मुण्डा
मेरे किसी वाक्य से तिलमिलाकर
पुनर्जीवित हो उठे
चौक पर पथराया सिदो-कान्हू
और तिलका के तने धनुष से
बरसने लगे बाण।[२०]

पुतुल चाहती है कि उसकी कविता के माध्यम से लोगों में अपने समय को देखने-परखने, पहचानने और महससूने की ताकत पैदा हो। वे हरकत में आये और बेबस लोगों को सहारा बने। ये पंक्तियाँ उदाहरण हैं -

आँख रहते अन्धे आदमी की
आँख बने मेरे शब्द
उनकी जुबान बने
जो जुबान रहते गूंगे बने देख रहे हैं
तमाशा।[२१]

पुतुल चाहती है कि मेरी कविता समाज में मौजूद विसंगतियों को पहचानने और उनसे लड़ने की ताकत पैदा करे। समाज में घटने वाली घटनाओं से चिंतित कवयित्री देखती है कि समाज में जो कुछ घटित हो रहा है, वह बिलकुल भी सुखद नहीं है। इसलिए अपनी कविता से सामाजिक परिवर्तन का धारदार हथियार बनाने की दिशा में प्रयासरत पुतुल इन पंक्तियों में कहती है-

> चाहती हूँ मैं
> नगाड़े की तरह बजें
> मेरे शब्द
> और निकल पड़ें लोग
> अपने-अपने घरों से सड़कों पर।[२२]

भ्रष्ट समाज और व्यवस्था से प्रभावित मनुष्य को जागृत कर तथा भ्रष्ट समाज और व्यवस्था के ठेकेदारों को सचेत कर क्रांति की सोच इनकी कविताओं में देखने को मिलती है। इन्होंने जो कुछ देखा, भोगा, सोचा और महसूस किया है उसे बिना किसी लाग लपेट के निडरतापूर्वक अभिव्यक्त किया है।

सन्दर्भ-संकेत

१. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, पृष्ठ ३३
२. वही पृष्ठ ३४
३. वही पृष्ठ ३५
४. वही पृष्ठ ५७
५. वही पृष्ठ ५८
६. वही पृष्ठ ५८
७. वही पृष्ठ ५६
८. वही पृष्ठ ५७
९. वही पृष्ठ ६५
१०. वही पृष्ठ ६५
११. वही पृष्ठ ६५
१२. वही पृष्ठ ६०
१३. वही पृष्ठ ६०
१४. वही पृष्ठ ६१
१५. वही पृष्ठ ८४
१६. वही पृष्ठ ८४
१७. वही पृष्ठ ८५
१८. वही पृष्ठ ८५
१९. वही पृष्ठ ८५
२०. वही पृष्ठ ६२-६३
२१ वही पृष्ठ ६३
२२ वही पृष्ठ ६३

गिरिराज किशोर की कहानियों में युग-चेतना

*डॉ. सुरेश फाकिर राव कानडे

'युग-चेतना' का तात्पर्य अपने समय के यथार्थ की पहचान है। वर्तमान समय में नई स्थितियों के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में कौन-कौन से नए मूल्य उभरे हैं, चिन्तन उभरा है, संबंध उभरे हैं और हमारे अनुभवों में कौन-कौन से नए आयाम जुड़े हैं तथा युगीन यथार्थ इनसे टकराकर कौन-सा नया रूप धारण कर रहा है। इन सबकी चेतना ही 'युग-चेतना' है।

आधुनिक काल में कहानियों की सबसे उल्लेखनीय विशेषता उनकी अन्तर्निहित युग-चेतना है। यों तो हर युग में साहित्यकार अपनी समकालीन स्थितियों से संचालित होता है, परन्तु इस युग में यह चेतना अधिक स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आयी है। प्राचीन काल में कहानियाँ पौराणिक संदर्भों को लेकर लिखी जाती थीं, परन्तु आधुनिक काल में कहानी का कथानक समकालीन युग-चेतना के धरातल पर आधुनिक संदर्भों से जुड़ गयी है। प्रेमचन्द युग में पहले-पहल युग-चेतना का साक्षात्कार होता है। प्रेमचन्द युग के उत्तरार्द्ध या अन्तिम चरण में ही आदर्श की मनोरम कल्पना का कुहासा छटने लगा था। साहित्यकार युगीन यथार्थ की भूमि पर उतरने लगे थे। इसलिए हिन्दी कहानी में युगीन यथार्थ की चेतना की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। स्वातंत्र्योत्तर युग में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक यथार्थ की युगीन चेतना की व्यापक अनुभूतियों को एक नई दिशा मिली- "आज का कोई भी कहानीकार जीवन के यथार्थ को अस्वीकार नहीं कर सकता, किन्तु उसे सही अभिव्यक्ति देने का प्रश्न जटिल है। जिन्दगी अनेक संदर्भों, स्थितियों और सीमाओं में सिमटी हुई दबती-उभरती आगे बढ़ रही है। परिवर्तन की गति का प्रभाव जिन्दगी के पूरे विस्तार पर पड़ रहा है।"

गिरिराज किशोर हिन्दी कथा साहित्य जगत में एक जाना माना नाम है। उनका सृजनात्मक कृतित्त्व इतना बहुआयामी और समृद्ध है कि निःसंदेह समकालीन हिन्दी साहित्यकारों में उनका स्थान अग्रिम पंक्ति में लिया जाता है। लगभग पैंतालीस वर्षों के प्रदीर्घ रचना प्रक्रिया में पन्द्रह उपन्यास, तेरह कहानी संग्रह, छः नाटक, एक एकांकी, सात निबंध संग्रह, एक संस्मरण तथा अनगिनत लेखों आदि का समावेश है।

गिरिराज किशोर की कहानियाँ युगीन चेतना व भारतीय जीवन की विसंगतियाँ और व्यवस्था के खोखलेपन को उजागर करने वाली हैं। गिरिराज किशोर के कहानी संग्रह इस प्रकार हैं- 'चार मोती बेआब' (१९६३), 'नीम के फूल' (१९६४), 'पेपरवेट' (१९६७), 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' (१९६९), 'शहर-दर-शहर' (१९७६), 'हम प्यार कर लें' (१९८०), 'जगत्तारिणी व अन्य कहानियाँ' (१९८१), 'लहु पुकारेगा' (१९८१), 'गाना बड़े गुलाम अली खाँ का' (१९८५), 'वल्द रोजी' (१९८९), 'यह देह किसकी है' (१९९२), 'आन्द्रे की प्रेमिका व अन्य कहानियाँ' (१९९८), 'हमारे मालिक सबके मालिक' (२००३)।

गिरिराज किशोर का लेखन काल सातवें दशक के प्रारंभ से ही होता है। उनके सभी कहानी

* प्रवक्ता, हिन्दी, एस. एम. आर. के. बी. के. ए. के. महिला महाविद्यालय, नासिक-5

संग्रहों में कालानुरूप सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ वर्णन है। सातवें दशक के भारतीय समाज का यह कालखण्ड स्वातंत्र्योत्तर भारत की समाज व्यवस्था के निषेध का काल था। इस काल में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुए, परन्तु समाज व्यवस्था में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए, जिसमें शासन व्यवस्था और भारतीय जनता के द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोधपूर्ण सम्बन्धों को देखा जा सकता है। साथ ही साथ शोषक व शोषित वर्गों का अन्तर्विरोध, व्यक्ति और समाज का अन्तर्विरोध, सामाजिक जड़ता और प्रगति की आकांक्षा का विरोध, सामाजिक यथार्थ सामाजिक चेतना के अन्तर्विरोध और परिवर्तनकारी और परिवर्तन विरोधी शक्तियों के अन्तर्विरोध थे। इन सबका यथार्थ चित्रण कहानी संग्रहों में हुआ है।

गिरिराज किशोर ने समाज के सभी अंगों पर कहानियाँ लिखी हैं किन्तु उनकी सामाजिक व राजनीतिक कहानियाँ अधिक चर्चित रहीं हैं। इसका मुख्य कारण सामाजिक व राजनीतिक सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति अधिक है। 'नया चश्मा', 'निमंत्रण', 'चूहे', 'गाऊन', 'परछाईयाँ', 'हरीलाल रोशनी' आदि उल्लेखनीय कहानियाँ है, इन कहानियों में गिरिराज किशोर ने यथार्थ परिवेश में व्यक्ति की स्पष्ट एवं स्वस्थ जीवन दृष्टि को अत्यधिक प्रभावशली ढंग से चित्रित किया है। "उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने तो उन्हें यथार्थ को पकड़ने और उसका उद्‌घाटन करने वाले सातवे दशक के अकेले कहानीकार कहा है।"

गिरिराज किशोर की कहानियों का मुख्य स्वर सामाजिक संघर्ष तथा मानवीय मनोवृत्तियों का स्वर है। उनकी दृष्टि केवल यौन कुंठाओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि जीवन के व्यापक संदर्भों की सफल अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। सामाजिक विषमताओं से घिरे मानसिक उलझनों में भटकते मानव-मन का सही चित्र इनकी कहानियों में सहजता से उभरा है। वातावरण की सत्यता अनुभव का निजत्त्व और तटस्थता उनकी अपनी विशेषताएँ हैं उनकी प्रमुख कहानियाँ- 'क्लर्क', 'रेप', 'चुहे', 'पगडंडियाँ', 'फ्रॉकवाला घोड़ा निकरवाला साईस', 'शीर्षकहीन', 'नायक', 'अलग-अलग कद के दो आदमी' इत्यादि हैं।

गिरिराज किशोर की कहानियाँ प्राथमिक रूप से इस बात का अहसास कराती हैं कि सन् ६० के बाद के कहानी लेखन में जो आरोप तथ्य तथा वैविध्यरहितता पर लगाया जाता है। इन आरोपों को गिरिराज किशोर की कहानियाँ तोड़ती हैं। इनकी कहानियों में तथ्य के स्तर की इतनी विविधता है कि लगता है कि, एक नितांत अलग अनुभव क्षेत्र की गहरी पहचान उनमें है। जैसे 'तिलिस्म', 'वी.आई.पी.', 'संगत', 'जिन्दगी के पीछे', 'ठण्डक' आदि कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर भारत के बदलते और भ्रष्ट होते सामाजिक, राजनीतिक वातावरण और 'स्वातंत्र्योत्तर नैतिक पतन से' ग्रस्त चरित्रों का अत्यन्त प्रामाणिक और प्रभावशाली चित्रण हुआ है।

गिरिराज किशोर की कहानियाँ अधिकांशतः मध्यमवर्गीय सामाजिक संघर्ष और मनोवृत्तियाँ को लेकर लिखी गयी हैं। जिनमें मूल्य विघटन का उद्‌घाटन किया गया है। प्रल्हाद अग्रवाल के शब्दों में- "इनकी कहानियों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है - एक वर्ग उनकी राजनीतिक कहानियों का है, जिसमें भ्रष्टाचार जनित व्यवस्था का चित्रण है। दूसरा वर्ग आधुनिक परिवेश के यथार्थ को चित्रित करने वाला है।" गिरिराज किशोर की 'पेपरवेट' कहानी बहुत चर्चित कहानी है इस कहानी में समसामायिक सामाजिक व राजनीतिक स्थिति का भयंकर यथार्थ व्यंग्य के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इसी प्रकार 'नया चश्मा' कहानी मंत्री पद के लालच में शिवजी भाई अपनी सारी ईमानदारी, समाज के प्रति अपना कर्तव्य भूलकर स्वार्थ के प्रति विवश हो

जाते हैं, इसी प्रकार 'तिलिस्म' कहानी की कुत्सित कार्यवाहियों से मनुष्य पात्र का समाज व राष्ट्र के प्रति विश्वास उड़ता दिखाई देता है, गिरिराज किशोर ने इस सामाजिक निर्ममता को हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

गिरिराज किशोर की कहानियों में पुरातनता और आधुनिकता का संघर्ष भी चित्रित है, इनकी कहानियों के पात्र विभिन्न मनोवृत्तियों के हैं, जैसे 'चूहे', 'क्लर्क' और 'गाऊन' कहानी के पात्र। इन कहानियों में पुरानी और नई पीढ़ियों के अंतर को चित्रित किया गया है। गिरिराज किशोर की कई कहानियों में परिवर्तित जीवन मूल्यों को चित्रित किया है। जैसे 'पगडंडियाँ', 'फ्रॉकवाला घोड़ा निकरवाला साईस' आदि। इसके साथ ही गिरिराज किशोर की कतिपय कहानियाँ आधुनिक परिवेश को दर्शाती हैं। 'रेप', 'चेहरे' इत्यादि कहानियाँ इसके अच्छे उदाहरण हैं। 'शहर-दर-शहर' कहानी संग्रह में महानगरीय जीवन के साथ चित्र, जिनमें घटनाएँ गौण और मनः स्थितियाँ प्रधान हैं। 'रिश्ता और अन्य कहानियाँ' लेखकीय तटस्थता, अनुभव की निजता और वातावरण की सजगता को उजागर करने वाली सशक्त कहानियाँ हैं।

'हम प्यार कर लें' कहानी संग्रह में वस्तुगत विविधता के बावजूद कुछ ऐसी एकरूपता है जो विभिन्न सामाजिक स्तरों पर जीते पाठकों को सहज मानवीय स्तर पर आन्दोलित करती हैं। इनमें चित्रित सामाजिक यथार्थ के निरूपण के लिए गिरिराज किशोर कोई विद्रोही मुद्रा अख्तियार नहीं करते, बल्कि व्यक्ति मन को परत-दर-परत खोलकर आज की आपा-धापी, यांत्रिक दबावों व कोलाहल की पड़ताल करना चाहते हैं। वस्तुतः रचना के कलात्मक मूल्यों को अनदेखा करके नहीं चला जा सकता। वैयक्तिक और सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने वाली रचनात्मक तटस्थता गिरिराज किशोर की खासियत बन चुकी है। इन कहानियों में आज के मध्यवर्गीय आदमी की, तकलीफों को प्रस्तुत किया गया है। "हम प्यार कर लें" जैसी रोमान्टिकता, 'ततैया' जैसी 'कचोट', 'ठण्डक' जैसी निरीहता अपनी पूरी जीवन्तता के साथ समाज के विविध पहलुओं को उजागर करती है तथा इसी बहाने मौजूदा व्यवस्था के बिगड़ते स्वास्थ्य की सांकेतिक अभिव्यक्ति करती है।

'गाना बड़े गुलाम अली खाँ का' कहानी संग्रह समाज के विविधता और मानवीय संघर्ष की व्यापकता को दर्शाता है। आज जब इन्सान अपनी संवेदना को सिकोड़ता है और आत्म केन्द्रित करता जा रहा है तब भी गिरिराज किशोर इस संग्रह की कहानियों के माध्यम से उसमें सामाजिक विविधता, संघर्ष की व्यापकता के दर्शन कराते हैं। उनके लिए मनुष्य और उसका संघर्षशील परिवेश, सर्वोपरि है। उनकी सहानुभूति प्रतिष्ठान को न मिलकर उस इन्सान को मिलती है। जो अपनी पहचान बनाने के लिए दिन-रात जूझ रहा है। गिरिराज किशोर ने सामाजिक यथार्थ, उसकी कुरूपताओं और स्वार्थी तत्वों को बेनकाब करने के लिए अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का उपयोग किया है। प्रल्हद अग्रवाल के शब्दानुसार- "इनकी कहानियों को पढ़कर लगता है कि आज का व्यक्ति सुविधापरस्त, मूल्यहीन व संवेदन शून्य हो गया है। प्राचीन व नवीन के संघर्ष में इन्होंने तटस्थता से काम लिया है, जहाँ आधुनिक व्यक्ति के प्रति पुराने लोगों की विवेकहीनता, असहनशीलता और क्षुद्रता प्रदर्शित की है, वहाँ युवा वर्ग के व्यवहार को सभी जगह उचित नहीं ठहराया है।"

सन् १९६५ के भारत-पाक युद्ध ने हमारी चेतना को झकझोरा, उसकी चरम परिणति सन् १९७१ के युद्ध के पश्चात हमारी मानसिकता में आये परिवर्तन के रूप में लक्षित होती है। "नई

स्थितियों में हमारी बदली हुई सोच को लेकर, आम आदमी को केन्द्र में रखकर कहानी लेखन को बढ़ावा दिया गया।" इस विवेच्य अवधि के कहानीकारों में गिरिराज किशोर अग्रणी स्थान पर थे। जिन्होंने यथार्थ बोध की व्यापकता को पकड़ने में रोमानी बोध के साथ-साथ रचनात्मक संघर्ष का प्रमाण दिया। गिरिराज किशोर ने मानवीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तित यथार्थ को तलस्पर्शी दृष्टि से ग्रहण कर सूक्ष्मता से इसका उद्घाटन करने का प्रयास अपनी लगभग सभी कहानियों में किया है। औद्योगिकीकरण, कम्प्यूटरीकरण के युग की नवनिर्मित स्थितियों, पूँजीवादी छल-छदम वर्गीय चेतना और उसकी सीमाएँ, पारिवारिक सन्दर्भ और तज्जनित नये समीकरण, गाँव में पारिवेशिक एवं वैचारिक परिवर्तन, दफ्तरी जीवन, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी आदि यथार्थ के विभिन्न पक्षों को व आयामों का वर्णन गिरिराज किशोर की कहानियों में प्रामणिकता व जीवन्तता के साथ व्याप्त है। इसके साथ इनकी कहानियों में राजनीतिक भ्रष्टाचार, पूँजीवादी-साम्राज्यवादी छत्रछाया में शोषक वर्ग की अंधाधुंध बढ़ोत्तरी, अपसंस्कृति, ईमानदार लोगों को असहाय और हताश कर देने वाले षडयंत्र, सामंतकारी उत्पीड़न, साम्प्रदायिक व वर्णाश्रम की अमानवीयता, नारी उत्पीड़न की नई स्थितियों का चित्रण गिरिराज किशोर के कहानी साहित्य में हुआ है। राजनीतिक अधःपतन के इस युग में गिरिराज किशोर की कहानियों में मानवीय आक्रोश चरम सीमा पर दिखाई देता है। इनकी कहानियों में ुपरा व्यंग्य, सामाजिक राजनीतिक तंत्र की ओर सीधे उंगुली उठाता है। गिरिराज किशोर अपनी जन पक्षधरता तथा मानवीयता को भावाकुल अथवा भाव प्रवण होने की अपेक्षा संवेदनशील समाज की ओर संकेत के रूप में व्यक्त करते हैं। गिरिराज किशोर की कहानियों का यथार्थ पूर्ववर्ती कहानियों की अपेक्षा अधिक अनुभव संवेद्य और व्यापक है। "अतः यह कहा जा सकता है गिरिराज किशोर की प्रमुख कहानियाँ यथार्थ का आलोचनात्मक पुनसृजन है। इनके अध्ययन से पाठकीय चेतना में तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक, परिवर्तनों की व्यापक छवि निर्मित होती है। इनकी कहानियाँ संस्कृति व मूल्य व्यवस्था को स्पर्श करने तथा किसी सीमा तक प्रभावित करने में सक्षम हैं। 'वल्दरोजी' कहानी संग्रह की सभी कहानियाँ इसके उत्तम उदाहरण है।

गिरिराज किशोर ने स्त्री-पुरूष सम्बन्धों का रेखांकन संयत रूप से किया है। रंजक, चटखारेदार और सेक्स के अतिरिक्त चित्रण की अपेक्षा तटस्थरूप से जीवन की सच्चाई को मूर्त रूप देने का प्रयास किया है। विवाहेत्तर स्त्री-पुरूष संबंधों का चित्रण उनकी 'फ्रॉकवाला घोड़ा निकरवाला साईस', 'शीर्षकहीन', 'पगडंडियाँ', 'धर्मग्रंथ', 'मवेशी', 'संगत', 'हँसी के पार', 'केस', 'परछाईयाँ', 'सिपाही का सत्कार' एवं 'हत्या' कहानियों में हुआ है। विवाहपूर्व स्त्री-पुरूष संबंधों का चित्रण 'और मैं थी', 'वह थी एक फाकता', 'आन्द्रे की प्रेमिका' आदि कहानियों में हुआ है। गिरिराज किशोर ने नैसर्गिक काम संबंधों को भी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। उनकी 'रिश्ता' और 'केस' कहानियाँ इस आशय को व्यक्त करती हैं। समलैगिंक काम संबंधों का चित्रण 'व गुलाब' एवं 'टेढीं मेढी संतरें' कहानियों में हुआ है। काम संबंधों की पाश्चात्य संस्कृति एक्सचेंज पद्धति उनकी 'नायक' व 'सिपाही का सत्कार' कहानियों में उभरी हैं।

गिरिराज किशोर की कुछ विशिष्ट कहानियाँ आधुनिक जीवन बोध को उजागर करने वाली हैं। जिनमें पाश्चात्य प्रभाव, अंग्रेजियत की हिमायत, प्रौद्योगिकी व विज्ञान और अनुसंधान के क्षेत्र में विदेश स्थानान्तरित हो जाने की प्रवृत्ति, अपने ही देश को हीनत्त्व की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति का चित्रण हुआ है। इसमें औद्योगिक

प्रतिष्ठानों, देश की महानतम शिक्षा संस्थाओं का जीवन्त परिवेश उसकी तमाम विशेषताओं के साथ प्रकट हुआ है। ये कहानियाँ हैं- 'विज्ञानी', 'अन्वेषण', 'यंत्रमानव', 'सौदागर हिप-हिप-हुर्रे', 'गाना वड़े गुलाम अली खाँ का' व 'इंटरनेट' आदि।

गिरिराज किशोर की कहानियों में वर्तमान जीवन में व्याप्त खोखलापन अजनबियत, संत्रास, घुटन, रिश्तों का टूटना, ऊब और बोरियत का अहसास आदि का यथार्थ चित्रण हुआ है। 'पहचान', 'तार द्वारा वापसी', 'अठन्नी का घिसता वृत्त', 'शहर-दर-शहर', 'चेहरे', 'पोलीसड़क', 'ठण्डक', 'विलायती कुत्ता', 'कलम काँटे और फूल' आदि कहानियों में बदलते मामाजिक मूल्यों तथा महानगरीय संस्कृति के हावी हो जाने से उत्पन्न, अकेलेपन व अजनबीपन का अंकन हुआ है। आधुनिक जीवन में उभरती ईश्वर के प्रति अनास्था 'एक ईश्वर की मौत' व 'पोली सड़क' कहानियों में चित्रित है। फिल्मी ग्लैमर्स के पीछे भागते अर्थहीन जीवन का अंकन 'एक अतिशयोक्ति पूर्ण स्थिती' कहानी में हुआ है। 'अंतहीन राहें', 'अकेला साथी' कहानियों में जीवन में प्याप्त बेगानापन गहराई के साथ चित्रित हुआ है।

गिरिराज किशोर की कहानियाँ समसामायिक भ्रष्ट राजनीतिक परिवेश के विद्रूप यथार्थ को प्रामाणिकता के साथ चित्रित करती हैं, साथ ही राजनीति के विभिन्न पहलुओं को बहुत बारीकी से हमारे सामने खोलती हैं। राजनीति में किसी मन्त्री का रूतबा किसी राजा से कम नहीं होता और मंत्री का पी.ए. मन्त्री से भी चार हाथ आगे होता है। पुलिस का बड़े से बड़ा अधिकारी भी उसके आगे पनाह मांगता है। 'अगवानी' कहानी में यह सच्चाई बेबाक ढंग से सामने आती है। सत्तारूढ पार्टी के भीतर उभरने वाले विद्रोही स्वरों का गला कैसे घोंटती है- 'नया चश्मा' और 'पेपरवेट' कहानियाँ इसका प्रामाणिक उदाहरण है। छुट्भैये नेता द्वारा अपने आदर्श नेता के हावभाव, रहन-सहन, बोलचाल और जीवनशैली को अपना कर कैसे खुद को गौरवान्वित महसूस करते हैं, 'वी. आई.पी.' कहानी पढ़ कर महसूस किया जा सकता है।

'तिलिस्म' कहानी में अपने नेता के साथ गए आम आदमी को विधानसभा क्यों तिलिस्म नजर आती है, वहां की कार्यप्रणाली और कार्यशैली को वह कैसे भौचक्क भाव से देखता है इस तथ्य को उद्घाटित करती है। 'निमंत्रण' कहानी में बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान किसी मन्त्री के आने पर उसके कार्यक्रम में सम्मलित होने के लिए कैसे-कैसे हथकण्डे अपनाते हैं, इसका चित्रण किया गया है। 'रेप' एक स्त्री के लिए मृत्यु का पर्याय होता है पर बुद्धिजीवी और नेता इसे किस ढंग से लेते हैं, इस घटना का कैसे फायदा उठाते हैं इसका चित्रण हैं।

दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों के लिए खोले गए नये-नये सरकारी विभागों में उनका कितना प्रयोग होता है, उनके उत्थान के नाम इन विभागों में उच्च जाति के लोग कैसे कुर्सियों पर काबिज हैं और इन कुर्सियों पर कैसे-कैसे हथकण्डे अपनाते हैं 'रघुनाथ कृपा' कहानी पढ़ कर कर जाना जा सकता है।

गिरिराज किशोर ने राजनीति के एक-एक पैंतरे को बहुत करीब से जाना समझा और अनुभव किया है। वे अपनी कहानियों में इन पैतरों के सूक्ष्म सूत्र खोलने के लिए हर तरह के शिल्प का इस्तेमाल करते हैं। फन्तासी शिल्प में कही गई कहानी 'घोड़ा चला ढाई घर' अफसरगिरी के लिए अफसर की कार्यशैली शतरंज के घोड़े की तरह होनी चाहिए। इसका चित्रण किया गया है।

राजनीति का सबसे कुरूप रूप साम्प्रदायिकता है। साम्प्रदायिकता के हथियार से

अंग्रेज इस देश को दो टुकड़ों में बांट कर चले गए। साम्प्रदायिकता के हथियार द्वार पूंजीवाद समाजवाद से सत्ताच्युत कर इस देश की सर्वोच्च सत्ता पर काबिज हो गये। साम्प्रदायिकता मनुष्य से उसका विवेक, उसकी चेतना, उसकी सोच और दृष्टि छीनकर उसे भेड़ और भीड़ में बदल देती है। साम्प्रदायिकता के इस महादानव से सिर्फ लेखक ही लोहा ले सकता है। इसका प्रमाण 'लालघर', 'अन्तर्दाह', 'आतंक', 'कभी न छोड़ो खेत', और 'अब फिर स्टेशन आयेगा' कहानियाँ हैं।

टिकट बंटवारे और मंत्रीपद पाने और उस पर बने रहने के लिए कैसी-कैसी तिकड़में की जाती हैं, कैसे-कैसे हथकण्डे अपनाये जाते हैं इसका आख्यान है 'प्रत्याशा' और 'मंत्रीपद' कहानियाँ है। 'प्रत्याशा' कहानी में रमला कहती है- सिद्धान्त छोड़ो, लोगों के काम करो, अपने काम कराओ और उसका इस्तेमाल करो। राजनीति में गलत सही कुछ नहीं होता। तुम्हारा अपना गुट होगा तो नेतृत्व भी डरेगा। उपरोक्त कहानियाँ जहां चुनाव में टिकट हासिल करने और मंत्रीपद पाने की कहानियाँ है वहीं 'ला मैंका' एक ईमानदार मंत्री और भूतपूर्व स्वतन्त्रता सेनानी के मंत्रीपद खोने और अपमान की गर्हित स्थितियों में ठेले जाने की कहानी हैं। दुनिया के ज्यादातर देशों पर अपनी आर्थिक और शस्त्रों की शक्ति द्वारा धौंसपट्टी व दादागिरी दिखाने वाले अमेरिका और अमेरिकन खुद मानसिक रूप से कितने कमजोर है 'हाईजैकर' कहानी इसका खूबसूरत बयान है।

वर्तमान राजनीति से उपजी निराशा व हताशा से उत्पन्न आक्रोश और विद्रोह की कहानी है 'बहुरूपी'। लेकिन इस विद्रोह की धार कितनी भोथरी है यह कहानी इस बात को भी खोलती है। 'ततैया' जहां दिशाहीन युवा विद्रोह की कहानी है वहीं 'वीरगति' रोटी और सुरक्षा के लिए किए गए संघर्ष की कहानी है। यूं तो संग्रह की हर कहानी राजनीति में घर कर गई चालाकी, धूर्तता और बेईमानी के बारीक से बारीक रेशे को उधेड़कर रख देती है, पर 'गाना बड़े गुलाम अली खाँ का' और 'चीख' कहानियाँ अपनी विषय वस्तु के कारण सबसे हट कर है।

'गाना बड़े गुलाम अली खाँ का' भाषा को लेकर हीन ग्रन्थिकता का शिकार आम पढ़े लिखे भारतीय की कहानी है। कहानी के नायक मिस्टर राव, जो आई.आई.टी. जैसे पूरी तरह से विदेशी भाषा और वातावरण वाले संस्थान में कार्यरत है। वे हाई क्लास अंग्रेजी से इतने प्रभावित है कि अंग्रेजी के प्रोफेसर मिस्टर राय का एक पत्र गलती से उनके ऑफिस में आ जाता है तो वे इसे मिस्टर राय से मिलने का एक सुअवसर मानकर पत्र को अपने पास रख लेते हैं। अति व्यस्तता के कारण वे मिस्टर राय को सूचित तो कर देते हैं पर पत्र पहुंचा नहीं पाते। मिस्टर राय अपना पत्र लेने मिस्टर राव के ऑफिस में आ धमकते है। उनके अंग्रेजी में डांट खाने के बावजूद उनके जाने के बाद मिस्टर राव के मुंह से बस यही शब्द निकलते हैं- 'उनकी अंग्रेजी वाह!'

'गाना बड़े गुलाम अली खाँ का' जहां हमारी भाषा की राजनीति की पोल खोलती है वहीं 'चीख' कहानी संचार माध्यमों पर राजनीति के दबाव का कच्चा चिटठा है। यह कहानी एक सच्ची घटना पर आधारित है, जो संभवतः दूरदर्शन पर कार्यरत हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध कवि के साथ घटित हुई थी। संचार माध्यमों की स्वायत्तता और निष्पक्षता के नाम पर सरकार ऐसे कार्यक्रम बनवाती है जिनमें मंत्री कार्यक्रम में उपस्थित दर्शकों से रूबरू हों उनके सवालों के जबाब देते हैं, पर कार्यक्रम रिकार्ड हो जाने के बाद मंत्री अपनी साफ सुथरी छवि के लिए रिकार्ड हुए कार्यक्रम की कैसे

काट-छांट करवाते हैं 'चीख' कहानी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह सच है कि राजनीति को लेकर गिरिराज किशोर की दृष्टि बहुत पैनी हैं। वे बीमारी का रूप ले चुकी राजनीति के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवाणु को अपनी सूक्ष्मदर्शी यन्त्र सरीखी दृष्टि से पकड़ लेते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि, गिरिराज किशोर मानवमन मस्तिष्क की और मनःस्थितियों की गुत्थियों को सत्यता के साथ चित्रित करने वाले कहानीकार हैं। परिवेश की सत्यता अनुभव का अपनापन एवं लेखकीय तटस्थता उनकी अपनी विशेषता है। उनकी कहानियों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, अन्तर्विरोधी, लालफीताशाही का घिनौना रूप, निम्नवर्गीय दलितों, शोषितों व उनका आर्थिक संघर्ष प्रामाणिकता के साथ चित्रित हुआ है। साथ ही अनिर्णयात्मक रूकी हुई स्थिति, स्त्री-पुरूष काम संबंध, महानगरीय जीवन बोध आदि का रेखांकन गहराई के साथ हुआ है। अतः गिरिराज किशोर का कहानी साहित्य युगीन-चेतना के साथ कथ्य एवं शिल्प की चेतना के विकास में उल्लेखनीय योगदान है। अर्थात गिरिराज किशोर की कहानियों में, समाज और मनुष्य तथा व्यक्ति और प्रतिष्ठान के बदलते रिश्तों को प्रामाणिकता से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है।

परिवेश-विस्तार

शेखर : एक जीवनी : एक मनोविश्लेषणात्मक आंकलन

*डॉ. लीना चौहान

शेखर : एक जीवनी आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध रचनाकार सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय की अद्वितीय रचना है। इस रचना में अज्ञेय ने एक साहित्यकार के रूप में ही नहीं अपितु एक बाल मनोविज्ञान के विद्वान के रूप में स्वयं को स्थापित कर दिया है। इस उपन्यास में रचनाकार ने शैशव काल से लेकर, किशोरावस्था तक के शेखर के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उसे प्रभावित करने वाले वातावरण का सूक्ष्म निरीक्षण कर साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं।

शेखर : एक जीवनी में रचनाकार ने सामान्य, असामान्य वातावरण का प्रभाव बाल-विकास पर दर्शाया है। परिवेश की सामान्य एवं विषम परिस्थितियों को शेखर किस रूप में ग्रहण करता है, वे परिस्थितियां उसके विकास क्रम में सहायक या बाधक होती हैं, ऐसी परिस्थिति किस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण करती है इन सभी तथ्यों का गहन विश्लेषण रचनाकार ने सफलतापूर्वक किया है। इसी आधार पर इसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि 'मनोवैज्ञानिक उपन्यास व्यक्ति के अचेतन मन का विश्लेषण कर उसकी समस्याओं को उद्घाटित करता है।

बाल मनोविज्ञान

बाल मनोविज्ञान के अन्तर्गत शिशु के जन्म से लेकर किशोरावस्था या युवावस्था तक के विकास क्रम का विश्लेषण किया जाता है। आयु के साथ निरन्तर विकसित होने वाली इकाई हैं - जिज्ञासा, अधिगम, कल्पनाशीलता, स्मृति, चिन्तन इत्यादि।

विकास जिस प्रकार आयु में होता है उसी अनुपात में इन अवस्थाओं का पटल भी वृहत होता जाता है। परिवेश से बालक जो कुछ सीखता है उसका स्पष्ट प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर लक्षित होता है। शेखर का बाल्यकाल जिन परिस्थितियों से आवृत्त रहा उन परिस्थितियों ने उसके व्यक्तित्व को भी प्रभावित किया।

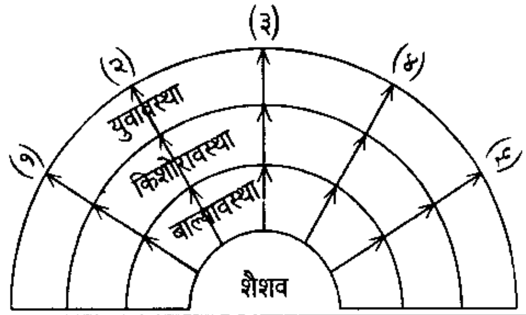

१. जिज्ञासा २. अधिगम ३. कल्पनाशीलता
४. स्मृति ५. चिन्तन

बाल मन का विकास क्रम

जिज्ञासा

एक बुद्धिमान बालक होने के कारण शेखर में सामान्य बालक से अधिक जानने की जिज्ञासा है। वह परिवार के प्रत्येक सदस्य की सहायता लेना चाहता है किन्तु उसके इस व्यवहार पर माता-पिता विशेष ध्यान नहीं देते -

१. शेखर ने गंभीर स्वर में कहा - 'ये मकान किसने बनाये ?' माता हंसी। बोली लोगों ने और किसने।

* रीडर हिन्दी विभाग, श्री रामेश्वरदास अग्रवाल कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हाथरस (उ. प्र.)

'ईश्वर ने तो नहीं बनाये ?'[२]

२. मरते कैसे हैं ?
मर जाते हैं और क्या
मर कर क्या होता है ?
पागल! जान नहीं रहती। चल फिर बोल नहीं सकते।[३]

न केवल परिवार के सदस्यों से पूंछ कर बल्कि स्वयं भी अनुभव कर शेखर अपने प्रश्नों के हल खोजने का प्रयास करता है -

३. शेखर कभी सांपों को छेड़ता, कभी सांप के पास निश्चल बैठ जाता और प्रतीक्षा करता कि सांप उसके ऊपर से निकल जाय ताकि उसे पता लगे कि सांप आगे कैसे सरकता है।

४. शेखर तू सोच। किसी से मत पूंछ। तू खुद सोच तू कहां से आया ? कैसे आया ?[४]

अधिगम

बच्चे की प्रथम शिक्षा है अधिगम। अपने परिवार तथा आसपास के वातावरण से वह निरन्तर सीखता रहता हैं इसे मनोविज्ञान की भाषा में अधिगम कहते हैं। बालक के लिए सर्वप्रथम गुरू रूप में सामने आते हैं माता पिता। उन्हीं के समान क्रियाकलाप वह स्वयं उन्हें अपना आदर्श मान कर करता है -

१. सड़क के सामने जो गोल-गोल लाल लेटर बॉक्स है। वह किसी तरह उस पर चढ़ गया और ऐसे सवार हो गया जैसे घोड़े पर सवार हो। उसकी खूँटी ऐसे पकड़ ली जैसे लगाम हो। घोड़े की गर्दन थपथपाने लगा। जैसे पिता को करते देखा है।''[५] पिता के समान स्वयं बनने के प्रयास में वह क्षमा माँगना या क्षमा प्रदान करना उचित कार्य नहीं मानता और यह पिता का गुण होने के कारण उसे अनुकरणीय मानता है।

२. वे कभी क्षमा नहीं करते। क्षमा छोटों को किया जाता है। क्रोध में वे छोटे को छोटा नहीं समझते।[७]

कल्पनाशीलता

शेखर स्वयं में खोया हुआ कल्पना लोक में निरन्तर नवीन कल्पनाओं का सृजन करता रहता है -

१. वह सम्राट है अपने विजयी घोड़े पर, लैटर बॉक्स पर बैठा है। इस आसन से वह सारा संसार देखता है और उसकी क्षुद्रता पर हँसता है।[८]

बाल्यकाल में सुनाई जाने वाली कहानियों कल्पनाशीलता के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं। अनेक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर बालक इन कहानियों के काल्पनिक पात्रों में खोजकर अपनी जिज्ञासा शान्त कर लेता है -

२. कहानी सुनते-सुनते शेखर सोचता - यदि ईश्वर है तो क्यों नहीं मुझ पर प्रकट होता। शायद मैं बहुत निर्बल और अयोग्य हूँ तभी मुझे ईश्वर का अनुभव नहीं होता।[९]

स्मृति

शिशु का प्रथम साक्षात्कार माँ से होता है। धीरे-धीरे पिता, भाई, बहन तथा अन्य स्वजनों को पहचानने लगता है। बाल्यकाल से दुलार प्यार जो उसे बड़ी बहन से प्राप्त हुआ वह धीरे-धीरे प्रेम में परिवर्तित होकर शशि और सरस्वती से प्राप्त हुआ। बाल्यकाल से युवावस्था तक ये मधुर स्मृति निरन्तर शेखर के साथ-साथ चलती रहीं।

१. शेखर देर तक फूल तोड़ता रहता है और उसकी माला बनाकर सरस्वती के गले में डाल देता है। प्रत्येक बार सरस्वती की स्वप्निल मुस्कान मुस्कुरा कर कहीं खो सी जाती है।[१०]

चिन्तन

बाल विकास के साथ-साथ चिन्तन का क्षेत्र भी विकसित होता रहता है। अत्यन्त छोटी अवस्था में भी शेखर का चिन्तन परिपक्व युवा पुरूष सा है -

१. अब लड़ाई खत्म हो गई तो चीजें मँहगी क्यों हैं ?

   ....

   जर्मनों ने मँहगी कर दी हैं ?

   ....

   वायसराय सस्ती क्यों नहीं कर देते ?[११]

शेखर के व्यक्तित्व का विश्लेषण

एक साधारण परिवार में सामान्य परिवेश में जन्मा शेखर एक अति मेधावी, संवेदनशील बालक है इसलिये जो सामान्य परिवेश की कमियाँ सामान्य बच्चों को प्रभावित सामान्यतः नहीं करतीं वे शेखर के व्यक्तित्व को अतिशय प्रभावित करती हैं। पिता के व्यवहार से उसे प्रतीत होता है कि वे उससे ईर्ष्या करते हैं क्योंकि पिता के लालन-पालन में अनुशासन और प्रेम का सही संतुलन नहीं है। माता से लगाव है किन्तु छोटी बहन के जन्म के पश्चात् माता का प्रेम भी उसे बँटा हुआ - अपूर्ण प्रतीत होता है। मन में अनेक प्रश्न अनेक जिज्ञासाएँ हैं जो घुटन का वातावरण उत्पन्न कर देती हैं। उसका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी हो जाता है। अन्तर्मुखी होने से उत्पन्न असुरक्षा तथा अन्य विकार इस व्यक्तित्व को और बढ़ा देते हैं व्यक्तित्व का चक्र इस प्रकार हो जाता है -

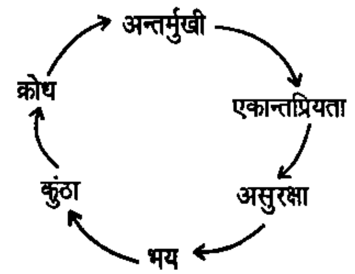

इस चक्र में बाल्यकाल में शेखर असुरक्षा के कारण अत्यन्त भयभीत होने लगता है -

१. शेखर अकेला अजायबघर में फिर रहा है। एकाएक उसके सामने बाघ प्रकट हो गया। भयंकर दाँत, आरक्त आँखें। वह रात को चीख-चीख उठता कभी जाग कर पाता कि कमरे में अंधेरा है तो अंधेरा एक नहीं अनेक बाघों से सजीव हो उठता।[१२]

२. वह दुबला और चिड़चिड़ा होता जा रहा है।[१३]

३. वह अकेला था, अनुभव कर रहा था कि मैं अकेला इसलिये हूँ कि पढ़ता नहीं हूँ, ढीठ हूँ, किसी का कहना नहीं मानता। मैं सबका भुलाया हुआ यहाँ अकेला खड़ा हूँ।[१४]

असामान्य परिवेश से शेखर का मानसिक विकास सुचारू रूप में नहीं हो पाता। अपनी कल्पना में यह युवा होने पर भी एक अबोध असुरक्षित बालक है जो शक्तिशाली सानिध्य का इच्छुक है -

४. मैं अपने आपको एक पाँच वर्ष के बालक के रूप में देखता हूँ। जो केवल एक नीला नेकर पहने भागा जा रहा है। बालक अपने कंधे पर बहुत से कमल लादे है।[१५]

बाल्यकाल से किशोरावस्था तक शेखर निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व से व्यथित रहता है। उचित मार्गदर्शन का अभाव रहता है -

५. कॉपी के ऊपर लिखी हुई एक लाइन लिखी थी उसे देखकर पुनः लिखने का प्रयास कर रहा था। आँखों के आगे थे कई खुले हुये मुँह कभी चन्द्र के, कभी शेखर के, कभी माँ के और उनके पास जलते हुये अंगारे। जब शेखर सोचता था चन्द्र का तो बदल कर माँ का मुँह हो जाता।[१६]

बाल्यकाल से युवावस्था तक समग्र रूप से

अवलोकन करने पर शेखर एक होनहार, सृजनशील तथा संवेदनशील बालक के रूप में प्रकट होता है। बाल्यकाल में पुस्तक लिखने का प्रयास सृजनात्मकता का परिचायक है किन्तु पिता द्वारा मज़ाक बनाये जाने पर यह सृजनात्मकता वहीं कुंठित हो जाती है विकसित नहीं हो पाती। परिवार में बड़े सदस्यों द्वारा सिखाये जाने वाले संस्कारों को भी शेखर तर्क की कसौटी पर परखना चाहता है और तुष्टि न होने पर विद्रोह करना प्रारम्भ कर देता है। तुष्टि का अभाव और बड़ों का तिरस्कार उसे आत्मकेन्द्रित बना देता है। समय के साथ उसका भावनात्मक सम्बन्ध सरस्वती से घनिष्ठ होता जाता है किन्तु सरस्वती का विवाह उसे खण्डित कर देता है 'तब से मुझे जान पड़ा कि मेरे मन के दो टुकड़े हो गये हैं। कभी-कभी मुझे ज्ञात होता है कि मेरे मन के दोनों खण्ड घोर युद्ध कर रहे हैं। मेरी चेतना पर राजस्व पाने के लिये बढ़ रहे हैं...'[७]

युवा होने पर शेखर अपने व्यक्तित्व के दोषों को यथासम्भव दूर करने का सफल प्रयास करता है किन्तु उसका बाल्यकाल भारत में जन्में होनहार बालकों में से अधिकांश का प्रतिरूप है जिन्हें व्यस्तता या अन्य कारणों से अनदेखा कर दिया जाता है। शेखर की असामान्य परिस्थिति उसके युवा व्यक्तित्व को प्रभावित अधिक न कर सकी किन्तु सामान्यतः बाल्यकाल का परिवेश आगामी व्यक्तित्व निर्माण में भी प्रभावी होता है और व्यक्ति के अचेतन अन्तर्मन में स्थाई रूप से विद्यमान रहता है।

पाश्चात्य देश में हिटलर के समय बंदी रह चुके सुप्रसिद्ध मनोविश्लेषक V. Frankle ने अपनी पुस्तक The Meaning of Life में विषम परिस्थिति में भी जिजीविषा जाग्रत रखने की ही नहीं अपितु जीवन का अर्थ, जीवित रहने का उद्देश्य - संस्कारहीनता के संरक्षण पर भी प्रकाश डाला है। उनकी अवधारणा Logo Threapy के नाम से बहुश्रुत है। इसके अन्तर्गत मनोविश्लेषक ने किसी सीमा तक आत्म कथ्य के रूप में विषम, दुरुह परिस्थितियों में मानव जीवन में आने वाले - भय, कुंठा, रिक्तता, दुर्भीति (Fobia) के परिणामस्वरूप आस्तित्विक मनोरोग (Existencial Neurosis) का कारण बन जाती है। रचनाकार ने अपने आत्मबल (Self-Confidence) से इनसे बाहर आने का तथा व्यक्तित्व-विकास (Personality Grooming) का मार्गदर्शन भी किया है। इस चिकित्सा पद्धति को Logo Threapy या Logo Theory भी कहते हैं।[८] अज्ञेय ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में V. Frankle के सिद्धान्त को शेखर के जीवन तथा जीवन प्रणाली पर आरोपित किया है जिसके द्वारा वह अपने बाल्यकाल की कुंठा, भय, असुरक्षा, विश्वास का अभाव इत्यादि विकारों को पराजित कर अपने व्यक्तित्व का बहुआयामी विकास कर लेता है।

उक्त रचना न केवल मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि के कारण अपितु मानसिक व्याधियों से मुक्त होने का मार्गदर्शन करने तथा उचित उपचार करने की दृष्टि से भी अत्यंत उपयोगी है। इसके लिये केवल जीवित रहने की अदम्य इच्छाशक्ति तथा संघर्षों से सामना करने के साहस की आवश्यकता है। समस्याएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं यह संदेश भी रचनाकार ने सफलता से दिया है।

पुस्तक संकेत

१. Peter Harriat (Editor) Approaches to Personality Theory - Page 30
२. डॉ. आभा रानी विष्ट - बाल मनोविज्ञान, पृ. ४७
३. शेखर : एक जीवनी, अज्ञेय, पृ. ४१
४. अज्ञेय : शेखर एक जीवनी, पृ. ४७
५. वही, पृ. ४८
६. वही, पृ. ६१
७. वही
८. V. Frankle, Meaning of Life, P. 123

ललित निबन्धकार के रुप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मूल्यांकन

*डॉ. शम्स आलम

भारत एक महान व अद्‌भुत देश है। ऐसा इस कारण से क्योंकि प्राचीन काल से लेकर आज तक भारत देश ने संसार के अन्य देशों की तुलना में अधिक वाह्य समस्याओं का सामना किया है। मगर इस उहापोह में भारतीय संस्कृति का आधार रूप या कहें कि मूलरूप यथावत् ही बना रहा। हालांकि एक भारतीय विशेष पर कुछ न कुछ विदेशी प्रभाव समय के तकाजे को दृष्टिगत रखते हुए अपरिहार्य रूप से पड़ा लेकिन आज भी एक सामान्य भारतीय किसी न किसी कोण से अपनी मूल संस्कृति से ही जुड़ा है। इसी तरह यह भी सत्य है कि भारतीय परिवेश में ही अन्य वाह्य संस्कृतियां भी समांगीकृत हो गईं और भारत विभिन्नता में ठोस एकता रखने वाला अखण्ड देश बन गया। जबकि अन्य देश अपनी संस्कृति का सर्वाधिक, शत प्रतिशत कहें तो सही होगा, तत्व रखने के बावजूद स्थायित्व के तत्व से काफी पीछे हैं।

निबन्ध शब्द का अर्थ यदि दृढ़ बन्धन अथवा बन्धन युक्त होता है तो ललित के साथ निबन्ध शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए। लालित्य और ललित दोनों इतने कोमल होते हैं कि वे भूषण भार सम्हालने में असमर्थ बिहारी की नायिका के समान बन्धन का काठिन्य सहन नहीं कर सकते -

भूषण भार सम्हारिहैं, क्यों ये तन सुकुमार।
सूधे पांय न धरि परत, सोभा ही के भार।।

ललित निबन्ध को परिभाषा की सीमा में बांधने का प्रयास डॉ. आर.पी. चतुर्वेदी ने इन शब्दों के द्वारा किया है - "ललित निबन्धों में 'पर' की अपेक्षा 'स्व' का महत्व अधिक रहता है। किसी विषय के स्पष्टीकरण या शास्त्रीय प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत कृतियां इन निबन्धों से अलग प्रबन्ध या लेख कही जायेंगीं। कभी-कभी इन विषय परक रचनाओं को अलग करने की दृष्टि से वास्तविक निबन्धों को 'ललित निबन्ध' भी कहा जाता है। 'ललित साहित्य' में साहित्य की वे सब कोटियां आयेंगी, जिनमें बोध पक्ष उतना प्रधान नहीं, जितना भाव पक्ष अर्थात् जिनमें बुद्धि की अपेक्षा हृदय को स्पर्श करने की सामर्थ्य अधिक है। गद्य और पद्य दोनों में ही ललित साहित्य की सृष्टि सम्भव है, शर्त है-लालित्य अर्थात् सौन्दर्यनिष्ठा।"[१] ललित निबन्ध की परिभाषा से पूर्व हिन्दी निबन्ध की परिभाषा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में जान लेना परम आवश्यक है- " व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि अनुभूति की प्रवृत्ति और लोकमान्य स्वरूप में कोई सम्बन्ध ही न रहे अथवा भाषा से सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के आसन करायें जायें, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा कुछ नही।"[२] गद्य के विकास काल में 'ललित निबन्ध' शब्द तो प्रचलित नहीं था, परन्तु पहला ललित निबन्धकार सरदार पूर्ण सिंह को माना जा सकता है।[३] डॉ. कैलाशचन्द्र शर्मा के शब्दों में- "निबन्ध अब भी अपने विकास क्रम में है। उसे किसी परिभाषा में आबद्ध करना न्यायसंगत न होगा और उसके

* प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, बी.वी.एम. (पी.जी.) कालेज, बाह (आगरा)

स्वरूप निर्धारण में भी पूर्णतः न्याय न हो सकेगा। समीक्षकों ने निबन्धों को विषय भाव और शैली की दृष्टि से विभाजित किया है और कुछ विद्वान निबन्ध का वर्गीकरण भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक तथा कथात्मक रूपों में करते हैं। अनुभूति प्रवणता एवं रसात्मक बोध वाले ऐसे निबन्ध जो सर्जनात्मक साहित्य की कोटि में आते हैं और जिनका इधर प्रचलन बढ़ा ही नहीं है, समादृत भी हुए हैं। ललित निबन्ध की कोटि में आते हैं।"[४]

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार- "ललित निबन्ध में उस वृत्ति की प्रधानता रहती है, जिसे भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में 'क्रीडनीयक' कहा है। विश्रांतिजनन अथवा विनोदकरण ललित साहित्य का अन्य हेतु कहा गया है। यह निश्चित है कि ललित साहित्य में कलात्मक, सौन्दर्य तत्व, कल्पना-विकास, भावना-परिष्कार आदि का महत्व अधिक है।"[५] विषयपरक गम्भीर विवेचनात्मक निबन्धों से ललित निबन्ध का माहौल भिन्न होता है। इसमें निबन्धकार का आत्मिक बोध प्रमुख रहता है। किसी अदना से विषय के साथ जुड़कर कभी वह संस्कृति की अतल गहराई में उतरता है, कभी लोकमानस की सहजता में रमण करता है और कभी एकदम नये अर्थ, नई छवि तथा अनुभूति का साक्षात्कार करता है। ललित निबन्ध की भाषा का भी तेवर तेजी से बदलता रहता है। कहीं तत्सम शब्दों की छटा, कहीं तद्भव एवं ग्रामीण शब्दों का ठाट और कहीं व्यंग्य से अन्तर को बेधने वाली पैनी धार निबन्ध की भाषा में दिखाई देती है। भारतेन्दु युग में लिखे गये निबन्धों की व्यक्ति निष्ठता, रोचकता तथा सजीवता में ललित निबन्धों का पूर्व रूप निर्मित हो गया था।[६] हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से इस परम्परा को एकदम नये रूप में ढाल दिया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी उच्च कोटि के निबन्धकार हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य के गहन अनुशीलन से उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया है उसे अपने व्यक्तित्व की सहजता से जोड़कर सुग्राह्य बना दिया। द्विवेदी जी की दृष्टि बड़ी पैनी है। उसमें सारग्राहणी शक्ति है। शुष्क से शुष्क विषय जो उन्हें जच जाता है बुद्धि और हृदय का योग पाकर सरस हो उठता है। पाठक उनके साथ संस्कृति की गहराई में उतरता जाता है और अमूल्य रत्नों को खोजकर लाता है बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान द्विवेदी जी चुटकी बजाते कर देते हैं। उनके विचारों, भावों तथा अभिव्यक्ति में कहीं भी उलझन नहीं रहती। निबन्धों के बीच मानवीय जिजीविषा, शक्ति और विकास की ललक परिलक्षित होती है।[७] विचारों के अनुकूल भाषा का प्रयोग द्विवेदी जी की विशेषता है। लालित्य इनके निबन्धों का प्रधान गुण है। साहित्य, संस्कृति और भाषा की समस्याओं पर आपने अनेकों श्रेष्ठ निबन्ध लिखे हैं। द्विवेदी जी अपने निबन्धों में जैसे गम्भीर और प्रौढ़ विचारों का प्रयोग करते हैं, भाव का वैसा ही सौन्दर्य तथा भाषा की वैसी ही सुन्दरता उनके निबन्धों में दृष्टिगोचर होती है। निबन्धों में विषयानुसार शैली का प्रयोग करने में द्विवेदी जी को अद्भुत क्षमता प्राप्त है। शैली के अनुसार ही संस्कृत के तत्सम शब्दों से लेकर ठेठ ग्रामीण जीवन के शब्दों का प्रयोग इनके शिल्प सौन्दर्य में वृद्धि करता है। विषयगत विविधता द्विवेदी जी के निबन्धों को सर्वत्र प्राप्त है। विविध विषयों से सम्बन्धित निबन्ध आपके 'अशोक के फूल' 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'मध्यकालीन धर्म साधना', 'कुटज' आदि निबन्ध संग्रहों में संग्रहीत है तथा जो हिन्दी निबन्ध साहित्य की अक्षयनिधि है।

पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में वे सभी विशेषताएं पायी जाती हैं जो ललित निबन्ध के लिए अपेक्षित हैं। व्यक्तित्वाभिव्यंजन से लेकर पाण्डित्य की धाक जमाने और भाषा एवं पद-संघठन

के क्षेत्र में रेशमी धागों से बुनी सुषमा के दर्शन कराने का श्रेय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को दिया जा सकता है। द्विवेदी जी के निबन्धों में विचार, भाव एवं भाषा का अद्‌भुत समन्वय देखा जाता है। इस विषय में डॉ. हरिनाथ द्विवेदी ने लिखा है- "द्विवेदी जी ने निबन्ध को न केवल पूरी सहायता से अपनाया है, बल्कि इसे शून्योच्छ्‌वासों या प्रत्ययपरक चिन्तन से मुक्त रखा है। विचारों की जैसी प्रौढ़ता, भावों का वैसा ही विलास तथा भाषा का भी वैसा ही शिल्पगत वैभव उनके निबन्धों में देखने में आता है।"[८] द्विवेदी जी को हिन्दी निबन्ध जगत में वही स्थान प्राप्त है जो उपन्यास जगत में प्रेमचन्द जी को। इनके निबन्धों में गुरूता, ऋजुता एवं विनोद प्रियता की त्रिवेणी लहराती प्रतीत होती है आपके निबन्धों में एक ओर यदि सनातन वाङ्‌मय का मन्द गम्भीर स्वर सुनाई पड़ेगा तो दूसरी ओर से संस्कृत के सुकुमार काव्यों जैसा शब्द शिल्प-माधुर्य रस घोल देता है।

द्विवेदी जी का निबन्ध साहित्य भारतीय सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न है। उन्होंने संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन कर वर्तमान को नव चेतना का संदेश दिया है। 'जीवेम शरदः शतम्'[९] निबन्ध भी सांस्कृतिक परम्परा का निबन्ध है। लेखक ने उपनिषद की प्रार्थना जीवेम शरदः शतम् कि 'मैं सौ वर्ष तक अदीन होकर जीता रहूं' को निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय बनाया है। इस निबन्ध के माध्यम से अतीत और वर्तमान का समाज प्रतिबिम्बित हो रहा है। वर्तमान का मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा तो करता है परन्तु अतीत के मनुष्य के समान वह उद्यम नहीं करना चाहता। वर्तमान पीढ़ी आलस्य और प्रमाद के कारण दैनिक कार्य प्रणाली को वैज्ञानिक रूप देने में असमर्थ रही है। यह निबन्ध शिक्षाप्रद होने के साथ-साथ वर्तमान पीढ़ी को प्रोत्साहित करने वाला है। इस निबन्ध में लेखक ने मानव जीवन का उद्‌देश्य, दृढ़ कर्म-शक्ति की आवश्यकता, संयम एवं इन्द्रिय निग्रह पर बल, भ्रष्टाचार एवं चरित्र-हीनता पर प्रकाश, सामूहिक शक्ति पर बल आदि को रेखांकित किया है।

'शिरीष के फूल'[१०] निबन्ध में द्विवेदी जी ने गहन चिन्तन, प्रखर पाण्डित्य और सांस्कृतिक चेतना का परिचय दिया है। इसमें उन्होंने प्राकृतिक परिवेश के सूक्ष्म निरीक्षण और ऐतिहासिक सन्दर्भों का गहन अनुशीलन प्रस्तुत किया है। 'शिरीष के फूल' की गणना द्विवेदी जी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धों में की जाती है। इसमें लेखक के गहन चिन्तन, मनन और कलात्मक भाव बोध का दर्शन होता है। इसमें भावुकता, गम्भीरता और वचन वक्रता का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है। यहां निबन्धकार की बहुमुखी प्रतिभा और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का अपूर्व विन्यास है। शिरीष के फूल के माध्यम से उन्होंने अपने व्यक्तित्व की व्यापक अभिव्यक्ति की है। वैयक्तिकता के भाव ने निबन्ध में तादात्म्य और गहनता का समावेश करा दिया है इस निबन्ध में प्रकृति-प्रेम, मानवतावाद, सांस्कृतिक बोध, साहित्यिक चेतना और युग चेतना का दुर्लभ संयोग घटित हुआ है। लेखक के कवि हृदय की भी यहां पग-पग पर अनुभूति होती है। उन्होंने संस्कृत साहित्य का गहन अनुशीलन कर शिरीष के फूल के विषय में जो तथ्य उपस्थित किये हैं, वे उनकी गवेषणात्मक दृष्टि के संकेतक हैं। स्थान-स्थान पर दार्शनिक चिन्तन के पुट ने निबन्ध को पर्याप्त गहनता प्रदान की है। भाषा की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट निबन्ध है। लालित्यपूर्ण भाषा-शैली के कारण निबन्ध पठनीय और चिरस्मरणीय हो गया है।

'भारतीय संस्कृति की देन'[११] नामक निबन्ध में लेखक ने भारतीय संस्कृति के यथार्थ रूप को वैज्ञानिक रीति से हमारे सामने प्रस्तुत किया है। संस्कृति को सार्वजनीनता का पक्ष दिखाकर एक

अमूल्य विश्व संस्कृति की झांकी इसमें दी गयी है। भारत वर्ष की संस्कृति का व्यक्तित्व देश और काल की सीमा लाँघने वाला है। चित्तवृत्तियों के संस्कार के द्वारा जीवन की वास्तविकता को समझ लेना ही हमारी संस्कृति का लक्षण है। हमारा साहित्य भी इस विचार धारा से अनुप्राणित है। दुनिया का उद्धार भारतीय संस्कृति के उद्धार और प्रसार में निहित है। पाशविकता की जगह अंहिसा और प्रेम का स्त्रोत भारत वर्ष ने ही प्रवाहित किया है। अतएव यहाँ का प्रत्येक परमाणु "लोकाः समस्तः सुखिनो भंवतु" से मुखरित है। भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य यही है।

द्विवेदी जी द्वारा रचित 'कुटज'[१२] ललित निबन्ध है, जिसे भावात्मक एवं चित्रमय शैली में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने 'कुटज' नामक पर्वतीय पौधे के बहाने मानव के जीवन के लिए आदर्श संदेशों की खोज की है। अपने आस-पास की प्रकृति, फूलों, वृक्षों के जैसे जीवन्त रूप में द्विवेदी जी ने देखा और उसके महत्व की व्याख्या की है, वह आधुनिक पर्यावरण सजगता को पूरी तरह पूर्वाशित करता है।

'देवदारू'[१३] द्विवेदी जी का एक आत्मपरक ललित निबन्ध है। इसमें सरसता, भाव-प्रवणता, रोचकता, पाण्डित्य, मन की उन्मुक्तता और ज्ञान की अगाधता विद्यमान है। इस निबन्ध में एक ओर संस्कृत साहित्य की विपुल ज्ञान राशि छितराई है तो दूसरी ओर लोक जीवन की सरसता भी विद्यमान है।

यही कारण है कि निबन्ध की भाषा एक ओर संस्कृतनिष्ठ है तो दूसरी ओर लोकभाषा के शब्दों के प्रयोग निपरवाह हुए हैं।

द्विवेदी जी के निबन्धों में विषय-निरूपण पद्धति सम्बन्धी विशेषताओं का आकलन करते समय निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं -

(१) निजी जीवन के अनुभवों से सम्बद्ध प्रसंगों की अवतारणा
(२) कौतूहलपूर्वक शीर्षक से प्रारम्भ
(३) विषय के जटिल गूढ़ प्रसंगों का धीरे-धीरे प्रकाशन
(४) विचारों की एकतानता (अंत तक आते-आते) का आभास
(५) सम्पूर्ण विषयों का सम्पूर्ण बिम्ब-निर्माण
(६) आवश्यकता पड़ने पर शास्त्र-चर्चा, किन्तु दुरूपयोग नहीं।

द्विवेदी जी का भाषा पर असाधारण अधिकार है। व्यावहारिकता को दृष्टि में रखते हुए आपने प्रायः उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी निस्संकोच प्रयोग किया है। वाक्यों में कसाव है तथा कहीं भी शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। द्विवेदी जी की शैली में पर्याप्त मौलकता ही उसमें कठोरता के स्थान पर सहजता तथा सहानुभूति है। आपके ललित निबन्धों की भावात्मक शैली में वाक्य छोटे एवं भाषा सरल होती है किन्तु विवेचनात्मक अथवा तार्किक शैली का जहां भी प्रयोग हुआ है, वाक्य अपेक्षाकृत लम्बे तथा भाषा क्लिष्ट होती गई है।

द्विवेदी जी के ललित-निबन्ध गद्य गीत का आनन्द तो देते हैं, उनमें भारतीय दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष एवं पुराणों का सार भी भरा रहता है। ललित निबन्ध प्रायः भाषा को खिलौना बनाकर लिखे जाते हैं, पर द्विवेदी जी ने गम्भीरता, वैज्ञानिकता, भारतीयता आदि की रक्षा करते हुए ललित निबन्धों की रचना की है और भाषा को दुर्बोध नहीं होने दिया है। संस्कृत का गम्भीर अपवाद द्विवेदी जी की विचारधारा को संकुचित करने में सफल नहीं हुआ है। अपने ललित निबन्धों में द्विवेदी जी ने तार्किकता के साथ आधुनिकता, वैज्ञानिकता एवं भारतीयता का सफल तथा आशयर्चजनक निर्वाह किया है। वे अपनी

विद्वता को पाठक के लिए आतंक नहीं बनने देते। लगता है कि कोई अधिक जानकार सहयात्री मेरे विचारों और भावों को सम्पन्न बनाता हुआ अग्रसर हो रहा है। लेखक का पाठक से कहीं साथ नहीं छूटता है चाहे वह विचारों की गहनता हो, अनुसंधान का रूझान हो अथवा भाषा की तरंग हो।

वस्तुतः हम कह सकते हैं कि उच्च स्तरीय ललित निबन्धकारों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मूर्धन्य स्थान है। उनके निबन्ध अनेक विधाओं के ज्ञान के भण्डार हैं। इनमें इतिहास, पुरातत्व, ज्योतिष, दर्शन और शास्त्रों का सुगम सार-संग्रह है। इनमें ज्ञान गरिमा के साथ लालित्य का उन्होंने अद्‌भुत योग किया है। देश-प्रेम और मानव-प्रेम का व्यापक चित्र उनके साहित्य के पटल पर अंकित है। निश्चय ही ललित निबन्ध के क्षेत्र में वे युग प्रवर्तक लेखक हैं।

संदर्भ सूची

१. डॉ. आर.पी. चतुर्वेदी - ललित निबन्ध चौथा संस्करण १९८९, पेज २३७

२. डॉ. रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, ३५वां संस्करण सं. २०५८ वि., पेज २७६

३. डॉ. तिलकराज शर्मा - निबन्ध सरोज - ८वां संस्करण, वर्ष २०००, पेज ८३

४. डॉ. कैलाशचन्द्र शर्मा - नव निबन्ध तीसरा संस्करण १९९५, पेज ५६

५. हिन्दी साहित्य कोश - पेज १२८

६. डॉ. रामकिशोर शर्मा - हिन्दी साहित्य का इतिहास तृतीय संस्करण, पेज ४०७

७. डॉ. नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास, वर्ष १९९४, पेज ६६३

८. डॉ. हरिनाथ द्विवेदी - सिद्धान्त और प्रयोग तीसरा संस्करण १९९३, पेज ७९

९. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - जीवेम शरदः शतम् - नामक निबन्ध

१०. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - शिरीष के फूल - नामक निबन्ध

११. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - भारतीय संस्कृति की देन - नामक निबन्ध

१२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - कुटज - नामक निबन्ध

१३. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - देवदारू - नामक निबन्ध

चिंतन धारा

आलोचना एक विहंगम दृष्टि

*डॉ. चन्द्रमा सिंह

आलोचना की अर्थव्यंजना के लिए हिन्दी में तीन शब्द व्यहृत किये जाते हैं - आलोचना, समालोचना और समीक्षा। स्थूल दृष्टि से देखने पर तीनों शब्द समानार्थक हैं। परन्तु तीनों में सूक्ष्म भेद हैं। 'आलोचना' शब्द लोच (जिसे पाणिनि ने अपनी पारिभाषिक शब्दावली में लोचृ लिखा है) से बना है - आ + लोचृ + अन + आ = आलोचना, अथवा आ + लोचृ + ल्युट (अन) = आलोचना। लोच या लोचृ का अर्थ है देखना। इसलिए किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है। 'आ + समन्तात लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम् आलोचना।' आलोचना किसी कवि या लेखक की कृति देखता या परखता है। परीक्षा का अर्थ भी चारों ओर से देखना हैं। (परितः ईक्ष + परीक्षा) आलोचना कवि या लेखक और पाठक के बीच की शृंखला है। राजशेखर ने कवि कर्म को प्रकाश में लाना ही भायित्री प्रतिभा अथवा आलोचक की प्रतिभा कहा है। आलोचना शब्द की एक और व्युत्पत्ति है - लुच्यते अनेन इति लोचनमा का व्युत्पति का मतलब गुण विवेचन या दोषनुसंधान ही लगा लेते हैं।

इसी दोष से मुक्ति के लिए उपसर्ग सम् जोड़ा गया है समालोचना का संतुलित दृष्टि से कृति के गुण-दोष की विवेचना है। 'अन्तर्भाष्य अवान्तरार्थ विच्छेदाय समीक्षा।' समीक्षा का अर्थ है - जिसमें रचना की अन्तर्व्याख्या और अवान्तरार्थों का विच्छेद किया गया है आजकल आलोचना तथा समालोचना का ही प्रयोग अधिक होता है।

अंग्रेजी शब्द क्रिटिक का भी माने है-टु सेपरेट यानि अलग करना। इससे निर्णय की बात का पता चलता है। पाश्चात्य देशों में भी साहित्यगत-गुण-अवगुण का जानना तथा समाज को उसका बोध कराना आलोचना का ध्येय माना गया है। क्रोचे की तरह जे. ई. स्पिनगार्न में आलोचना का इस बात का अनुसंधान करना माना है कि लेखक ने क्या अभिव्यक्त करने की कोशिश की है तथा वह उसे अभिव्यक्त करने में कहाँ तक कामयाब हुआ।"[1]

कार्लाइल ने भी कुछ ऐसा ही मत प्रकट किया है। उन्नसवीं शताब्दी के विक्टर ह्यूगो का अभिमत है कि कृतित्तम है या अनुत्तम्, इस बात की खोज करना ही आलोचना का काम है। परन्तु यह परिभाषा अपूर्ण समझी जाती है। आलोचना का इतिहास विश्व की परिवर्तनशील अभिरूचि का इतिहास है लेकिन आलोचना को केवल अभिरूचि से जोड़ना अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका नामक महाकोश में लिखा है - "आलोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण-दोषों की परख करना है, चाहे वह परख साहित्य के क्षेत्र में की गई हो या ललित कला के क्षेत्र में। इसका स्वरूप निर्णय में समाविष्ट है। मैथ्यू आर्नाल्ड का कहना है - "आलोचक को तटस्थ-भाव से वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अनुभव और प्रचार करना चाहिए। आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है तटस्थता। वस्तु की स्वरूप की जिज्ञासा ही उसे आलोचना मार्ग में प्रवृत्त

* प्राध्यापक, हिन्दी श्री शंकर कॉलेज, सासाराम (बिहार)

करती है।"[३] प्रभाववादी समालोचक कार्लाइल लिखते हैं - "आलोचना पुस्तक के प्रति उद्भुत आलोचक की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम है।"[३] जितनी प्रकार की आलोचनाएँ हैं, उतनी ही प्रकार की समालोचना परिभाषा भी बन सकती है। दृष्टिकोण भेद के कारण आलोचना की परिभाषा में भी अन्तर आना स्वाभाविक है।

रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि - "किसी कवि की आलोचना कोई इसीलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने का सहारा मिले। इसलिए नहीं कि आलोचना भाव भंगी और सजीले पद विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।"[४] इस अभ्युक्ति से भी पता चलता है कि आलोचना काव्यार्थ को अनावृत्त करती है तथा पाठक को कविता निहितार्थ समझने में सहयोग करती है। बाबू श्यामसुन्दर दास के शब्दों में - "साहित्य क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों की विवेचना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।"

सोवियत समालोचक व्रोल्युबॉव आलोचना के सन्दर्भ में लिखते हैं- "आलोचना अदालत में मुकदमें पेशी वाली आलोचना नहीं, वरन् सहज साधारण आलोचना केवल एक इसी कारण से लाभप्रद है कि वह उन लोगों को जो साहित्य पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करते, लेखक के कृतित्व का सार तत्व प्रदान करती है और ऐसा करके उन्हें इस योग्य बनाती है कि वे लेखक की कृतियों के चरित्र तथा महत्व को समझने में समर्थ हो सके।"[५] इस अभिकथन से भी यही स्पष्ट होता है आलोचना साहित्यतार्थ को उद्घाटित करती है।

हर प्रगतिवादी समालोचक ने भी आलोचना को अपने ढंग से पारिभाषित किया है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं- "ऐतिहासिक भौतिकवाद कुछ अमूर्त सिद्धान्तों का संग्रह नहीं है, वह मानव समाज के इतिहास का मूर्त ज्ञान है। वैसे ही प्रगतिशील आलोचना किन्हीं अमूर्त सिद्धान्तों का संकलन है, वह साहित्य की परम्परा का मूर्त ज्ञान है और यह ज्ञान उतना ही विकासमान है, जितना साहित्य की परम्परा। यांत्रिक और रचनात्मक समीक्षा का अन्तर स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं - "हर अच्छी आलोचना मूलतः नये ढंग से रचनात्मक होती है तो कुछ नया अनुभव नई दृष्टि लेकर आती है और अगर आलोचना ऐसी नहीं करती, वह केवल पुराने प्रतिमानों को या नये प्रतिमानों को कविता पर लागू करती जाती है, मेरी दृष्टि से वह आलोचना यांत्रिक है, वह रचनात्मक आलोचना नहीं है।"[६] इससे स्पष्ट होता है कि समालोचना भी एक साहित्यिक सृजन है। जैसे डॉ. रामविलास शर्मा आलोचना को विकास समानता से जोड़ते हैं वैसे ही अमृत राय भी गतिक्ता से जोड़ते हैं। उन्होंने लिखा है- "मार्क्सवादी आलोचना साहित्य वह समाज शास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के सम्बन्ध में उद्घाटन करती है।"[७]

साहित्य में रूढ़िवादी तथा प्रगतिवादी दोनों तरह से पात्र हो सकते हैं। दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा दोनों के संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं : "अपने सृजनात्मक रूप में आलोचना कर्म मूलतः व्यक्तिगत प्रयास है, क्योंकि किसी कृति सम्बन्धी प्रत्येक सच्ची प्रतिक्रिया वैयक्तिक ही होती है। कृति जो अनुभव दे जाती है और अनुभव विचार क्रम में जिस निर्णय का रूप लेता है, वह प्रथमतः वैयक्तिक ही होता है। यदि आलोचना में यह वैयिक्तकता न हो तो युग-युगान्तर तक किसी कृति का एक ही अर्थ और मूल्य बना रहे, न उसमें निहित नए-नए अर्थ-स्तरों का उद्घाटन हो और उन अर्थों के आधार पर पुनर्मूल्यांकन ही संभव

हो।''[८] व्यक्तिगत प्रयास समीक्षक को सृजन से जोड़ेगा ही। अगर समालोचना में रचनात्मकता न हो तो फिर पुनर्मूल्यांकन की संभावना ही नहीं रहेगी। इसलिए प्रत्येक आलोचना की अपनी एक विशेषता होती है। सिंह जी आलोचना को भी एक वैचारिक संघर्ष ही मानते हैं। आप लिखते हैं कि - ''यदि आलोचना निष्क्रिय रसास्वादन नहीं बल्कि सक्रिय मूल्यांकन है तो यह भी निश्चित है कि प्रत्येक मूल्यांकन एक वैचारिक संघर्ष है.......... यदि जिन्दगी में रोटी का हर टुकड़ा एक संघर्ष की उपलब्धि है तो किसी कृति से प्राप्त आस्वाद का हर क्षण भी संघर्ष का ही फल है। यही संघर्ष आलोचना की भाषा को जीवंतता प्रदान करता है।''[९] डॉ. सिंह काव्यार्थमीमांसा तथा मूल्यांकन को आलोचना का केन्द्र मानते हैं।

निष्कर्षतः उपर्युक्त परिभाषाओं का परीक्षण करते हुए कहा जा सकता है कि- आलोचना साहित्य का एक यथार्थ दर्शन है, जो साहित्य की व्याख्या करता है, विश्लेषण करता है तथा मूल्यांकन भी करता है। वह साहित्य के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के सन्दर्भ में भी स्व-स्थापना प्रस्तुत करता है। सैद्धान्तिक समालोचना जहाँ साहित्य की परिभाषा साहित्य का सारोकार उसकी विविध विधा, उसका लक्ष्य, उसका सौन्दर्य, उसका रूप और वस्तु तथा अभिव्यक्ति कला पर विचार करती है, वहाँ व्यावहारिक समालोचना रचना की विवेचना करती है, अर्थ मीमांसा करती है, प्रासंगिकता का प्रकाशन करते समय साहित्य के महत्व को प्रदर्शित करती है। साहित्य जीवन का पुनर्सृजन है तो समालोचना साहित्य का भी एक पुनर्सृजन ही है।

समालोचना साहित्य की एक गंभीर विधा है। इसकी अपनी कुछ सीमाएँ हैं। समालोचनाकार कृति-अनुशीलन से कुछ संवेदना कुछ अनुभव कुछ बोध प्राप्त करता है, फिर ये तमाम चीजें उसके मास में घुल-मिल जाती हैं, उसी तरह से जैसे जमीन में कुछ चीजें पड़ जाती हैं। रचना से प्राप्त अनुभूति तथा संज्ञान बीज के सदृश्य होता है जो अपनी तरह परिवेश पाकर विकसित रूप में पुनः कुछ सृजन करता है। समालोचना तथा भावात्मक तथा वैचारिक प्रतिक्रिया नहीं है। इसका क्षेत्र और अधिक है। लेकिन उस प्रतिक्रिया में व्यक्ति का अपना अनुभव ज्ञान भी मिल जाता है। दो चीजों के मिलने से एक तीसरी चीज की रचना हो जाती है। इस तरह आलोचना कुछ सीमा तक आलोचना का आत्म-प्रकाशन भी है, आत्माभिव्यक्ति भी है। सृजनात्मक होने के कारण वह कला के सन्निकट हो जाती है। लेकिन जब वह व्याख्या तुलना, विश्लेषण, निष्कर्ष और मूल्यांकन तक जाती है, तब वह विज्ञान के करीब भी पहुँच जाती है। परन्तु यह भौतिकी तथा रसायन, विज्ञान की तरह नहीं, वरन् सोशल साइंस के समीप है। वैसे तो हर विषय की समीक्षा की जाती है, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा विज्ञान संबंधी विषयों की भी। लेकिन वह समीक्षा एक अलग विधा नहीं है जैसे साहित्य के क्षेत्र में साहित्य सम्बन्धी समालोचना की सीमा साहित्य तक ही है। साहित्य की विभिन्न विधाएँ यथा काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी निबंध वगैरह का अर्थोद्घाटन विश्लेषण समालोचना की सीमा के अन्तर्गत है। साहित्य सिद्धान्त की व्याख्या तथा निरूपण भी इसका अपना महत्वपूर्ण कार्य है। आलोचना दर्शन से प्रभावित होती है तथा दर्शन को प्रभावित करती भी है। यह दर्शन से दृष्टिकोण को ग्रहण करती है तथा उसे साहित्य पर लागू करती है। लेकिन समालोचना की अन्तर्वस्तु साहित्य है। किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करते वक्त आलोचक को स्व धारणाओं पर अनुशासन अनिवार्य है, नहीं तो जातिगत, धर्मगत, सम्प्रदायगत आदि पूर्वाग्रहों के कारण कठिनाई उत्पन्न हो जाती है और आलोचक किसी कृति को उस रूप में देखने लगता

है, जिस रूप की खुद लेखक ने भी कभी कल्पना भी नहीं की थी। आलोचना की सार्थकता केवल वस्तु और उसके प्रभाव वर्णन में नहीं है।

सार्थकता तो रचना के परीक्षण (परि + इक्षण चारों तरफ से देखना), समीक्षण करने तथा उसका मूल्यांकन करने में है। समालोचना का दायित्व केवल कृति-विवेचन तथा रचना महत्वांकन ही नहीं है, बल्कि उसकी सरहद कुछ और आगे तक भी जाती है। यह साहित्य के लिए नई जमीन की तलाश भी करती है, साथ ही साथ साहित्य का दिशा-निर्देशन भी। अतः समालोचना की सीमा थोड़ा विस्तृत है।

सन्दर्भ सूची

१. डॉ. रामविलास शर्मा का आलोचना साहित्य, पृ. ७

२. साहित्यालोचन - डॉ. राजकिशोर सिंह, पृ. २६६

३. साहित्य लोचन - डॉ. राजकिशोर सिंह, पृ. ६६

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आ. रामचन्द्र शुक्ल पृ. ३८३

५. दर्शन साहित्य और आलोचना, पो. ब्रोल्युबाँव, पृ. २०८

६. परम्परा का मूल्यांकन, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. ६

७. पत्रिका अंक १४, अक्टूबर १९६७

८. साहित्यालोचन डॉ. राजकिशोर सिंह, पृ. २७७ से

९. वाद-विवाद संवाद - डॉ. नामवर सिंह, पृ. २२

चिंतन धारा

हिन्दी साहित्य में आत्मालोचना की अवधारणा एवं विकास प्रक्रिया की आवश्यकता

*क्रांतिबोध

आत्मालोचना से आशय किसी व्यक्ति, रचनाकार, कृतिकार एवं सर्जक का अपनी स्वयं की रचना का, कृति का, कला का स्वयं द्वारा परखे जाने से है। जिसमें आत्मनिरीक्षण, आत्माकलन, आत्म स्थापन का भाव सन्निहित होता है। व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध होने के समय यह आत्मालोचन सामान्यतः प्रचलित अर्थ सेल्फ क्रिटिसिज्म (Introspection) की ओर जाती है जबकि कला एवं साहित्य से जुड़ने पर यह इक्ट्रोस्पेक्शन (Introspection) की ओर बढ़ती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि यह साहित्य की एक आधुनिक पद्धति है जिसका सम्बन्ध स्वयं को अधिक स्पष्ट, ज्यादा सम्प्रेषणीय एवं सही समझे जाने की बेचैनी से है। आलोचना को भी वैसे ही एक आधुनिक काल की विधा ही माना जाता है क्योंकि पुरानी पद्धति जिससे कि साहित्य को परखा जाता था अब काफी हद तक बेमानी हो गयी। पांडित्य एवं आचार्यत्व से आक्लांत संस्कृति साहित्य के सैद्धान्तिक, गुण-दोष वर्णन एवं टीका-भाष्य विवेचन में 'ठेठ आलोचना' के विकास का अवकाश नहीं था, दूसरे उसकी पहुँच या दायरा कुछ सीमित दरबारियों एवं गुणी-विद्वान-साहित्यकारों तक ही विस्तृत था। देश और काल कई बार ऐसे विवेचनों को स्वयं रचनाकार तक भी न पहुँचने देता था।

वैज्ञानिक उन्नति विशेषकर छापेखाने के विकास से पत्रकारिता का प्रचलन हिन्दी में हुआ। साहित्य का प्रसार बढ़ा और मुद्रण की सुविधा के चलते रचना और रचनाकार जनता, सहृदय या पाठक के और ज्यादा करीब आए जिसके फलस्वरूप लोगों ने उन पर प्रतिक्रियाएं भी बड़े पैमाने पर देना प्रारंभ किया। इसने जहाँ एक ओर आलोचना को विकसित एवं वर्द्धित होने में योगदान दिया वहीं रचनाकारों को अधिक जिम्मेदार एवं सचेत बनाया।

मनुष्य प्रकृत्या अवलोकन, परीक्षण एवं विवेचन में रूचि एवं गति रखता है, साथ ही वह आत्मनिरीक्षण एवं विश्लेषण भी करता चलता है। साहित्य के क्षेत्र में कोई कवि या कलाकार जब समग्रतः या आंशिक रूप से अपनी कृति, उसकी रचना-प्रक्रिया, पृष्ठभूमि और तत्वगत् वैशिष्ट्य, प्रयोजन आदि के सन्दर्भ में स्वयं कोई निष्कर्ष या सुनियोजित रीति, विचार पद्धति से लेखन करता है तो वह आत्मालोचन कहलाती है।'

इस विधा के साथ एक सहज जिज्ञासा यह बनी रहती है कि जब साहित्य क्षेत्र में उसका मूल्यांकन करने वाले समालोचक उपलब्ध हैं तो रचनाकार ने अपने सर्जन के साथ-साथ अपनी आलोचना करने के दुष्कर दायित्व को निभाना क्यों स्वीकार किया ? इस जिज्ञासा का अंशतः साधन उन साहित्यिकों के वक्तव्य से हो जाता है, जिन्होंने आत्म समीक्षा को कठिन और अनुचित मानते हुये भी आलोचना का निर्वाह किया है।

आत्मलोचना का तर्क देते हुये निराला लिखते हैं कि "पहले मैं आदमी को समझदार आदमी ही समझता हूँ, पर जब वह साबित कर

* जे० आर० एफ०, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

चुका होता है कि नादान है और शेखी पर आकर भूल जाता है, तब समझाने लगता हूँ। कवि अपने काव्य की आप व्याख्या करे, यह मुझे अभिप्रेत नहीं। पर जहाँ आप जैसे समझदार उसे मिलें और 'उधो' को 'माधो' और 'माधो' को 'राधो' करना शुरू करें वहाँ तो मर्म समझना मैं फर्ज समझता हूँ। इसे मैं आत्मविज्ञापन नहीं मानता।"[2] पुनः वे इसे और स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि "हिन्दी के पाठकों की अभी मानसिक स्थिति ऐसी नहीं हुई कि उन पर पूरा-पूरा विश्वास आलोचित व्यक्ति कर सके। वे असलियत पर न पहुँचकर, अपेक्षों के साथ हो जाते हैं। अवश्य ऐसे विद्वान भी अब पत्र-पाठकों में हैं, जो लेख पढ़कर सत्यासत्य मालूम कर लेते हैं। पर इनकी संख्या थोड़ी है। अधिकांश जन भ्रम में रह जाते हैं। इसी विचार ने मुझे जवाब लिखने को विवश किया।"[3]

निराला की भी समस्या अलक्षित रह जाने की है। साथ-साथ गलत समझे जाने की। उन्हें समस्या उन आलोचकों से भी है जो रचना को सही तरीके से नहीं समझा पाते हैं और रचनाकारों पर आक्षेप लगाते हुये उनकी मेधा कुण्ठित करने में अपनी यशः वृद्धि का हेतु मानते हैं। इससे पाठक एवं सामान्य हिन्दी प्रेमी गलत व्याख्या तक पहुँचता है एवं भ्रम की स्थिति में पड़ता है। वे आलोचकों की पूर्वाग्रही दुर्भावना से ग्रस्त भ्रमात्मक आलोचना से हिन्दी पाठकों को बचाने के लिये आत्मलोचना को औजार के बतौर इस्तेमाल की बात करते हैं। लगभग इसी तर्क को प्रस्तुत करते हुये कमला प्रसाद भी लिखते हैं कि "कालिदास जब यह लिखते हैं कि, 'पुरानमि.ेव न साधु सर्वं न चापि काव्यम् नवमित्यवद्यम, सन्तः परीक्ष्ययान्यतरद भजन्ते, मूढः परप्रत्यपनेय बुद्धिः' अर्थात् सत्समीक्षक रचना की भीतरी पहचान से राय कायम करते हैं तथा मूढ़ समीक्षक दूसरों की समीक्षाएं पढ़कर धारणाएँ बनाते हैं, तो इसका आशय यह है कि उस समय मौजूद आलोचना में मूढ़ आलोचक थे। इस तरह के आलोचक आज भी हैं। दरअसल आलोचक की मूढ़ता बहुत जल्दी पकड़ में आ जाती है।"[4]

आलोचना की रूढ़ि एवं रचनाशीलता का दबाव पर एक विशेष परिस्थिति पैदा करता है जिसमें रचना जब नये युग में प्रवेश कर जाती है और एक कदम आगे बढ़ जाती है तब आलोचना की जिम्मेदारी उस नयेपन को पहचान कर स्वयं को संस्कारित करने एवं इसी माध्यम से हिन्दी पाठक एवं सहृदय को उसकी पहचान कराने की होती है। इसमें हुई चूक प्रायः द्वन्द्व तक पहुँचा देती है रचनाकार एवं आलोचक को। और पैदा करती है आत्मालोचना की आवश्यकता जिसे नागार्जुन लिखते हैं कि -

"अगर कीर्ति का फल चखना है
कलाकार ने फिर-फिर सोचा
आलोचक को खुश रखना है
अगर कीर्ति का फल चखना है
आलोचक ने फिर-फिर सोचा
कवियों को नाथे रखना है।"[5]

यह वह टीस है जो कई बार आत्माभिमानी रचनाकार को स्वयं आलोचक बनने के लिये प्रेरित करती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में युग विभाजन का एक मूल आधार मुख्यधारा में साहित्यिक प्रवृत्ति के परिवर्तन का होता है। यह परिवर्तन प्रायः तत्कालीन समय की जरूरतों एवं सौन्दर्य शास्त्रीय प्रतिमानों में आये बदलाव के कारण होता है। नया समय नयी रचनाशीलता को प्रेरित करता है जिसे गालिब कहते हैं कि -

"बकदे शौक नहीं जर्फे तंगनाए ग़ज़ल
कुछ और चाहिए वुसअत मेरे बयाँ के लिए।"[6]

यह जो कुछ और वुसअत की चाहत है यह नये समय का दबाव है, ज्यादा कहने की

जरूरत। लेकिन आलोचना की आदत इसे पहचानने की नहीं होती। वह इसे गैर-जरूरी, मुश्किल पसन्द या मोह-मल-गो (अर्थहीन शेर कहने वाला) कहकर अपनी नासमझी झटक कर फेंक देता है। जिसे पंत स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि "हिन्दी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है। 'रसगंगाधर', 'काव्यादर्श' आदि की वीणा के तार पुराने हो गये। वे स्थायी, संचारी, व्यभिचारी आदि भावों को जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्वभारती के आधुनिक विकसित या परिष्कृत स्वरों में न अनुवादित हो जाए, तब तक हिन्दी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती।"[७]

पंत जी आलोचना के पुराने मानदण्डों की अपर्याप्तता एवं अप्रासंगिकता को इंगित करते हुये कहते हैं कि जब तक आलोचना का पुनर्संस्कार न होगा सत्साहित्य भी हिन्दी की मुख्यधारा में नहीं आ सकता। अर्थात् साहित्य की ताजगी के लिये भी आलोचना को लगातार स्वयं को अपडेट करते रहना चाहिये। छायावाद के संदर्भ को लेते हुए डॉ. प्रेमशंकर इसे समझाते हुये बताते हैं - "संभवतः द्विवेदी युगीन वर्णन प्रधान कविताओं की तुलना में जब छायावाद की आरंभिक रचनाएं 'इन्दु' आदि पत्रिकाओं के माध्यम से सामने आई होंगी, तो वे समीक्षकों को बेपहचान लगी होंगी और ऐसा लगभग हर महत्वपूर्ण नए रचना आन्दोलन के साथ होता है।"[८]

नयी प्रवृत्तियाँ, नया युग, नयी शैली कई बार अपनी आलोचना अपने साथ लाते हैं लेकिन अक्सर ऐसा नहीं होता और आलोचक की समझ उसके बड़े कद के चलते मानी जाती है जबकि नयसा कवि अपनी अभिव्यंजना में छटपटाता ही रह जाता है। यह बेचैनी उसे स्वयं को प्रकट करने के लिए 'स्पेस' रचती है। प्रभाकर माचवे कुछ और कारणों को जोड़ते हुए कहते हैं कि "हमारे यहाँ आलोचनात्मक दृष्टि को इतिहास के प्रति प्रशंसा दृष्टि, विभूति पूजा और जनपद विशेष या प्रजाति विशेष के प्रति अतिरिक्त मोह कई बार आविष्ट कर लेता है। कई निर्णय इसी कारण से एकांगी और अर्द्धसत्य पोषक हो जाते हैं। अनेक समालोचकों में इसीलिए वह शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि पूर्णतः विकसित नहीं हो पाती। मन के भीतर कहीं सेंसर बैठा रहता है।"[९] और यह अचेतन में बैठा हुआ सेंसर रचना एवं रचनाकारों के लिए प्रतिगामी या पीछे धकेलने वाला साबित होता है। इसके खिलाफ रचनाकारों के प्रतिकार के उदाहरण विश्व साहित्य में भी मिलते हैं। माचवे जी इसका उल्लेख करते हुए बताते हैं कि "कीट्स जैसे सुकुमार कवि की तो 'ब्लैकवुड मैग्जी' की क्रूर आलोचना से अकाल मृत्यु हो गयी। विदेश का भी ऐसा साक्ष्य है कि कई महाकवियों ने और लेखकों ने उत्तम रचना और आलोचना साथ-साथ की है। गोएटे हों या पॉल वालेरी, वर्जीनिया वुल्फ हों या मक्सिम गोर्की, विटमैन हों या लौवेल, डी. एच. लारेंस हों या मार्सल प्रूस्त, टी. एस. इलियट हों या येट्स, सार्त्र हों या व्लादिमीर शोलोव्योव (१८५३-१६००) सब देशों और भाषा में ऐसे सव्यसाची मिल जाएँगे।"[१०]

आलोचना कर्म की यह नैतिक मांग होती है कि वह तटस्थ एवं निष्पक्षता के साथ आए लेकिन कई कारणों से ऐसा नहीं हो पाता है और आलोचक की कई अन्य प्रतिबद्धताएं एवं मजबूरियां उसे तटस्थ रहने भी नहीं देतीं। आत्मालोचना के कुछ अन्य कारणों की ओर इशारा करते हुए हरिवंश राय बच्चन जी कहते हैं कि "आज कवि कभी अत्यधिक आत्मविश्वास और कभी अपनी काव्य शक्ति के विश्वास की कमी के कारण भी अपने विचार, सिद्धान्त, आदर्शवाद अथवा अपनी

कला, शैली, तकनीकि की घोषणा करता हुआ आता है। उधर पाठक भी कुछ ऐसी जिज्ञासाएं जगाता है, ऐसी शंकाएं उठाता है कि उनका समाधान कवि के द्वारा ही किया जा सकता है। दूसरी ओर समालोचक वर्ग भी कवि के पर्दापण करने के साथ ही, कभी पहले से भी, उसे उभारने'' पछाड़ने की योजनाएं आरंभ कर देता है। इस प्रकार आज की कविता के साथ बहुत कुछ ऐसा लेखन आ रहा है, जो यदि कई दृष्टियों से कविता के सन्तुलित मूल्यांकन में सहायक हैं तो कई अंशों में बाधक भी हैं। इनमें स्वाभाविक है कवि द्वारा अपने विषय में कुछ लिखे हुये को अधिक महत्व मिल जाये।''[11]

आलोचना दृष्टि का रूपान्तरित न हो सकना, समर्थ एवं तटस्थ आलोचकों का अभाव एवं आलोचक की गुरूता का तानाशाही में बदलते जाना तथा उसके खिलाफ आत्माभिमानी रचनाकारों का स्वयं तथा रचना एवं युग प्रस्थापन के लिये अग्रसर होना इसका मूल कारण माना जा सकता है। कई बार चारों ओर से होती आलोचनाओं से आत्मविश्वास डगमगाता है लेकिन जो प्रतिकूल माहौल में भी दृढ़ता से अपनी रचनाशीलता में विश्वास के साथ खड़े रहे, कई उदाहरण ऐसे हैं कि इतिहास ने उन्हें ससम्मान स्वीकार किया फिर वे चाहे निराला हों या मुक्तिबोध। अपनी नवता पर भी उन्हें भरोसा था, रचनाशीलता पर भी। ये रचनाकार बार-बार आलोचकों को खुद को जाँचने-परखने का मौका देते चलते हैं, जिसे गालिब कहा करते थे कि -

> 'अदाए खास से गालिब हुआ है नुक्तासरां।
> सलाए आम हैं याराने नुक्तदां के लिए।।'[12]

ऐसे रचनाकारों की आत्मालोचनाएँ न तो अतिआत्मविश्वास के कारण जन्मी और न ही काव्य शक्ति में कमी के विश्वास के कारण, वे उपजीं भी तो अपनी नवता के चलते जिन्हें समझने वाला उनके समय में पैदा नहीं हुआ था।

आलोचकों की तटस्थता एवं समर्थता का प्रश्न चिन्ह भी आज देखिए कि कितना और किस हद तक महत्वपूर्ण है ? गौर करने की बात है कि छायावाद एवं प्रयोगवाद - नयी कविता के काल में, जिसमें सर्वाधिक आत्मलोचनाएँ आती हैं, सबसे सशक्त आलोचक मौजूद होते हैं यथा - महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल तथा दूसरे में रामविलास शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि। मेरी समझ से तो आलोचकों की तानाशाही, जो कि अमूमन नये साहित्य को न समझ पाने की उनकी झल्लाहट एवं खेमेबन्दी के चलते आती है, से यह आत्मालोचना की चेतना पैदा होती है। जिसे त्रिलोचन अपनी कविता के माध्यम से ज्यादा स्पष्ट कर पाते हैं -

> ''गद्य-वद्य कुछ लिखा करो। कविता में क्या है।
> आलोचना जमेगी। आलोचक का दर्जा -
> मानो शेर जंगली सन्नाटे में गर्जा
> ऐसा कुछ है। लोग सहमते हैं। पाया है
> इतना रुतबा कहाँ किसी ने कभी। इसलिए
> आलोचना लिखो। ....''[13]

यह टीस वहीं से पैदा होती है। अब कोई कवि स्वयं को स्पष्ट करने की आवश्यकता समझता है तो इसमें दोष जैसी कोई बात नहीं दिखती। यह आत्मस्थापन, आत्मप्रकटीकरण, आत्म-स्पष्टीकरण, आत्मतुष्टीकरण, आत्म प्रकाशन के भावों के साथ हो सकती है लेकिन इसे जितनी रचनात्मक प्रतिबद्धता एवं आलोचनात्मक समझदारी के साथ सम्पन्न किया गया, उससे इसे आलोचना के दायरे से बाहर रख पाना असंभव है। इसीलिए यह कुण्ठित मन का आत्मालाप नहीं बल्कि क्षुब्ध एवं मेधाशील रचनाकारों का उत्तर है। अपनी रचनात्मक प्रतिबद्धता के निमित्त भी इन्होंने काव्य रचना के साथ अपनी प्रवृत्तियों और वादों अथवा मान्यताओं

और विचाधाराओं का समीक्षात्मक प्रतिपादन किया। ये आत्मालोचक सामान्य साहित्यिक हितों की रक्षा के लिए काव्यालोचना के क्षेत्र में कतिपय मौलिक तत्वों और चिन्तन की नवीन दिशाओं की अवतारणा करना चाहते थे।

पाठकों की ग्रहणशक्ति पर सन्देह, आलोचक से अन्याय की आशंका, समकालीनों में अपनी श्रेष्ठता की ललक, आक्षेपों के प्रत्युत्तर का उत्साह आदि कई अन्य कारण आत्मालोचना के बताए जाते हैं लेकिन तटस्थता का अभाव, आत्म प्रशंसा की प्रवृत्ति, अन्य साहित्यिकों पर शाब्दिक प्रहार के निमित्त कुछ लोगों ने इसे उचित भी नहीं माना है जिनमें भागीरथ मिश्र जी का विचार है कि – "कविता स्वयं के लिए कोई वक्तव्य आवश्यक नहीं है। वक्तव्य का महत्व है तो कवि की काव्य संबंधी धारणा को प्रकट करने के लिये महत्वपूर्ण होता है और बहुत वक्तव्यबाजी कवि-प्रतिभा की क्षीणता का ही संकेत करती है। कविता में यदि गुण है तो वे प्रकट होकर ही रहेंगे।"[4]

भवानी प्रसाद मिश्र भी आत्म समीक्षा को उचित नहीं मान पाए हैं – "कविता लिखना ठीक है मगर अपने लिखने के बारे में कवि का खुद कहना ठीक है या नहीं, मैं इस विषय में कभी असंदिग्ध नहीं हो पाया।"[5]

हालांकि बहुत सारे आत्मसमीक्षक स्वयं इसे बहुत प्रशंसित भाव से नहीं देखते। निराला एवं अज्ञेय भी इससे बचने के ही 'टोन' में नजर आते हैं, यद्यपि कि परिस्थितियों के दबाव में इसे अत्यावश्यक मानते हुए भी अज्ञेय कहते हैं कि "कविता ही कवि का परम् वक्तव्य है, अतः यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिए स्वयं उनके रचयिता को गद्य का आश्रय लेकर कुछ कहना पड़े तो साधारणतया इसे उसकी पराजय ही समझना चाहिए। किंतु मानव जीवन के विकास के साथ-साथ उसकी जटिलता इतनी बढ़े कि इस प्रकार का आत्मस्पष्टीकरण वांछनीय हो गया हो" पुनः वे आगे कहते हैं कि "कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य है। यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है और जितना ही व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है।"[6]

कई लोग मानते हैं कि 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' के कारण आलोचकीय दायित्व के सफल निर्वहन के लिए तटस्थता की आवश्यकता अपनी रचना के प्रति कवि आलोचकों में होना असंभव है। इसीलिए वे लोग कहते हैं कि सृष्टा अपनी कृति के गुण-दोषों का सर्वश्रेष्ठ पारखी नहीं हो सकता। सृजन करना और समीक्षक के रूप में किसी कृति का मूल्यांकन करना, दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं, अपने सृजन में वह अनेक कल्पित विशेषताएं ढूँढ़ निकालता है और समाज-दर्शन या वाद के अनुरूप बताकर 'आत्म सृजन' को श्रेष्ठ घोषित करता है। आत्म समीक्षक की बुद्धि यह सोचने में असमर्थ रहती है कि आत्म स्पष्टीकरण में सृष्टा की दुर्बलता एवं आत्म रक्षा की प्रवृत्ति में उसका दयनीय रूप प्रकट होता है।

सूर्य प्रसाद दीक्षित जी इस सम्बन्ध में कहते हैं कि "अनेक सृजनशील साहित्यकार प्रायः 'मन्दः कवि यशः प्रार्थी अपनी कृतियों की भूमिकाओं में आत्मपरक महाभाष्य लिख-लिखकर 'कविर्मनीषी' होने का उपक्रम कर रहे हैं। विडम्बना तो यह है कि सर्जन शक्ति जैसे-जैसे शिथिल होती जाती है, उनकी आत्मसमीक्षा का स्तर तीव्र से तीव्रतर होता जा रहा है। कहीं ये आत्म समीक्षाएं समीक्षा सामग्री अर्थात् सृजनशील साहित्य को कुण्ठित न कर दें।"[7]

उपर्युक्त दोषों से युक्त होते हुए भी आत्मालोचन का महत्व कम नहीं होता। यद्यपि सृष्टा अपनी कृति के प्रति सर्वांशतः तटस्थ नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में उसके विचारों की निस्संगता

भी संदिग्ध ही रह जाती है, तथापि वह कृति का सर्वोत्तम दृष्टा और कुछ अंशों तक विश्लेषक भी हो सकता है, क्योंकि वह सृजन के उन सूत्रों से जुड़ा होता है, जो उसकी मनः कल्पना को मूर्तता प्रदान करते हैं। अतः अपने सृजन के सन्दर्भ में उसका बोलना कई बार काफी महत्वपूर्ण होता है। कलाकार स्वयं अपनी रचना प्रक्रिया एवं रचना का प्रथम भोक्ता एवं सर्वाधिक निकट का संबंधी होता है। अपनी रचना का आंकलन किन्हीं भी कारणों एवं प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर यदि वह करता है, तो उस रूप में वह समीक्षा साहित्य को समृद्ध ही बनाता है, उसके भण्डार में वृद्धि ही करता है। डॉ. वेंकट शर्मा के अनुसार "कवियों ने अपनी काव्य कृतियों की भूमिकाओं तथा स्वतंत्र निबन्धों के रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत् समालोचना का विकास करने में महान योग दिया है। इनकी समालोचनाएं शास्त्रीयता की परम्परागत् रूढ़िबद्ध प्रवृत्ति से विहीन कोरी लक्षण निरूपण पद्धति से रहित है।"[१८]

केवल इतना ही नहीं आत्मआलोचन कई बार रचनाकारों के सामने मुश्किलात भी पैदा करती है कि उसने जो रचना के बारे में सोचा वह रचना में दे भी पाया है ? या क्या रचना उसके रचनात्मक सिद्धान्तों एवं आदर्शों पर खड़ी हैं ? इसका मिलान करते हुए वह आगे भी बढ़ता है। रघुवीर सहाय कहते हैं कि "किसी भी लेखक के लिए अपनी रचनाओं के विषय में कुछ कहने का प्रयत्न दुविधा का काम है। वह ठीक नहीं जान सकता कि वह जो कुछ इस प्रसंग में कह रहा है, वह उस रचना के विषय में है, जो वह कर चुका है या उसके विषय में है जो वह करना चाहता है। वास्तव में वह दोनों के ही विषय में होता है। लेखक जब कभी अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में सोचता है, तो अंशतः वह जो कर चुका होता है, उसका विश्लेषण कर रहा होता है और अंशतः वह जो नहीं कर पाया और करना चाहता है, उसकी तैयारी कर रहा होता है। इस तरह रचना-प्रक्रिया संबंधी उसके विचार एक साथ वर्तमान और भविष्य में ले जाते हैं।"[१९] और यह आत्मसमीक्षा की सबसे बड़ी रचनात्मक भूमिका है।

लेकिन इसमें भी दो राय नहीं कि नवता के, मेधा के स्थापन के बहाने आत्ममोह एवं आत्मश्लाघा में फंसे हुए लोग इस रचनात्मक एवं आलोचनात्मक जिम्मेदारी का भार वहन नहीं कर सकते, उनकी कलई शीघ्र ही खुल जाती है और इतिहास, स्वयं के प्रति निर्मम किंतु कृति के प्रति सजग आत्मालोचकों को ही याद रखता है क्योंकि वे ही तटस्थता, मौलिकता एवं निष्पक्षता के साथ नये सौन्दर्यशास्त्र का भाष्य लिख रहे होते हैं। वे ही सौन्दर्य-शास्त्रीय मूल्यों को साहित्य में लाते हैं एवं उन्हें स्थापित करा पाते हैं। वे ही रचना एवं आलोचना को अपने समय के समकालीन बनाते हैं।

जिसे चंद्रकांत देवताले कहते हैं कि "एक कवि जब चिंतन के लोक में सक्रिय रहता है तब वह दोहरा कर्म कर रहा होता है। एक ओर तो वह चिंतन में अपनी सृजनात्मक समस्याओं का हल ढूँढ़ता रहता है और दूसरे कविताओं में चिन्तन के द्वन्द्व का विस्तार खोजता है। कवि-समीक्षक भी समीक्षा के दौरान अपनी कविता के बचाव के तर्कों को पैना करता है और दूसरी तरफ अवचेतन रूप से ही क्यों न हो, कविता में अपनी समीक्षा के आदर्शों को उपलब्ध करने का प्रयत्न करता है।

यदि ऐसे कवि के पास आत्मालोचना की निर्मम सामर्थ्य न हो तो वह अपनी समीक्षा और रचना के बीच ऐसी भूल भुलैया भी रच सकता है जो उसे आत्ममोह के कठघरे में कैद कर सकती है।"[२०] इन्हीं दिक्कतों एवं सीमाओं से बचते हुए आत्मालोचना सर्जना तथा आलोचना में एक

स्थापित्य एवं नवीनता का निर्माण करती चलती है।

सन्दर्भ सूची

१. हिन्दी का आत्म समीक्षात्मक साहित्य : एक सर्वेक्षण, पृ. ६

२. निराला, निराला रचनावली, खण्ड ५, पृ. ४२६

३. निराला, निराला रचनावली, खण्ड ५, पृ. ४२६

४. कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, पृ. ७

५. नागार्जुन, नागार्जुन रचनावली, खण्ड १, पृ. ३२०

६. गालिब, संपा. प्रकाश पंडित, पृ. ६६

७. पंत, पल्लव, भूमिका, पृ. ४६

८. प्रेमशंकर, हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य, पृ. ६८

९. प्रभाकर माचवे, हिन्दी आलोचना, अतीत और वर्तमान, पृ. १५

१०. वही, पृ. १२

११. बच्चन, आधुनिक कवि भाग - ७, अपने पाठकों से, पृ. २

१२. गालिब, संपा. प्रकाश पंडित, पृ. ६६

१३. त्रिलोचन, प्रतिनिधि कविताएं, पृ. ११८

१४. भागीरथ मिश्र, कला, साहित्य और समीक्षा, तीसरा सप्तक : एक समीक्षा, पृ. ३५६

१५. भवानी प्रसाद मिश्रा, बुनी हुई रस्सी, अपनी ओर से, पृ. ५

१६. अज्ञेय (सम्पा.) - तार सप्तक, वक्तव्य, पृ. २६६

१७. डॉ. सूर्य प्रसाद दीक्षित, शुक्लोत्तर समीक्षा (संपा. वासुदेव नन्दन प्रसाद) पृ. १८६

१८. डॉ. वेंकट शर्मा - आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, पृ. ३२७

१९. रघुवीर सहाय - लिखने का कारण, भूमिका, पृ. ५

२०. चंद्रकांत देवताले - मुक्तिबोध : कविता और जीवन विवेक, पृ. ६७-६८

जनसंख्या विस्फोट : कारण एवं निवारण

*डॉ. सुशील कुमार सिंह

समाज चाहे जैसा भी क्यों न हो उसके समक्ष जनसंख्या का यक्ष प्रश्न सर्वोपरि होता है क्योंकि यह सच है कि जनसंख्या भौगोलिक दशाओं के साथ-साथ सामाजिक उत्पादन का प्राकृतिक आधार भी हुआ करती है। जनसंख्या वृद्धि के मामले में जब बात भारत की उठती है तो "यहाँ स्थिति अति विस्फोटक नजर आती है क्योंकि जिस गति एवं अनुपात में यहाँ की जनसंख्या बढ़ रही है यदि उस पर नियंत्रण नहीं लगाया गया तो भारत विश्व में जनसंख्या की दृष्टि से २०५० तक प्रथम देश बन जायेगा।"[1] वर्तमान समय में भारत जनसंख्या विस्फोट की स्थिति से गुजर रहा है। भारतीय जनसंख्या का आकार अत्यन्त ही बड़ा है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में "हम पच्चीस करोड़ से कम थे और इस शताब्दी के अन्त में हम सौ करोड़"[2] से ऊपर हो गए हैं। शताब्दी के दौरान इसमें चार गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है। शताब्दी के बीच में हम लगभग छत्तीस करोड़ थे, शताब्दी

जनसंख्या (१९०१-२००१)

जनगणना वर्ष	जनसंख्या	दसवर्षीय वृद्धि		दसवर्षीय वृद्धि में परिवर्तन		औसत वार्षिक घातीय वृद्धि दर (प्रतिशत)	१९०१ के बाद उत्तरोत्तर वृद्धि दर (प्रतिशत)
		परिशुद्ध	प्रतिशत	परिशुद्ध	प्रतिशत		
१	२	३	४	५	६	७	८
१९०१	२३८,३९६३२७	-	-	-	-	-	-
१९११	२५२,०९३,३९०	१,३६,९७,०६३	५.७५	-	-	०.५६	५.७५
१९२१	२५१,३२१,२१३	-७,७२,१७७	-०.३१	१४,४६९,२४०	-६.०५	०.०३	५.४२
१९३१	२७८,९७७,२३८	२७,६५६,०२५	११.००	२८,४२८,२०२	११.३१	१.०४	१७.०२
१९४१	३१८,६६०,५८०	३९,६८३,३४२	१३.३१	१२,०२७,३१७	३.२२	१.३३	३३.६७
१९५१[1]	३६१,०८८,०९०	४२,४२७,५१०	१३.३१	२,७४४,१६८	-०.९१	१.२५	५१.४७
१९६१	४३९,२३४,७७१	७८,१४६,६८१	२१.६४	३५,७१९,१७१	८.३३	१.९६	८४.२५
१९७१	५४८,१५९,६५२	१०८,९२४,८८१	२४.८०	३०,७७८,२००	३.१६	२.२०	१२९.९४
१९८१[2]	६८३,३२९,०९७	१३५,१६९,४४५	२४.६६	२६,२४४,५६४	-०.१४	२.२२	१८६.६४
१९८१[2]	६८३,३२९,०९७	१३५,१६९,४४५	२४.६६	२६,२४४,५६४	-०.१४	२.२२	१८६.६४
१९९१[3]	८४६,३८७,८८८	१६३,०५८,७९१	२३.८६	२७,८८९,३४६	-०.८०	२.१४	२५५.०३
२००१[4]	१,०२,७०,१५,२४७	१८०,६२७,३५९	२१.३४	१७,५६८,५६८	-२.५२	१.९३.	३३०.८०

स्रोत : अनंतिम कुल जनसंख्या, २००१ का पत्र-१ शृंखला-१ भारत की जनगणना २००१

* व्याख्याता, अर्थशास्त्र विभाग, जगदेव मेमोरियल कॉलेज, सकरी (कुदरा) कैमूर-बिहार

टिप्पणियां[१,२,३,४]

१. भारत की १९४१-५१ की जनगणना में 'दशकीय वृद्धि' और 'दशकीय वृद्धि प्रतिशत' की गणना करते समय १९५१ के लिये त्यूवेनसांग जिले की जनसंख्या (७,०२५) और १९६१ के लिये नागालैंड के त्यूवेनसांग जिला (८३,५०१) तथा मोन जिले (५,७७४) की जनसंख्या को शामिल नहीं किया गया क्योंकि इन क्षेत्रों में पहली बार १९५१ में जनगणना कराई गई थी तथा वह तुलनीय नहीं है।

२. असम में गड़बड़ी की वजह से १९८१ में वहां जनगणना नहीं की गई। अतः १९८१ के लिये असम की जनसंख्या के आंकड़ों का आंकलन आंतर-गणन विधि से किया गया है।

३. जम्मू-कश्मीर में गड़बड़ी की वजह से १९९१ में वहां जनगणना नहीं हो पाई। अतः १९९१ के लिये जम्मू-कश्मीर की जनसंख्या का आंकलन आंतर-गणना के आधार पर किया गया है।

४. भारत की जनसंख्या में गुजरात के कच्छ जिले, मोरवी, मलिया-मियाना और राजकोट जिले के वांकानेर तालुक, जामनगर जिले के जोदिया तालुक तथा हिमाचल प्रदेश के समूचे किन्नौर जिले की अनुमानित जनसंख्या को शामिल किया गया है क्योंकि इन क्षेत्रों में प्राकृतिक विपदा के कारण २००१ में जनगणना नहीं हो सकी।

के प्रथम पचास वर्षों में जनसंख्या में वृद्धि पचास से कम थी, जबकि दूसरे पचास वर्षों में एक सौ अस्सी प्रतिशत से अधिक की वृद्धि रही। यदि हम पिछली दशाब्दियों में जनसंख्या की वृद्धि की निरपेक्ष स्थिति देखें तो पायेंगें कि प्रत्येक दशक में निरपेक्ष मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है पर महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि दो दशाब्दियों के बीच निरपेक्ष मात्रा में जो वृद्धि हुई है उसकी कमी आयी है।

''लगातार बढ़ती जनसंख्या विश्व के लिए चिंता का कारण बनी हुई है। इसका एक सीधा कुप्रभाव प्राकृतिक साधनों पर बढ़ता भार है। अमेरिकी जनसंख्या ब्यूरो द्वारा जारी किए गए आंकड़ों के अनुसार आने वाले चार सालों में विश्व की जनसंख्या में लगभग ३० करोड़ की वृद्धि होगी। ब्यूरो ने इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि जहां विश्व की जनसंख्या लगभग १.२ प्रतिशत की दर से बढ़ रही है वहीं भारत की जनसंख्या वृद्धि दर १.६ प्रतिशत है। भारत की जनसंख्या का स्वरूप हर स्थिति में चिंताजनक बना हुआ है। जहां एक ओर उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों पर बढ़ता दवाब विकास की गति को बाधित कर रहा है वहीं दूसरी ओर भ्रूण हत्या के कारण घटता लिंगानुपात समाज के संतुलन को बिगाड़ रहा है।''[3] आखिर ऐसे कौन से कारक हैं जो भारत को जनसंख्या की विस्फोटक स्थिति की ओर अग्रसर कर रहें हैं ? इसके क्या सम्भव कारण हो सकते हैं ? इसके समाधान क्या हो सकते हैं ?

प्रमुख नव माल्थसवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार अल्प विकसित देशों में जनसंख्या की समस्या मनुष्य के पुनरूत्पादक आचरण से जुड़ी हुई है। परन्तु जनांकिकी परिवर्तन सिद्धान्त यह स्वीकार नहीं करता है उसका मानना है कि प्रत्येक देश की जनसंख्या तीन स्तरों से गुजरती है। प्रथम कारण यह है कि जन्म और मृत्यु दर नीचे आ जाने के कारण होती हैं, इसलिए जनसंख्या स्थिर रहती है। दूसरी अवस्था में मृत्यु दर नीचे आ जाने के कारण जन्म दर ऊंची हो जाती है। तीसरी अवस्था में जन्म और मृत्यु दरें नीचे हो जाती हैं, क्योंकि जब किसी देश में औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है तो जन्म दर में कमी

होती है। आज भारत की जनसंख्या दूसरी अवस्था के दौर से गुजर रही है। यहाँ यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी राष्ट्र को दूसरी से तीसरी स्थिति तक पहुँचने के लिए कितना समय लगता है यह बता सकना असम्भव है ?

आज हम जनसंख्या विस्फोट की स्थिति से गुजर रहें हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में भारत की जनसंख्या १ मार्च २००१ को अधिकृत तौर पर १०२.७० करोड़ हो गयी, जिसमें ५३.१२ करोड़ पुरुष तथा ४६.५७ करोड़ महिलाएं हैं। चीन के बाद भारत विश्व का दूसरा, अमरीका तीसरा और रूस चौथा सबसे बड़े देश हैं। इन देशों की पूरे विश्व में जनसंख्या है चीन २१.७ प्रतिशत, अमरीका ६.० प्रतिशत तथा रूस ५.० प्रतिशत।''[४] इसका प्रमुख कारण यह है कि जब आर्थिक विकास की प्रक्रिया आरम्भ होती है तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ती है और आम लोगों का जीवन स्तर सुधरने लगता है। हॉलांकि लोगों को भोजन के अभाव से मुक्ति तो शायद नहीं मिलती, परन्तु अकाल कम हो जाते हैं और भुखमरी का पलायन हो जाता है। दूसरी ओर चिकित्सा सुविधाओं में वृद्धि होने के कारण रोगों पर काबू पाने के प्रयास तेज हो जाते हैं और इन प्रमुख कारणों से मृत्यु दर में अंकुश लग जाता है। यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जन्म दर नीची न होने का प्रधान कारण यह है कि उसे प्रभावित करने वाले तत्वों में विशेष परिवर्तन नहीं घटित होते। हमारे रीति, रिवाज, धार्मिक विश्वास, शिक्षा, परिवार के बारे में दृष्टिकोण जन्म दर को प्रभावित करते हैं। परिवर्तन की बयार यहाँ तभी घटित होती है जबकि औद्योगीकरण के साथ-साथ शहरीकरण होता है इस प्रक्रिया में समय लगता है। यही फासला जन्म एवं मृत्यु दर का अंतर पैदा करता है और जनसंख्या अपनी विस्फोटक स्थिति में पहुँच जाती है। आज हम इसी प्रक्रिया से गुजर रहें हैं।

स्पष्ट है कि जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में भारत का चीन के बाद दूसरा स्थान है। पृथ्वी पर हर सातवां व्यक्ति भारतीय है। जनसंख्या में इस वृद्धि के परिणाम स्वरूप नियोजित आर्थिक विकास के सारे प्रयास निष्फल सिद्ध हो रहे हैं तथा देश में भोजन, वस्त्र एवं आवास की समस्या विकराल होती जा रही है। अद्‌भुत औषधियों के अन्वेषण और आर्थिक सम्पन्नता में सतत् सुधार के परिणामस्वरूप मृत्यु की सम्भावना घटती जा रही है, लेकिन उसी अनुपात में जन्मदर में कमी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है; फलस्वरूप जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि होती जा रही है। इस तरह, जन्मदर एवं मृत्युदर के बीच यह दूरी जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे कुल जनसंख्या में भी वृद्धि होती जा रही है।

भारत में जनसंख्या वृद्धि के कारणों को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है "नीची मृत्यु दर, ऊंची जन्म दर और देशान्तर गमन।''[५] भारत में देशान्तर गमन के कारण जनसंख्या में विशेष रूप से ज्यादा वृद्धि नहीं हुई है। जब भारत का विभाजन हुआ तो जितने लोग पाकिस्तान गए उससे कहीं अधिक लोग वहाँ से भारत आ गए लेकिन इसका भारत की जनसंख्या की वृद्धि में कोई विशेष योगदान नहीं है। बाद में भी जितने लोग बांग्लादेश से अशांति की स्थिति से घबड़ाकर भारत में आए हैं उसने यहां की जनसंख्या को ज्यादा प्रभावित नहीं किया है। वास्तव में यदि देखा जाए तो भारत में जनसंख्या वृद्धि के दो ही कारण हैं। मृत्यु दर में भारी कमी और जन्म दर का ऊंचा रहना।

भारत में मृत्युदर के कारणों को तय कर पाना निश्चित नहीं है लेकिन सर्वेक्षण, आकड़ों और गांव तथा शहरों के अध्ययनों से मृत्यु दर में कमी

के कुछ मुख्य कारण पता चलते हैं।

अकाल में कमी भी जनसंख्या वृद्धि का एक प्रमुख कारण माना जा सकता है ब्रिटिश काल में मृत्यु दर ऊंची रहने का एक मुख्य कारण बार-बार पड़ने वाले अकाल थे। वर्तमान में स्थितियां कुछ भिन्न हैं जब देश स्वतंत्र हुआ तो सरकार ने इस दिशा में विभिन्न कार्यक्रमों का सफलतापूर्वक क्रियान्वयन किया। सूखा और फसल खराब होने की स्थिति में राहत कार्य जिस तत्परता से कार्यान्वित किए गए। उससे ज्यादा लोगों की जानें नहीं गयीं। इसका एक उदाहरण है कि जब १९६६-७० के सूखा एवं अकाल की स्थिति में राहत और बचाव उपाय इतने अच्छे हो गए थे कि इस अवधि में फसलें खराब होने के बावजूद ज्यादा लोग अकाल से मरे नहीं। इस शताब्दी में चार बार अकाल पड़े लेकिन सरकार की सफल नीतियों ने अधिक से अधिक लोगों को राहत पहुँचाने में सफलता अर्जित की। लेकिन यहां ध्यान देने की एक और बात यह है कि इस समय खाद्यान्न उत्पादन भी पिछले वर्षों की अपेक्षा काफी कम हुए। इसका प्रमुख कारण यह है कि सरकार ने अपने खाद्यान्न भंडारों का प्रयोग कर स्थिति को संभाल लिया। निष्कर्ष यह है कि वर्तमान में अकालों पर काबू पा लिया गया है और इसका परिणाम यह है कि आज मृत्युदर नीची हो गयी है।

महामारियों पर नियंत्रण भी जनसंख्या आधिक्य का एक प्रमुख कारण है क्योंकि देश की आजादी से पहले प्लेग, हैजा और चेचक का भारी प्रकोप रहता था इन महामारियों से मरने वालों की संख्या काफी बड़ी होती थी। यह सच है कि आज भी ये महामारियां इस देश में पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं लेकिन अब ये काफी नियंत्रण में हैं। प्लेग देश की आजादी से पहले ही लगभग समाप्त हो गई थी। पिछले दशकों से मृत्यु दर में जो कमी आयी है उसमें प्लेग पर नियन्त्रण की कोई भूमिका नहीं है। हालांकि चेचक और हैजे की रोकथाम से स्थिति में बहुत सुधार हुआ है इससे स्पष्ट है कि इन महामारियों की रोकथाम से मृत्यु दर नीची हुई है।

मलेरिया और तपैदिक की बीमारी की रोकथाम आज आजादी के दौर की अपेक्षा काफी कमी हुई है। आज मलेरिया के नियन्त्रण से न केवल करोड़ों लोगों की जानें बचाई जा सकी हैं बल्कि उन लोगों के जीवन की भी रक्षा हुई है जो मलेरिया से पीड़ित हो जाने के बाद कमजोरी की अवस्था में दूसरे रोगों से ग्रस्त हो जाते थे। तपैदिक की रोकथाम में अपेक्षाकृत थोड़ी सफलता मिली है। स्वतन्त्रता से अब तक अधिकतर लोगों के पोषण के स्तर में ज्यादा सुधार नहीं हुआ है। गरीबी का विस्तार अब भी अधिक है और आधी जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे से गुजर रही है फिर भी गांवों और शहरों में पीने के लिए शुद्ध जल की आपूर्ति में सुधार किये गए हैं और इसका असर मृत्यु दर कम करने में सहायक हुआ है। स्वच्छता और स्वास्थ्य रक्षा की दिशा में चेतना ज्यादा नहीं है लेकिन देखा जाए तो शिक्षा और चिकित्सा की बढ़ी हुई सुविधाओं से अन्य बीमारियों की भी रोकथाम हुई है और इसके फलस्वरूप मृत्यु दर नीची हुई है। अभी सरकार के नये प्रयासों से विभिन्न रोगों से बच्चों को बचाने के लिए टीके लगाने की सुविधाएं बढ़ी हैं। अधिक से अधिक व्यक्तियों में इस बारे में चेतना भी विकसित हुई है। फलतः बाल मृत्यु दर नीचे आई है।

ऊंची जन्म दर जनसंख्या वृद्धि का प्रमुख कारण है वर्तमान भारत में जन्म दर आज भी ऊंची है और उम्मीद यह थी कि शायद परिवार नियोजन कार्यक्रम के फलस्वरूप यह नीची होगी, निराधार घटित हुई है। भारत में जन्म-दर को बढ़ाने वाले आर्थिक, सामाजिक तथा जनांकिकीय सभी प्रकार के

कारण विद्यमान रहे हैं तथा आज भी विद्यमान हैं। देश की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियां भी बदल रही हैं, परन्तु इनके परिवर्तन की गति बहुत धीमी है और इसलिए यहाँ जन्म दर भी धीमी गति से ही घट पा रही है।

आर्थिक वातावरण का मनुष्य के व्यवहार पर काफी प्रभाव होता है। यहां तक कि जनन क्षमता भी आर्थिक कारकों से प्रभावित होती है भारत के व्यावसायिक ढाँचे में प्राथमिक व्यवसायों का बाहुल्य है। यहाँ लगभग दो तिहाई से अधिक जनसंख्या कृषि में लगी हुई है जिसके लिए परिवार का बड़ा आकार ही उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि यहाँ कृषि परम्परागत पुराने ढंग से की जाती है जिसमें अधिक श्रम शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। खेती में लगे हुए लोगों के लिए बालक लम्बे अर्से तक भार नहीं होते। बहुत कम आयु में ही वे पशुओं को चराने, खेतों की रखवाली करने, निराई करने आदि में परिवार का हाथ बंटाने लगते हैं। इसलिए कृषक अधिक संतान को बुरा नहीं समझते। यहाँ प्रश्न उठता है कि जिस देश में बेरोजगारी और रोजगार के सीमित अवसर उपलब्ध हों तो वहाँ बाल-श्रम की परिवार के लिए अधिक उपयोगिता नहीं होगी। लेकिन इस तर्क में कोई सच्चाई है या नहीं इसे समझने के लिए कृषि कार्यो का स्वरूप क्या है ? इस पर व्यापक विमर्श अपेक्षित है। भारत में जहाँ खेती की तकनीक पिछड़ी है साथ ही कृषि कार्य में जुताई और फसलों की कटाई, निराई आदि के लिए ज्यादा श्रम की जरूरत होती है वहाँ बाल श्रम की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि "कृषि के बहुत व्यस्त मौसम में अनेक स्थानीय क्षेत्रों में श्रम की कमी हो जाने से श्रम बाजार में बाल श्रम की खपत हो जाती है।"[६] औद्योगिक क्षेत्रों में प्रायः यह देखा गया है कि छोटी आयु में ही बच्चों को उत्पादन कार्य में लगा पाना सम्भव नहीं होता है। इसके अलावा शहरों में मजदूरों के सामने आवास की भी समस्या रहती है इसलिए वे कोशिश करते हैं कि परिवार छोटा रहे। यहाँ औद्योगीकरण का स्तर नीचा है और इसका परिणाम यह है कि जनसंख्या का व्यावसायिक दृष्टि से वितरण बदला नहीं है इससे लोगों में शहरी मानसिकता का विकास नहीं हो पाया है। इसलिए जन्म दर ऊंची बनी हुई है।

भारतीय समाज अभी बहुत हद तक ग्रामीण समाज है। अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ नगरीकरण कम हुआ है। शहरों में आवास की समस्या, बच्चों का महंगा लालन-पालन, संयुक्त परिवार का टूटना आदि वे बहुत सारे कारण हैं जिनमें जन्म दर में कमी होती है क्योंकि भारत में जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि गाँवों की तुलना में शहरों में जन्म दर थोड़ी नीची है लेकिन यह मुख्य रूप से शहरों में ऊंचे पुरूष-स्त्री अनुपात के कारण हैं। प्रवीण विसारिया जन्म दर नीची लाने के लिये प्रायोजित ढंग से शहरीकरण को प्रोत्साहन देने के पक्ष में नहीं हैं। उनका तर्क है कि "श्रीलंका और थाइलैण्ड के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाना चाहिये कि शहरी का नीचा स्तर जरूरी तौर पर जन्म दर को नीचे लाने में बाधक नहीं होता है।"[७] बात यहीं समाप्त नहीं होती बल्कि शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों की जन्म दरों में कोई ज्यादा अन्तर नहीं है। लेकिन रोबर्ट कैसन के अनुसार - "भारत में जो शहरीकरण हुआ है उसके साथ इस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन नहीं हुये हैं जो जन्म दर को नीचे लाते हैं। दरअसल समाजशास्त्रीय अध्ययनों के अनुसार ग्रामीण जीवन की सामाजिक व्यवस्था और वहाँ का पारिवारिक ढाँचा कस्बों अथवा शहरों में आश्चर्यजनक ढंग से जीवित है।"[८]

भारत में व्याप्त बाल श्रम की प्रथा परिवार के आकार को छोटा रखने के विरूद्ध कार्य करती

है। कम आय वाले परिवारों में बच्चों पर जितना व्यय होता है वे उससे अधिक कमा लेते हैं। बच्चों का आर्थिक बोझ माता-पिता पर नहीं पड़ता। इस तरह वे परिवार को छोटा रखने के प्रति रूचि नहीं रखते। प्रति व्यक्ति आय निम्न तथा रहन-सहन का स्तर नीचा होने के कारण भी जनसंख्या वृद्धि होती है। इन लोगों के पास मनोरंजन के साधनों का अभाव होता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि निम्न स्तर पर रहने वाला व्यक्ति सामान्यता अपने बच्चों के लिए बहुत ऊंचे स्तर की बात नहीं सोच पाता। रहन-सहन का नीचा स्तर रहने पर शिक्षा का स्तर तथा विवाह की आयु भी नीची रहती है। अज्ञानता के कारण यह लोग परम्पराओं एवं रूढ़ियों में बंधे रहते हैं। अधिकतर देखा जाता है कि ऐसे परिवारों में जन्म दर ऊंची ही रहती है। यह तथ्य सर्वमान्य है कि धनवानों की अपेक्षा गरीबों के अधिक बच्चे होते हैं।

भारत में ऊंची जन्म दर बनाये रखने में सामाजिक कारकों का योगदान बहुत है। विवाह की व्यापकता, विवाह के समय कम उम्र का होना, धार्मिक और सामाजिक अंधविश्वास, संयुक्त परिवार प्रणाली, शिक्षा का अभाव और संतति निरोधक उपायों का सीमित उपयोग निम्न महत्वपूर्ण कारण हैं जिनकी वजह से इस देश में जन्म दर नीची नहीं हो पा रही हैं।

विवाह की आयु भारत में कम होने के साथ-साथ यहाँ सबका विवाह होना आवश्यक समझा जाता है। यह समझा जाता है कि विवाह के बिना व्यक्ति अधूरा है तथा वह बिना विवाह के किसी धार्मिक अनुष्ठान में भाग नहीं ले सकता। छोटी आयु में विवाह के कारण यहाँ प्रजनन क्रिया भी कम आयु में प्रारम्भ हो जाती है। शीघ्र विवाह से अधिक प्रजनन के लिए अधिक समय प्राप्त होता है कुल सन्तानोत्पादकाल जितना अधिक लम्बा होगा उतने ही अधिक बच्चों के पैदा होने की सम्भावना रहती है। सर्वेक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कम आयु में विवाह होने से जन्म दर बढ़ती है जबकि अधिक आयु में विवाह होने पर जन्म दर घटती है। देश में शिक्षा के प्रसार के साथ जब विवाह के बारे में लोगों के दृष्टिकोण बदलेंगे और काफी स्त्रियां विवाह नहीं करेंगी तभी जनसंख्या वृद्धि पर कुछ रोक लगेगी। लेकिन भारत में अभी ऐसी सम्भावना दिखाई नहीं देती है।

धार्मिक और सामाजिक अन्धविश्वास के कारण जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है क्योंकि भारतीय जीवन अभी भी धर्म की रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के वश में कहा जा सकता है। धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के विरूद्ध लोगों को समझाना कठिन होता है। परम्पराओं एवं रूढ़ियों के कारण सीधे-साधे लोग अभी भी प्रकृति के विरूद्ध किया गया कोई प्रयास अच्छा नहीं समझते। प्रजनन के सम्बन्ध में भी लगभग यही भावना कार्य करती है। हिन्दू तो पुत्र को परलोक में मुक्ति के लिए आवश्यक समझते हैं। इसी वजह से विवाह होते ही लोग सन्तानोत्पत्ति में लग जाते हैं। बहुत से लोग तो पुत्र जन्म की इच्छा से उस समय तक सन्तानें पैदा करते रहते हैं जब तक कि उनकी मनोकामना पूरी नहीं हो जाती। "यदि एक वर्ग को दो बच्चों के सीमित परिवार के लिये मना भी लिया जाये तो दूसरे वर्ग को नहीं मनाया जा सकता, क्योंकि वे बच्चों को भगवान की देन समझते हैं। इसी मानसिकता को भुनाती हैं राजनीतिक पार्टियां। देश की विकास दर इसलिये धीमी है क्योंकि यहाँ सरकारी निर्णयों को सब लोग मानने को बाध्य नहीं है। कारण यहाँ सब धर्मों के लोग रहते हैं। ऐसे में जनसंख्या विस्फोटन के कगार पर खड़ा देश बेचारगी के साथ, कम जनसंख्या वाले देशों की उन्नति को देखता हुआ, प्रगतिवाद का स्वप्न मात्र देखने पर मजबूर है।"[६]

संयुक्त परिवार भारत में अभी भी विद्यमान है। संयुक्त परिवार में पैदा होने वाले बच्चे के भरण-पोषण का दायित्व माता-पिता पर ही न होकर सम्पूर्ण परिवार का होता है। यदि परिवार का कोई सदस्य नौकरी करता है जिससे पर्याप्त आय हो रही हो। ऐसी स्थिति में सन्तान पैदा करने से पहले युवा दम्पत्ति कोई जिम्मेदारी अनुभव नहीं करते। उनका यह मानना है कि उनकी सन्तान के पालन-पोषण की जिम्मेदारी परिवार के नौकरी करने वाले व्यक्ति पर ही है।

भारत में शिक्षा का स्तर अभी भी बहुत नीचा है। देश में अभी हम २००१ की जनगणना के अनुसार ६४.३८ प्रतिशत शिक्षित हैं। जिसमें पुरुष ७५.३५ तथा महिलायें ५४.७६ है। स्त्रियों का साक्षरता अनुपात पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम है जबकि १९९१ की जनगणना के अनुसार भारत में साक्षरता का प्रतिशत ५२.२ है। "२००१ की जनगणना के अनुसार स्त्रियों का साक्षरता प्रतिशत ५३.७ प्रतिशत तथा पुरुषों का ७५.३१ प्रतिशत था।"[१०]

शिक्षा जन्म दर को प्रभावित करने वाले घटकों में सबसे प्रमुख है क्योंकि शिक्षा मनुष्य को युक्तपरक तथा बुद्धिमान बनाकर परिवार के आकार को सीमित करने की प्रेरणा प्रदान करती है। शिक्षित व्यक्ति परिवार के छोटे आकार के महत्व को समझता है तथा वह सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़िवादिता एवं अन्धविश्वास से कम प्रभावित होता हैं। शिक्षा की कमी से लोग साधारणतया परिवार नियोजन सम्बन्धी सुविधाओं की न तो जानकारी रखते हैं और न ही सुविधाओं का लाभ ही उठा पाते हैं। सर्वेक्षणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि शिक्षा के स्तर तथा जन्म दर में विपरीत सह-सम्बन्ध पाया जाता है। विद्वानों का मानना है कि शिक्षा के स्तर के बढ़ने के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक तथा ऐसे जनांकिकीय परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे जन्म दर अन्ततः अवश्य घट जाती है।

संतति निरोधक उपायों का प्रयोग सामान्यतः नगरों की शिक्षित जनसंख्या तक ही सीमित है। "यद्यपि गांवों में भी राज्य द्वारा इसके लिए प्रचार-प्रसार सम्बन्धी कार्य चल रहे हैं। भारत में संतति निरोध के लिए तरह-तरह की सुविधाएं प्रदान की जा रही हैं फिर भी यहां अधिक सफलता नहीं मिल सकी है।"[११]

भारतीय समाज में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का महत्व कहीं अधिक है। हिन्दू धर्म के अनुसार पुत्र का होना बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि पुत्र के पैदा होने से ही माता-पिता मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। केवल पुत्र ही वंश चलाता है, पुत्रियां विवाह के उपरान्त परिवार से बाहर चली जाती हैं। पुत्र से आर्थिक संरक्षण प्राप्त होता है जो पुत्री से नहीं प्राप्त हो सकता। चूँकि भारतीय समाज खेतिहर समाज है और खेती में श्रम शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो पुत्र से ही प्राप्त हो सकती है। यही कारण है कि कई पुत्रियों के होते हुए भी पुत्र की कामना में लोग बच्चे पैदा करते जाते हैं। इस तरह परिवार का आकार बड़ा हो जाता है।

आयु संरचना एवं जलवायु के कारण यहां की जनसंख्या में वृद्धि होती है। साथ ही प्राप्त आयु संरचना भी यहां की जन्म दर बढ़ाने में सहायक हैं। थोड़ा आंकड़ों पर गौर करें तो ३६ प्रतिशत जनसंख्या ०-१४ आयु वर्ग में, ५७ प्रतिशत जनसंख्या १५-५९ आयु वर्ग में तथा ७ प्रतिशत ६० वर्ष से अधिक वर्ग में हैं। स्पष्टया यहाँ प्रजनन योग्य आयु में लोगों की संख्या अधिक है जिससे सन्तानोत्पत्ति अधिक होती है इसके अतिरिक्त यहां की गर्म जलवायु भी लड़के लड़कियों को कम आयु

में प्रजनन योग्य बना देती है।

जनसंख्या विस्फोट की स्थिति को नियन्त्रण में लाने के लिए आर्थिक क्षेत्र में औद्योगीकरण[12] की प्रक्रिया को तेज करना होगा, साथ ही साथ शहरों[13] का विकास करना होगा तब जाकर जन्म दर में नियन्त्रण स्थापित होगा। सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्थाओं के साथ वृद्धावस्था में सन्तान पर निर्भरता समाप्त हो जाएगी। परिवार तथा विवाह सम्बन्धी दृष्टिकोणों में परिवर्तन होंगे और संतति निरोध के उपाय अधिक लोकप्रिय होंगे जिससे जनसंख्या वृद्धि की गति धीमी पड़ेगी। यह सच है कि भारत में ऊंची जन्म दर हमारी संस्कृति का अंग है और जब समाज की नैतिक मनोवृत्तियां बदलेंगी चाहे वह अपनी इच्छा से हो या परिस्थितियों के कारण तभी इस देश में अन्य देशों की भांति जन्मदर में कमी की आशा की जा सकेगी।

चूंकि तीन-चौथाई भारत गांवों में बसता है यहां की मान्यताएं बिल्कुल नहीं बदल पाई हैं साथ ही उनके जीवन-यापन के तरीकों, परिवार के प्रति दृष्टिकोण तथा आस्थाओं आदि में कोई विशेष परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता है। अतः भारत के परम्परागत समाज में ऐसे उपायों को लागू किया जाना चाहिए जिससे जन्म दर में कमी आ सके। इसके लिए सर्वप्रथम यह कार्य किया जाना चाहिए कि शहरी क्षेत्र में अपनी पर्याप्त भूमिका निभाने वाले परिवार नियोजन कार्यक्रम का केन्द्र शहरों से यथाशीघ्र गांवों में भेज दिया जाना चाहिए। भारत में जनसंख्या कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि सामाजिक वातावरण में कुछ संरचनात्मक परिवर्तन किया जाय। प्रजननशीलता न केवल जैविक घटना है वरन् उससे समाज की सभी प्रकार की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। अतः उन सभी सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है जो परिवार नियोजन के मार्ग में बाधक हैं। सबसे बड़ी बाधा इस दिशा में लड़की की अपेक्षा लड़कों को अधिक महत्व दिया जाना है। अधिकतर परिवार लड़कों की आकांक्षा वंश को बनाए रखने के लिए तथा बुढ़ापे में सहारे के लिए होती है। यही कारण है कि दो या तीन लड़कियों वाला दम्पत्ति भी लड़का उत्पन्न होने की प्रत्याशा में परिवार नियोजन की विधियों को प्रयोग में नहीं लाता। अतः यदि ऐसी व्यवस्था की जाय कि लोगों को वृद्धावस्था में पेन्शन तथा अन्य सुविधाएं प्राप्त होने लगें तो वे बच्चों के प्रति इतना जागरूक नहीं होंगे। उत्तराधिकार के नियमों में सुधार कर लड़कियों के लिए रोजगार, नारी का समाज में विशिष्ट स्थान, शिक्षा आदि से लड़की की भूमिका बढ़ाई जा सकती है ताकि माता-पिता लड़की-लड़का में भेद न करें।

बड़े परिवार के आकार को रोकने के लिये लोगों को प्रेरित किया जाना चाहिए, इसके लिए आवश्यक है कि शिशु-मृत्यु दर में कमी लाई जाय। इसके लिए आवश्यक है कि गांवों तथा सुदुरवर्ती क्षेत्रों में परिवार नियोजन कार्यक्रम के लाभों का सघन प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए। लोगों की शिक्षा के स्तर में सुधार किया जाना चाहिए ताकि वे परिवार नियोजन के सम्बन्ध में विवेकपूर्ण निर्णय ले सकें।

यदि परिवार का आकार छोटा होगा तब लोगों के पास उपलब्ध साधन अधिक होंगे जिससे वे अपनी सन्तान का भविष्य बेहतर बना सकते हैं। छोटे परिवार को प्रेरित करने के लिए आवश्यक है कि परम्परागत मूल्यों में परिवर्तन किया जाय। लोगों को प्रेरित करने के लिए स्वयंसेवी संस्थाओं, सरकार तथा विभिन्न राजनैतिक दलों को एकजुट होकर प्रयास करना चाहिए। लोगों को प्रेरित करने के लिए छोटे आकार वाले परिवारों को पोषक-आहार, शिक्षा, रोजगार की विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए तथा

ऐसे परिवारों के आय के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए आसान बिलों पर ऋण सुविधा उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि एक अन्तराल तक नीची मृत्यु दर के साथ ऊंची जन्म दर बनी रह सकना असम्भव है परन्तु हमें यह मालूम होना चाहिए कि किसी समाज में जन्म दर को किस प्रकार नीचे लाया जा सकता है यह एक बहुत गम्भीर समस्या है क्योंकि इसे हल करने के लिए धीरे-धीरे चलने वाली शहरीकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है जैसे कि पाश्चात्य देशों में होती है।

सन्दर्भ

१. पर्यावरण : वर्तमान और भविष्य, डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ. १०४
२. भारत की सामाजिक समस्याएं, जनसंख्या विस्फोट, एन. एन. ओझा, पृ. ५६
३. सम्पादकीय, दैनिक जागरण, कानपुर, ११ जुलाई २००८
४. भारत की सामाजिक समस्याएं, जनसंख्या विस्फोट, एन. एन. ओझा, पृ. ५९
५. भारतीय अर्थव्यवस्था, एस. के. मिश्रा एण्ड वी. के. पुरी, पृ. १२१
६. गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया मिनिस्ट्री आफ लेबर ब्यूरो, रूरल लेवर इन्क्वायरी १९६३-६५ फाइनल रिपोर्ट, पृ. १५१
७. पापुलेशन इन विमल जालान (इ डी) द इण्डियन इकोनोमी, प्राव्लम्बस एण्ड प्रास्पेक्टस न्यू देहली १९२१, प्रवीण विसारिया, पृ. २८३
८. पापुलेशन कन्ट्रोल एम्स एण्ड पोलसीज इन पी स्ट्रीटेन एण्ड एम लिपटन (इडस) द काइसिस आफ इण्डियन प्लानिंग (आक्सफोर्ड १९५८) रोबर्ट कैसन, पृ. २५२
९. मोर्चे पर स्त्री, अंजु दुआ जेमिनी, पृ. १८
१०. सेन्सस २००१, जनसंख्या एवं नगरीकरण- समसामयिक घटनाचक्र, पृ. १३
११. कथा परिवार नियोजन की, हस्तक्षेप सहारा समय, पृ. ३४-३५
१२. भारत की सामाजिक समस्याएं, जनसंख्या विस्फोट, एन. एन. ओझा, पृ. ६२
१३. भारत की सामाजिक समस्याएं, जनसंख्या विस्फोट, एन. एन. ओझा, पृ. ६२

सुलगते सवाल

सामाजिक–आर्थिक परिदृश्य और पर्यावरण

*नीतेश धवन एवं **डॉ. विवेक सिंह

पर्यावरण मूलतः उन परिस्थितियों का समग्र स्वरूप है जो दिये हुए समय व स्थान में व्यक्ति को आच्छादित करता है। पर्यावरण और परिस्थितिकी व्यक्ति और उसके वातावरण के मध्य उस अन्तर्सम्बन्ध की ओर इंगित करता है जो जैवीय, अजैवीय एवं ऊर्जा कारकों की पारस्परिक अन्तर्क्रिया पर आधारित होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पर्यावरण का स्वरूप इस बात पर निर्भर करेगा कि वातावरण में उपस्थिति विभिन्न तत्व आपस में किस तरह की अन्तर्क्रिया करते हैं। समय व्यतीत होने के साथ ही यह सम्बन्ध सरल से जटिल की ओर अग्रसर हुआ है। प्राचीन युग में व्यक्ति पर्यावरण का एक हिस्सा मात्र था जो अपने जीवन यापन के लिए उस पर आश्रित रहता था। इसके पश्चात व्यक्ति ने एक सामाजिक प्राणी होने के नाते पशुपालन को अपनाया और फलस्वरूप अपने जीवन के जीने का एक नया मार्ग ढूँढा, धीरे-धीरे व्यक्ति आर्थिक प्राणी के रूप में सामने आया और व्यावसायीकरण की प्रक्रिया को अपनाते हुए कृषि एवं कृषि आधारित उद्योगों को अपने लाभ के लिए उपयोग किया अर्थात इस समय वह एक परिवर्तन का माध्यम हो गया था। वर्तमान परिदृश्य वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी का युग है जहाँ व्यक्ति प्रौद्योगिक प्राणी बनकर अपने पर्यावरण का शोषण, आर्थिक उन्नति और सामाजिक समृद्धि के नाम पर कर रहा है। आशय यह है कि समय के साथ व्यक्ति निष्क्रिय से सक्रिय और फिर इसके पश्चात शोषक की भूमिका में सामने आया है जिसके परिणाम स्वरूप पारिस्थितिकी सन्तुलन निरन्तर खतरे की दिशा में बढ़ रहा है।

उपर्युक्त वर्णित वस्तु-स्थिति के परिप्रेक्ष्य में यह दृष्टव्य है कि मानव-संस्कृति में परिवर्तन घटित हुआ है। प्राचीन युग की आध्यात्मिक संस्कृति से बढ़ते हुए हम भौतिक संस्कृति में प्रवेश कर चुके हैं। रूढ़िवादी और संकुचित मनोवृत्ति का स्थान उदारवादी एवं उपयोगिता आधारित मूल्यों ने ले लिया है। जहाँ किसी भी वस्तु की उपादेयता इस तथ्य पर आधारित रहती है कि वह आर्थिक दृष्टिकोण से व्यक्ति के लिये कितनी उपयोगी है और सम्पूर्ण पर्यावरण इसी मानसिकता के कारण प्रभावित हो रहा है। ९० के दशक के पश्चात् उदारीकरण, वैश्वीकरण एवं निजीकरण की नीतियों के लागू होने के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था में एक ऐसा बदलाव आया जिसने पूँजीवाद को बढ़ावा दिया और आर्थिक संवृद्धि को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यह आर्थिक परिवर्तन का एक पक्ष था। इसके ठीक विपरीत वह समस्याएं पनप रही थीं जिसका गहरा प्रभाव सम्पूर्ण जनमानस के जीवन पर दिखायी देने लगा। खुली आर्थिक नीति से जहाँ नये उद्योगों एवं प्रौद्योगिकी को स्थापित होने का अवसर प्राप्त हुआ वहीं तीव्र जनसंख्या वृद्धि से व्यक्ति गाँव से शहर की ओर पलायन करने लगा, इनके प्रभाव से नगरीकरण को बढ़ावा मिला, स्रोतों का ह्रास हुआ, जलस्तर में

* अतिथि प्रवक्ता, समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
** अतिथि प्रवक्ता, व्यावहारिक एवं क्षेत्रीय अर्थशास्त्र विभाग, महात्मा ज्योतिबाफुले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

गिरावट आयी, मलिन-बस्तियों का विस्तार हुआ, ऊर्जा के संसाधन क्षीण होने लगे और निष्कर्षतः पारिस्थितिकीय सन्तुलन विकृति होने लगे। जलवायु परिवर्तन, ओजोन परत का क्षरण, धरती का बढ़ता तापमान, नदियों का सूखना आदि ऐसी चुनौतियाँ हमारे सम्मुख उत्पन्न हो गयी हैं जिनका समाधान हमने अगर निकट भविष्य में न किया तो देश को ही नहीं वरन् समूचे विश्व को इसके दुष्परिणाम भोगने पड़ेगें।

जनसंख्या वृद्धि

↓

मानवीय गतिविधियों में वृद्धि

↓

भौतिक संस्कृति का प्रभाव

↓

उपयोगिता/लाभ आधारित मनोवृत्ति

↓

संसाधनों के उपभोग के लिये संघर्ष

↓

संसाधनों का शोषण

↓

भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति

↓

पर्यावरण पर बढ़ते नकारात्मक प्रभाव

बढ़ती पर्यावरणीय अनिश्चितता एक अत्यन्त चिंता का विषय है, समस्त संसाधनों (भौतिक एवं प्राकृतिक) का ह्रास पर्यावरणीय प्रदूषण, जैवविविधता का क्षरण आदि ऐसे प्रश्न चिन्ह हैं जिनका उत्तर शीघ्र ही ढूँढना होगा। ऐसा न होने पर धारणीय विकास की अवधारणा मात्र परिकल्पना बनकर ही रह जायेगी। इस अनिश्चितता की चुनौती को स्वीकार करते हुए पर्यावरणीय अनुमान्यता को विकसित करना चाहिए जिसमें कुशल पर्यावरणीय प्रबन्धन के द्वारा विभिन्न नकारात्मक प्रभावों को नियन्त्रित किया जा सकता है।

पारिस्थितिकीय संतुलन की अवस्था को प्राप्त करने के लिए धारणीय विकास की अवधारणा को आत्मसात करना होगा। धारणीय विकास से अभिप्राय विकास की उस प्रक्रिया से है जो भावी पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरी करने की योग्यता को बिना कोई हानि पहुँचाये वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरा करती है। राबर्ट रेपिटो के अनुसार "धारणीय विकास का अर्थ विकास की वह रणनीति है जो सभी प्राकृतिक, मानवीय, वित्तीय तथा भौतिक संसाधनों का सम्पत्ति तथा आर्थिक कल्याण में दीर्घकालीन वृद्धि करने के लिए प्रबन्ध करती है। इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि प्राकृतिक संसाधनों के विचारपूर्वक प्रयोग पर ही वास्तविक प्रति व्यक्ति आय तथा आर्थिक कल्याण में दीर्घकालीन वृद्धि की जाये। साथ ही भावी पीढ़ी की अपनी आवश्यकताओं की योग्यता में कमी न हो एवं प्रदूषण में वृद्धि न हो।

वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति जिसने प्राकृतिक संसाधनों के अधाधुन्ध प्रयोग को बढ़ावा दिया है और जिसके कारण पर्यावरण पर विध्वंसक प्रभाव पड़ रहा है। उस प्रवृत्ति को सीमित करने के लिये निम्नलिखित प्रयास किये जाने चाहिये।

- ✦ पर्यावरणीय शिक्षा द्वारा पर्यावरण के प्रति लोगों में सकारात्मक मनोवृत्ति का विकास करना,
- ✦ पर्यावरण संरक्षण कानून का सख्ती से पालन किया जाना,
- ✦ उचित वृक्षारोपण,
- ✦ औद्योगिक एवं कृषि प्रदूषण पर नियन्त्रण,

- कूड़ा-करकट का उचित प्रबन्ध एवं अपशिष्टों का पुनः चक्रण,
- आवास व्यवस्था में सुधार,
- साधन दक्ष्य तकनीक का उपयोग,
- LPG एवं CNG जैसे पर्यावरण मित्र ऊर्जा स्रोतों का प्रयोग,
- सूर्य किरणों का सौर ऊर्जा में एवं सौर ऊर्जा का विद्युत शक्ति में रूपान्तरण,
- रासायनिक निस्सरण से निपटने के लिए कठोर कानून बनाया जाना,
- अन्तः पीढ़ी समानता के लिए प्राकृतिक परिसम्पत्तियों के संरक्षण के लिए जागरुकता उत्पन्न करना,
- इकोलेबलिंग एवं हरित विपणन जैसी प्रावधियों का उपयोग करना,
- वाह्य क्षेत्र प्रबन्धन एवं वाटर-हारवेस्टिंग,
- पारिस्थितिकीय कृषि की प्रविधि को अपनाया जाना,

मानव-पर्यावरण अन्तर्सम्बन्ध एक बहुत ही संवेदनशील अवस्था से गुजर रहा है, जिसमें समस्त उपायों को लागू करने से पहले पर्यावरण के प्रति उचित मनोवृत्ति का विकास किया जाना परम आवश्यक है। सामाजिक मूल्यों पर आधारित इस सम्बन्ध का स्वरूप अच्छे या बुरे रूप में प्रभावित हो सकता है अर्थात् हमारी प्राथमिकताएं और उसको प्राप्त करने के लिए अपनाया जाने वाला दृष्टिकोण परिस्थितिकीय सन्तुलन की दिशा एवं दशा को तय करेगा। संक्षेप में कहा जाये तो आर्थिक विकास और पर्यावरण संरक्षण एक दूसरे के पूरक हैं और जितनी तत्परता के साथ हम इसके प्रति संवेदनशील होंगे उतनी ही तीव्रता से पर्यावरणीय संतुलन स्थापित होगा।

यौन शिक्षा – चुनौतीपूर्ण किन्तु आवश्यक प्रक्रिया

*डॉ. कुमारेन्द्र सिंह सेंगर

'यौन शिक्षा', यदि इसके आगे कुछ भी न कहा जाये तो भी लगता है कि किसी प्रकार का विस्फोट होने वाला है। हमारे समाज में 'सेक्स' अथवा 'यौन' को एक ऐसे विषय के रूप में सहज स्वीकार्यता प्राप्त है जो पर्दे के पीछे छिपाकर रखने वाला है; कहीं सागर की गहराई में दबाकर रखने वाला विषय है। यह भारतीय समाज के संस्कारित परिवेश का परिणाम है अथवा 'सेक्स' को सीमित परिधि में परिभाषित करने का परिणाम है कि समाज में 'सेक्स' सभी के जीवन में भीतर तक घुला होने के बाद भी 'आतंक' का पर्याय है। यह बात सत्य हो सकती है कि भारतीय, सामाजिक, पारिवारिक परम्पराओं के चलते 'सेक्स' ऐसा विषय नहीं रहा है जिस पर खुली बहस अथवा खुली चर्चा की जाती रही हो। 'सेक्स' को मूलतः दो विपरीत लिंगी प्राणियों के मध्य होने वाले शारीरिक संसर्ग को समझा गया है (चाहे वे प्राणी मनुष्य हों अथवा पशु-पक्षी) और इस संकुचित परिभाषा ने 'सेक्स एजूकेशन' अथवा 'यौन शिक्षा' को भी संकुचित दायरे में ला खड़ा कर दिया है।

'यौन शिक्षा' अथवा 'सेक्स एजूकेशन' के पूर्व 'सेक्स' को समझना आवश्यक होगा। 'सेक्स' का तात्पर्य आम बोलचाल की भाषा में 'लिंग' अथवा शारीरिक संसर्ग से लगाते हैं। 'सेक्स' अथवा 'सेक्स एजूकेशन' का अर्थ मुख्यतः मनुष्य, पशु-पक्षी (विशेष रूप से स्त्री-पुरुष) के मध्य होने वाली शारीरिक क्रियाओं से लगा कर इसे चुनौतीपूर्ण बना दिया है। एक पल को 'सेक्स एजूकेशन' के ऊपर से अपना ध्यान हटाकर मानव जीवन की शुरुआत से उसके अंत तक दृष्टिपात करें तो पता लगेगा कि 'सेक्स एजूकेशन' का प्रारम्भ तो उसके जन्म लेने के साथ ही हो जाता है। इसे उम्र के कुछ प्रमुख पड़ावों के साथ आसानी से समझा जा सकता है –

एक-दो वर्ष से लेकर चार-पाँच वर्ष तक की उम्र तक के बच्चे में अपने शरीर, लैंगिक अंगों के प्रति एक जिज्ञासा सी दिखाई देती है। इस अबोध उम्र में बच्चे अपने यौनिक अंगों को छूने, उनके प्रदर्शन करने, एक दूसरे के अंगों के प्रति जिज्ञासु भाव रखने जैसी क्रियाएँ करते हैं। यही वह उम्र होती है जब बच्चों (लड़के, लड़कियों में आपस में) में जिज्ञासा होती है कि वे इस धरती पर कैसे आये ? कहाँ से आये ? या फिर कोई उनसे छोटा बेबी कहाँ से, कैसे आता है ? इस जिज्ञासा की कड़ी में आपने इस उम्र के बच्चों को 'पापा-मम्मी', 'डॉक्टर' का खेल खेलते देखा होगा। परिवारों के लिए यह हास्य एवं सुखद अनुभूति के क्षण होते हैं पर बच्चे इसी खेल-खेल में एक दूसरे के यौनिक अंगों को छूने की, उन्हें देखने की, परीक्षण करने की चेष्टा करते हैं (वे आपस में सहजता से ऐसा करने भी देते हैं) पर इसके पीछे किसी प्रकार की 'सेक्सुअलिटी', शारीरिक सम्बन्धों वाली बात न होकर सामान्य रूप से अपनी शारीरिक भिन्नता को जानने-समझने का अबोध प्रयास मात्र होता है। इस उम्र में एक प्रकार की लैंगिक विभिन्नता उन्हें आपस में दिखायी देती है; लड़के-लड़कियों को अपने यौनिक अंगों में असमानता; मूत्र त्याग करने की प्रक्रिया में अन्तर; शारीरिक संरचना में विभिन्नता दिखती है जो निश्चय ही उनके 'लैंगिक बोध' को जाग्रत करतीं हैं। देखा जाये तो यह उन बच्चों की दृष्टि में यह 'सेक्सुअल' नहीं है, शारीरिक संपर्क की परिभाषा में आने वाला

* 110, रामनगर, सत्कार के पास, उरई (जालौन)

'सेक्स' नहीं है।

पाँच वर्ष से दस वर्ष तक की उम्र के बच्चों में अपने लड़के एवं अपने लड़की होने का एहसास उस अवस्था में आ जाता है जहाँ उनकी लैंगिक जिज्ञासा तीव्रता पकड़ती है पर वे एक दूसरे से अपने यौनिक अंगों के प्रदर्शन को छिपाते हैं। लड़के-लड़कियों में एक-दूसरे के प्रति मेलजोल का झिझक भरा भाव होता है। इस समयावधि में 'सेक्स' से सम्बन्धित जानकारी, शारीरिक परिवर्तनों से सम्बन्धित जानकारी के लिए वे समलिंगी मित्र-मण्डली की मदद लेते हैं। इस आधी-अधूरी जानकारी को जो टी०वी०, इण्टरनेट, पत्र-पत्रिकाओं आदि से प्राप्त होती है, के द्वारा वे 'सेक्स' से सम्बन्धित शब्दावली, यौनिक अंगों से सम्बन्धित शब्दावली को आत्मसात करना प्रारम्भ कर देते हैं। यह जानकारी उन्हें भ्रमित तो करती ही है, अश्लीलता की ओर भी ले जाती है। इस समयावधि में शारीरिक विकास भी तेजी से होता है जो इस उम्र के बच्चों में शारीरिक आकर्षण भी पैदा करता है। लड़का हो या लड़की, इस उम्र तक वह विविध स्त्रोतों से बहुत कुछ जानकारी (अधकचरी ही सही) प्राप्त कर चुके होते हैं और यही जानकारी उनको 'सेक्स' के प्रति जिज्ञासा पैदा करती है जिस 'सेक्स' को शारीरिक क्रिया से जोड़ा जाता रहा है। हलांकि परिवार में इस उम्र से पूर्व वे बच्चे अपने माता-पिता अथवा घर के किसी अन्य युगल को शारीरिक संसर्ग की मुद्रा में अचानक या चोरी छिपे देख चुके होते हैं जो उसकी जिज्ञासा को और तीव्र बनाकर उसके समाधान को प्रेरित करती है; लड़कियों में शारीरिक परिवर्तनों की तीव्रता लड़कों के शारीरिक परिवर्तनों से अधिक होने के कारण उनमें भी एक प्रकार की जिज्ञासा का भाव पैदा होता है; अभी तक के देखे-सुने किस्सों, जानकारियों के चलते विपरीत लिंगी बच्चों में आपस में शारीरिक आकर्षण देखने को मिलता है।

खेल-खेल में, हँसते-बोलते समय, पढ़ते-लिखते समय, उठते-बैठते समय, भोजन करते या अन्य सामान्य क्रियाओं में वे किसी न किसी रूप में अपने विपरीत लिंगी साथी को छूने का प्रयास करते हैं। इस शारीरिक स्पर्श के पीछे उनका विशेष भाव (जो भले ही उन्हें ज्ञात न हो) अपनी यौनिक जिज्ञासा को शान्त करना होता है और इसमें उनको उस समय तृप्ति अथवा आनन्दिक अनुभूति का एहसास होता है जब वे अपने विपरीत लिंगी साथी के अंग विशेष -गाल, सीना, कंधा, जाँघ आदि-का स्पर्श कर लेते हैं। इस यौनिक अनुभूति के आनन्द के लिए वे विषेशतः बात-बात पर एक दूसरे का हाथ पकड़ते, आपस में ताली मारते भी दिखायी देते हैं।

दस वर्ष के ऊपर की अवस्था में आने के बाद शारीरिक परिवर्तन, शारीरिक विकास के साथ-साथ यौनिक विकास, यौनिक परिवर्तन भी होने लगता है। यह परिवर्तन लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में तीव्रता से एवं स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। लड़कियों में मासिक धर्म की शुरूआत उनमें एक प्रकार की जिज्ञासा तथा एक प्रकार का भय पैदा करती है। यही वह स्थिति होती है जब भारतीय परिवारों में सम्भवतः पहली बार किसी लड़की को अपनी माँ, चाची, भाभी, बड़ी बहिन आदि से 'सेक्स' को लेकर किसी प्रकार की जानकारी मिलती है। इस 'सेक्स एजूकेशन' में जिज्ञासा की शान्ति, जानकारियों की प्राप्ति कम, भय, डर, सामाजिक लोक-लाज का भूत अधिक होता है। ऐसी 'यौन शिक्षा' लड़कियों में अपने यौनिक-शारीरिक विकास के प्रति भय ही जाग्रत करती है, उनकी किसी जिज्ञासा को शान्त नहीं करती है।

लड़कों में यह स्थिति और भी भयावह होती है; परिवार से किसी भी रूप से कोई जानकारी न दिए जाने के परिणामस्वरूप वे सभी अपने मित्रों, पुस्तकों, इंटरनेट आदि पर भटकते रहते हैं और थोड़ी सी सही जानकारी के साथ-साथ बहुत सी भ्रामक जानकारियों का पुलिंदा थामें भटकते रहते हैं। शारीरिक विकास,

यौनिक अंगों में परिवर्तन, विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण, सेक्स सम्बन्धी जानकारी, शारीरिक संसर्ग के प्रति जिज्ञासा अब जिज्ञासा न रह कर प्रश्नों, परेशानियों का जाल बन जाता है। इसमें उलझ कर वे शारीरिक सम्बन्धों, टीनएज़ प्रेगनेन्सी, गर्भपात, यौनजनित रोग, आत्महत्या जैसी स्थितियों का शिकार हो जाते हैं।

इन सारी स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो क्या लगता नहीं है कि जिस यौनिक उत्तेजना, यौनिक जिज्ञासा, लैंगिक विभिन्नता, शारीरिक विभिन्नता, शारीरिक-यौनिक विकास, शारीरिक सम्बन्ध, विपरीत लिंगी आकर्षण के प्रति जिज्ञासुभाव बचपन से ही रहा हो उसका समाधान एक सर्वमान्य तरीके से हो, सकारात्मक तरीके से हो, न कि आधी-अधूरी, अधकचरी, भ्रामक जानकारी के रूप में हो ? यहाँ 'सेक्स एजूकेशन' की वकालत करने, उसको लागू करने अथवा देने के पूर्व एक तथ्य विशेष को मन-मस्तिष्क में हमेशा रखना होगा कि यह शिक्षा उम्र के विविध पड़ावों को ध्यान में रखकर अलग-अलग रूप से अलग-अलग तरीके से दी जानी चाहिए। ऐसा नहीं कि जिस 'यौन शिक्षा' के स्वरूप को हम छोटे बच्चों को दें वही स्वरूप टीनएजर्स के सामने रख दें।

यहाँ आकर यह तो स्पष्ट होता है कि 'यौन शिक्षा' क्यों और कैसी हो। बच्चों की दुनिया पर निगाह डालें तो हमें पता चलेगा कि ज्यादातर बच्चे-लड़के, लड़कियाँ दोनों ही-शारीरिक दुराचार का शिकार होते हैं। हम इसके कारणों का पता लगाये बिना इस अपराध को मिटाना तो दूर इसे कम भी नहीं कर सकते। बड़ी आयु के लोगों द्वारा बच्चों के शारीरिक शोषण की घटनाओं के साथ-साथ अब बच्चों द्वारा ही आपस में शारीरिक दुराचार की घटनायें भी सामने आने लगीं हैं। यहाँ हम बच्चों को 'यौन शिक्षा' के द्वारा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों, मासिक धर्म, गर्भधारण, शारीरिक सम्बन्धों की जानकारी देकर उनका भला नहीं कर सकते। इस उम्र के बच्चों को 'यौन शिक्षा' के माध्यम से समझाना होगा कि एक लड़के और एक लड़की के शारीरिक अंग क्या हैं। उनमें अन्तर क्या है। हमें बताना होगा कि उनके शरीर में यौनिक अंगों की महत्ता क्या है। इन अंगों का इस उम्र विशेष में कार्य क्या है। इन बातों के अलावा इस उम्र में वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'सेक्स एजूकेशन' के रूप में बच्चों को समझाना होगा कि किसी भी लड़का-लड़की के शरीर के यौनिक अंग उसके व्यक्तिगत अंग होते हैं, जिनका प्रदर्शन नहीं किया जाना चाहिए। शरीर के इन अंगों को न किसी को स्पर्श करने देना चाहिए न किसी दूसरे के यौनिक अंगों को स्पर्श करना चाहिए। किसी के कहने पर भी उसके इन अंगों का स्पर्श नहीं करना चाहिए और न ही अपने इन अंगों का स्पर्श करवाना चाहिए यदि कोई ऐसा करता भी है (भले ही प्यार से या कुछ देकर या जबरदस्ती) तो तुरन्त अपने माता-पिता, शिक्षकों अथवा किसी बड़े को इसकी जानकारी देनी चाहिए।

हमारे पारिवारिक-सामाजिक ढाँचें में अभी भी एक बहुत बड़ी खामी यह है कि यदि कोई बच्चा अपनी यौनजनित जिज्ञासा को शान्त करना चाहता है तो हम या तो उसे अनसुना कर देते हैं या फिर उसे डाँट-डपट कर शान्त करा देते हैं। यदि किसी रूप में उसके सवालों का जवाब देते हैं तो इतनी टालमटोल से कि बच्चा असंतुष्ट ही रहता है। यही असंतुष्टता उसे यौनिक हिंसा, शारीरिक दुराचार का शिकार बनाती है। माता-पिता, शिक्षकों को 'यौन शिक्षा' के माध्यम से बच्चों को उनकी जिज्ञासा को सहज रूप से हल करना चाहिए, हाँ, यदि सवाल इस प्रकार के हों जो उसकी उम्र के अनुभव से परे हैं अथवा नितान्त असहज हैं तो उनका उत्तर 'अभी आपकी उम्र इन सवालों को समझने की नहीं है' जैसे सुलभ वाक्यों के द्वारा भी दिया जा सकता है। बच्चों के प्रश्नों के उत्तर उनकी सवालों की प्रकृति और परिस्थितियों पर निर्भर करती है। इसी तरह टीनएजर्स की 'यौन शिक्षा' का स्वरूप अलग होगा।

'सेक्स एजूकेशन' को लेकर मेरा व्यक्तिगत

मत है कि इसकी विशेष आवश्यकता टीनएजर्स किशोरावस्था को है। यदि देखा जाये तो यह वह उम्र है जो 'सेक्स लाइफ' को अधिकतम जिज्ञासा से देखती है; जो अधिकतम संक्रमण के दौर से गुजर रही होती है। शारीरिक-यौनिक विकास एवं परिवर्तन, विपरीत लिंगी आकर्षण, शारीरिक सम्बन्धों के प्रति जिज्ञासा उन्हें शारीरिक सम्बन्धों की ओर ले जाती है जो विविध यौनजनित रोगों (एसटीडी) उपहार में देती है। शारीरिक-यौनिक विकास एवं परिवर्तन को समझने की चेष्टा में वे किसी गलत जानकारी, बीमारी का शिकार न हों, एच०आई०वी०/एड्स जैसी बीमारियों के वाहक न बनें इसके लिए इस उम्र के लोगों को 'सेक्स एजूकेशन' की आवश्यकता है। 'यौन शिक्षा' का पर्याप्त अभाव इस आयु वर्ग के लोगों को यौनिक जानकारी की प्राप्ति के लिए अपने मित्रों, ब्लू फिल्मों, पोर्न साइट आदि से करवाती है जो भ्रम की स्थिति पैदा करती है। इन स्त्रोतों से जानकारियाँ भ्रम की स्थिति उत्पन्न करने के साथ-साथ शारीरिक उत्तेजना भी पैदा करती है जो अवांछित सम्बन्धों, बाल शारीरिक शोषण, अप्राकृतिक सम्बन्धों आदि का कारक बनती है। अपनी शारीरिक-यौनिक इच्छापूर्ति मात्र के लिए किया गया शारीरिक-संसर्ग टीनएज प्रेगनेन्सी, गर्भपातों की संख्या बढ़ाने के साथ-साथ युवाओं में एस०टी०डी०, एच०आई०वी०/एड्स जैसी बीमारियों को तीव्रता से फैलाता है। एक सर्वे के अनुसार दिल्ली अकेले में एस०टी०डी० क्लीनिक में प्रतिदिन आने वाले मरीजों की संख्या का लगभग ५७ प्रतिशत १५-२२ वर्ष की आयु वर्ग के लड़के-लड़कियाँ हैं। 'यौन शिक्षा' का अभाव इस संख्या को और भी अधिक बढ़ायेगा।

'यौन शिक्षा' को देने के पीछे यह मन्तव्य कदापि नहीं होना चाहिए कि युवा वर्ग सुरक्षित शारीरिक सम्बन्ध बनाये, जैसा कि लगभग एक दशक पूर्व केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री का कहना था कि मुझे इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि कौन किसके साथ सोता है बस वे आपस में 'कण्डोम' का प्रयोग करते हों। इस प्रकार की कथित आधुनिक सोच ने ही भारतीय समाज को विचलित किया है, 'यौन शिक्षा' के मायने भी बदले हैं। 'यौन शिक्षा' के सकारात्मक एवं विस्तारपरक पहलू पर गौर करें तो उसका फलक उद्देश्यपरक एवं आशापूर्ण दिखायी पड़ेगा।

'यौन शिक्षा' के द्वारा सरकार, समाज, शिक्षकों, माता-पिता का उद्देश्य होना चाहिए कि वे एक स्वस्थ शारीरिक विकास वाले बच्चों, युवाओं का निर्माण करें। 'यौन शिक्षा' के एक छोटे भाग यौनिक अंगों की जानकारी, गर्भधारण की प्रक्रिया, प्रसव प्रक्रिया, गर्भपात आदि से अलग हट कर 'यौन शिक्षा' के द्वारा समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की स्वीकार्यता, उसकी संस्कारिकता, उसके पीछे छिपे मूल्यों, शारीरिक विकास के विविध चरणों, शरीर के अंगों की स्वच्छता, अनैतिक सम्बन्धों से उपजती शारीरिक बीमारियाँ, यौनजनित बीमारियों के दुष्परिणाम, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों (माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन, मित्रों आदि) की आन्तरिकता एवं मर्यादा की जानकारी, उनके मध्य सम्बन्धों की मूल्यता, वैवाहिक जीवन की जिम्मेवारियाँ, इनके शारीरिक एवं आत्मिक सम्बन्धों की आवश्यकता, आपसी सम्बन्ध और उनमें आदर का भाव आदि-आदि अनेक ऐसे बिन्दु हो सकते हैं जो 'यौन शिक्षा' के रूप में समझाये जा सकते हैं। इन मूल्यों, सम्बन्धों, आन्तरिकता, पारिवारिकता, सामाजिकता, शारीरिकता आदि को समझने के बाद यौनजनित बीमारियों, एच०आई०वी०/एड्स आदि भले ही समाप्त न हो सकें पर इनके रोगियों की संख्या में बढ़ते युवाओं की संख्या में अवश्य ही भारी गिरावट आयेगी।

'यौन शिक्षा' को लागू करने, इसको देने के विरोध में जो लोग भी तर्क-वितर्क करते नजर आते हैं उनको भी सामाजिक-पारिवारिक-शारीरिक कसौटी पर कसना होगा। यह कहना कि 'यौन शिक्षा' तमाम सारी समस्याओं का हल है, अभी जल्दबाजी होगी पर यह

कहना कि 'यौन शिक्षा' से विद्यालय, समाज एक खुली प्रयोगशाला बन जायेगा, एक प्रकार की 'ड्रामेबाजी' है। आज बिना इस शिक्षा के क्या समाज, विद्यालय और तो और परिवार भी क्या शारीरिक सम्बन्धों को पूर्ण करने की प्रयोगशाला नहीं बन गये हैं ? जो कहते हैं कि पशु-पक्षियों को कौन सी 'यौन शिक्षा' दी जाती है पर वे सभी शारीरिक सम्बन्ध सहजता से बना लेते हैं, अपनी प्रजाति वृद्धि करते हैं, वे लोग अभी 'यौन शिक्षा' को मात्र शारीरिक सम्बन्धों की तृप्ति को समझने का एक माध्यम मान रहे हैं। 'यौन शिक्षा' का तात्पर्य अथवा उद्देश्य केवल स्त्री-पुरुष के यौनिक अंगों की जानकारी देना, यौनांगों के चित्र दिखाना, शारीरिक सम्बन्धों की क्रिया समझाना, गर्भधारण-प्रसव की प्रक्रिया समझाना मात्र नहीं है। समाज में शारीरिक सम्बन्धों को पवित्रता प्राप्त है जो सिर्फ पति-पत्नी के मध्य ही स्वीकार्य हैं और उनका उद्देश्य शारीरिक सुख-संतुष्टि के अतिरिक्त संतानोत्पत्ति कर समाज को नई पीढ़ी प्रदान करना भी है।

कहीं न कहीं 'यौन शिक्षा' की कमी ने पश्चिमी खुले सम्बन्धों को भारतीय समाज में पर्दे के पीछे छिपी स्वीकार्यता दी और पति-पत्नी के विश्वासपरक, पवित्र रिश्ते से कहीं अलग शारीरिक संतुष्टि की राह अपनायी। परिणामतः टीनएज प्रेगनेन्सी, बिन ब्याही माँएँ, यौनजनित बीमारी से ग्रसित युवा वर्ग, बलात्कार, बाल शारीरिक शोषण, गर्भपात, कूड़े के ढ़ेर पर मिलते नवजात शिशु, आत्महत्याएँ आदि जैसी शर्मसार करने वाली घटनाओं से हम नित्य ही दो-चार होते हैं। अन्त में निष्कर्षतः एक वाक्य से कि मेरी दृष्टि में 'यौन शिक्षा' के स्वरूप, उद्देश्य, शैली के अभाव ने ही परिवार नियोजन के प्रमुख हथियार 'कण्डोम' को अनैतिक सम्बन्धों के, यौनजनित रोगों के, समय-असमय शारीरिक सुख प्राप्ति के, यौनाचार के सुरक्षा कवच के रूप में सहज स्वीकार्य बना दिया है। अच्छा हो कि 'कण्डोम, बिन्दास बोल', 'आज का फ्लेवर क्या है?', 'कन्ट्रासेप्टिव पिल्स' जैसे विज्ञापनों से शिक्षा लेते; महानगरों के सुलभ शौचालयों एवं अन्य सार्वजनिक स्थलों पर लगी 'कण्डोम मशीनों' पर भटकते; पोर्न साइट, नग्न चित्रों में शारीरिक-यौनिक जिज्ञासा को शान्त करते बच्चों, युवाओं को सकारात्मक, उद्देश्यपरक, संस्कारपरक, मूल्यपरक 'यौन शिक्षा' से उस वर्जित विषय की जानकारी दी जाये जो मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होने के बाद भी किसी न किसी रूप में प्रतिबंधित है।

शोधार्थी

नारी-मन की अनछुई परतें और मन्नू भण्डारी का रचना संसार

*वैशाली श्रीवास्तव

सदियों से समाज स्त्री को अपनी सुविधा और इच्छा से अलग-अलग संबोधनों से पुकारता आ रहा है। कभी देवी तो कभी दानवी कहकर। आज की स्त्री ऐसे सारे संबोधनों और पहचान को नकार कर अपनी पहचान खुद गढ़ने की दिशा में बढ़ चली है। आज वह पुरूष तक को बार-बार चुनौती देती हुई माँग कर रही है कि उसे 'देवी' 'दानवी' नहीं बल्कि केवल 'मानवी' समझा जाए। उसके अस्तित्व को समान मान्यता और अधिकार मिले। वास्तव में ऐसा होना भी जरूरी है ताकि इस सत्य को पुनः याद दिलाया जा सके कि सृष्टि में स्त्री का महत्व पुरूष से जरा भी कम नहीं, जिसे वह बार-बार भूल जाता है सृष्टि ने तो स्त्री पुरूष को एक-दूसरे के पूरक के रूप में गढ़ा ही है, अब बारी सम्पूर्ण समाज की है कि वह 'अर्द्धनारीश्वर' के स्वरूप को बन्द धर्मग्रन्थों से खोलकर सामान्य जीवन में धारण करे।

साहित्य के माध्यम से यह संदेश पहुँचाने का बीड़ा आज की महिला साहित्यकारों ने उठाया है। क्योंकि अभी कुछ दशक पहले तक जो साहित्य सृजित हुआ वह पुरूष प्रधान था। महिला साहित्यकारों की उपस्थिति न के बराबर थी।

हिन्दी साहित्य में स्त्री-लेखन के इतिहास पर दृष्टि डालें तो प्रारम्भिक लेखिकाओं में भक्ति काल की मीराबाई, प्रथम महिला उपन्यासकार बंग महिला, छायावादी साहित्यकार महादेवी वर्मा और सुभद्रा कुमारी चौहान जैसे कुछ नाम ही दिखाई पड़ते हैं। कथाजगत में शैल कुमारी देवी द्वारा सन् १९२६ में लिखा गया 'उमासुन्दरी' नामक उपन्यास जिसे कुछ विद्वान हिन्दी साहित्य में महिला साहित्यकार द्वारा लिखा गया प्रथम मौलिक उपन्यास मानते हैं। इसके अतिरिक्त रूकमणी देवी (मेम और साहब), यशोदा देवी (सच्चा पति प्रेम), प्रियम्वदा देवी (लक्ष्मी), गोपाल देवी (दयावती), गिरिजा देवी (कमला-कुसुम) के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन महिला रचनाकारों की संख्या या रचनाकर्म इतनी संख्या में नहीं हैं कि वह पुरूष रचनाकारों का दसवाँ हिस्सा भी माना जा सके। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि पहले घर की स्त्री द्वारा कहानी-कविता करना सम्मानजनक नहीं माना जाता था, दूसरी ओर पुरूषों के लिए कोई आपत्ति नहीं थी, अतः वह साहित्य जो समाज का दिशा निर्देशक माना जाता है वह भी पुरूष प्रधान हो गया इसलिए प्रारम्भिक उपन्यासकारों की नायिकाएँ आपको त्याग की मूर्ति,- ममतामयी माँ, पतिव्रता स्त्री के रूप में मिलेगी जो बड़े-बड़े कष्टों को हँसकर झेलते हुए सहनशीलता का परिचय देते हुए दिखाई देंगी। वहीं जो नायिका जरा भी स्वतंत्र विचारों वाली होगी, वह कुलटा, चरित्रहीन कहलाएगी और समाज भी उसका बहिष्कार करेगा ऐसा संदेश देते हुए पुरूष साहित्यकारों ने साहित्य संसार में भी महिला की स्थिति दोयम दर्जे की रखी।

कारण ? कारण यह था कि सामन्ती सोच वाला पुरूष समाज चाहता था कि स्त्री के दिलोदिमाग में यह बात बैठ जाए कि घर की

* शोध छात्रा (JRF) हिन्दी विभाग, फीरोज गाँधी कालेज, रायबरेली (उ. प्र.)

चारदीवारी में रहकर अपने पति परमेश्वर व उसके बच्चों की सेवा करना ही उसका परम धर्म है और इस धर्म का निर्वाह करने वाली स्त्रियों को 'देवी' कहकर उसने उन्हें गहरी साजिश का शिकार बनाया। स्त्रियां, स्वयं को 'देवी' के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए त्याग व सहनशीलता की प्रतिमूर्ति बनती गई। अपने अस्तित्व, अपने अधिकार, अपनी पहचान को भूलती गई। बड़े-बड़े साहित्यकारों ने स्त्री को बैकग्राउण्ड में रखा और मुख्य रंगमंच पर उसे स्थान नहीं दिया। प्रारम्भिक महिला उपन्यासकार भी पुरूष इच्छित नायिकाओं का सृजन करने में जुटी रहीं। बनी बनाई लीक से हटकर चलने का साहस उनमें नहीं था। परिणामस्वरूप इन लेखिकाओं का लेखन यथार्थ से हटकर आदर्श पर आधारित था और शैली उपदेशात्मक।

महिला कथाकारों को क्रान्तिकारी दृष्टि देने वाली मन्नू भण्डारी का आविर्भाव ६० के दशक में होता है। 'आपका बंटी', 'एक इंच मुस्कान', 'महाभोज' (उपन्यास) व 'मैं हार गई', 'एक पुरूष एक नारी', 'यही सच है', 'गीत का चुम्बन' (कहानियाँ) जैसी रचनाएँ पाठकों के सामने आती हैं। जो निश्चित रूप से नारी की अभिव्यक्ति है - अपनी अभिव्यक्ति।[१]

नारी-मन की अनुभूति को नारी के द्वारा प्रस्तुत करने की परम्परा में उनका विशेष महत्व है। सामान्यतः भारतीय समाज पर पुरूष का एकाधिकार है। साहित्य के क्षेत्र में भी कोई खास अन्तर नहीं।

मन्नू भण्डारी से पहले की महिला कथाकारों ने आदर्श, प्रेम व त्याग को अपना विषय बनाया था। इस आदर्श प्रधान एवं वायवी प्रेम की वेदी पर चढ़ना मन्नू अपना साहित्यिक धर्म नहीं मानती थीं। नारी पर खोखले आदर्श आरोपित करना मन्नू को वांछनीय नहीं लगा। उनका अनुभव संसार एकदम भिन्न था। 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' वाली नारी की कोमल और गरिमामयी मूर्ति के प्रति उनका कोई विशेष आकर्षण नहीं था। देवीत्व के तुंग पर आसीन नारी भारतीय जीवन प्रसंग में पुरूष की दमित वासनाओं का शिकार थी। उसकी समस्त कोमल भावनाएँ ठुकराई जाती थीं, फिर भी वह 'लक्ष्मण रेखा' को नहीं लांघती थी, ऐसी आदर्श नारी का चित्रण मन्नू के गले से नहीं उतरा। युगीन जीवनानुभूति की सच्चाई को नजर अन्दाज करना उनके लिए नामुमकिन था ?[२] इस प्रकार की नारी मन की गाथा कहने की एक नई परम्परा मन्नू भण्डारी ने शुरू की। नये सामाजिक सन्दर्भ में पारिवारिक सम्बन्धों के दायरों में नारी ने जो भोगा-जिया है, उसे हू-बहू मन्नू भण्डारी ने चित्रित किया। इस प्रकार नये समाज की नयी नारी का नया स्वरूप पहली बार मन्नू भण्डारी के कथा साहित्य में उभर कर आया। नारी के समग्र व्यक्तित्व को यथार्थ के धरातल पर ग्रहण करने और उसे अभिव्यक्त करने की सफलता मन्नू भण्डारी ने अर्जित की। मन्नू ने यह अनुभव किया कि "कथा साहित्य में अक्सर नारी का चित्रण पुरूष की आकांक्षाओं से प्रेरित होकर किया गया है।"

मन्नू भण्डारी ने नारी के स्वतंत्र और मौलिक व्यक्तित्व की तलाश की। हमारे यहाँ एक पत्नीव्रत पुरूष के लिए अनिवार्य नहीं है। एक पत्नी की मृत्यु पर दूसरा विवाह भी आसानी से हो जाता है, पर एक रात की सुहागन ही यदि विधवा हो जाये तो शादी के लिए पापड़ बेलने पड़ते हैं। इस सामाजिक विडम्बना की ओर कलात्मक गरिमा के साथ मन्नू भण्डारी ने तर्जनी उठायी - "क्यों नारी एक की भोग्या बनकर दूसरे हर व्यक्ति के लिए जूठी हो जाती है, नीचे गिर जाती है ?"[३] - यह सवाल नारी विशिष्ट का नहीं, नारी समाज का है। स्वतंत्र भारत की हर शिक्षित नारी के अन्तर्मन में यह सवाल अनुत्तरित होकर गूँज रहा था। उस मूक

गूँज को शब्दों की आवाज दी मन्नू भण्डारी ने। भेंटवार्ता के प्रसंग में मन्नू भण्डारी ने इस तथ्य को और स्पष्ट किया है - "भारतीय समाज में यूँ तो नारी पर अनेक बन्धन हैं, लेकिन कोई अपने में क्या सोचता है, इस पर कोई बन्धन नहीं लगा सकता। भावना के स्तर पर कोई नियन्त्रण नहीं लगा सकता। बाहर और भीतर की यह अनमेल स्थिति हमारे समाज के खोखले नैतिक मूल्यों की ओर इशारा करती है, नारी इसके प्रति मन ही मन सही विद्रोह करती आयी है। वह सोचती है - क्यों नारी के लिये ही आवश्यक है कि वह एक ही पुरुष को अपना सब कुछ दे, जबकि वही पुरुष हर जगह मुँह मारता फिरता है। नारी का भी तन और मन उसका अपना है, जिसे वह किसी को भी दे सकती है और इसे देने में उसे कोई अपराधबोध भी नहीं।"

यह एकदम नया भावबोध है। इसमें दकियानूसी परम्परा की गन्ध भी नहीं है। बंधे सिद्धान्तों के चश्मे से मन्नू जीवन को नहीं देखती यही कारण है कि मानवीय जीवन की अर्न्तविरोधात्मक स्थितियों और असंगतियों को अपनी रचनाओं के द्वारा वे उभार सकीं।

मन्नू के पश्चात् स्त्रीलेखन पर नजर डालें तो मृदुला गर्ग, चित्रा मृद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा, मनीषा, रमणिका गुप्ता, जया जादवानी - ऐसे कई नाम हैं जिनके बेबाक विचारों ने हड़कंप मचा दिया है। हड़कंप मचा है, असुरक्षा बढ़ी है - कहाँ ? अब तक मुख्य भूमिका निभा रहे पुरुष पात्रों में। हर क्षेत्र की तरह लेखन के क्षेत्र में भी बाजी मार रही हैं महिलाएँ। आज महिलाएँ बहुत बड़ी संख्या में रचनात्मक लेखन में लगी हुई हैं। मन्नू भण्डारी से पहले जहाँ महिला साहित्यकारों की गिनती के लिये हाथों की दस उंगलियाँ भी ज्यादा जान पड़ती थीं वहाँ अब हजारों-हजारों की ललित सृष्टि सामने है। स्त्रियों ने पहचान लिया है कि उनके भय और भाव, वेग और आवेग, जीवन और जगत, भय और आकांक्षा, बेचैनी और सुकून को जब तक वे स्वयं नहीं लिखेंगीं इन कामों को कोई दूसरा और पूरा करने वाला नहीं है। आज स्त्री विमर्श निरन्तर नई ऊँचाइयों को छू रहा है और निश्चित रूप से मन्नू भण्डारी को इसका अगुआ कहा जा सकता है।

सन्दर्भ

१. हिन्दी उपन्यास का विकास - मधुरेश

२. नई कहानी के परिप्रेक्ष्य में मन्नू भण्डारी का रचना संवाद - टी. एन. विश्वंभरन

३. मेरी मुलाकातें - भाजदा असद

शोधार्थी

प्रथम तार सप्तक की कविता और बिम्ब बोध की अवधारणा

*सरिता वर्मा

साहित्यकार के सर्जन भाव बोध पर उसके अध्ययन, मनन, चिन्तन संस्कारों युगीन प्रवृत्तियों आदि का अधिक प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कृतिकार के जीवन साहित्य में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष दोनों रूपों में देखा जा सकता है। उसकी रचना में जीवन का वास्तविक सत्य मनोनय रूप में प्रतिबिम्बित और अभिव्यंजित होता है। कवि की चिन्तन-धारा उसके व्यक्तिगत जीवन से तो प्रभावित होती ही है, लोक जीवन से भी उसका व्यक्तित्व सम्प्रक्त रहता है। प्रत्येक रचनाकार अपनी सहजानुभूतियों से अभिव्यंजना शिल्प के माध्यम से काव्य की सर्जना करता है।

भारत वर्ष के सांस्कृतिक विरासत के रूप में भाषा, चित्र, मूर्ति, नृत्य, संगीत, प्रतीक बिम्ब एवं अन्य काव्यात्मक उपलब्धियां वैदिक काल से लेकर अद्यावधि तक बदलते परिवेश में किसी न किसी रूप से प्रस्तुत होती रही है। इसकी रचना भूमि की स्वाभाविकता के बारे में विचार किया जाय तो यह तथ्य प्रकाश में आता है कि संस्कार और अभिरूचि के परिणामस्वरूप इन भावपूर्ण विधाओं, शैलियों की संरचना हुई है।

बिम्ब, प्रतीक, काव्य जीवन की शास्वत शैली है जिसकी अभिव्यंजना समय सापेक्ष परिस्थिति जन्य हुआ करती है, जिसका अध्ययन काव्य में नये स्वरूपों की व्याख्या और शैल्पिक सुविग्यता लिये हुये हैं, इसका अनुशीलन अपेक्षित है।

प्रथम तार सप्तक के प्रकाशन वर्ष १९४३ से ही प्रयोगवादी काव्यधारा तथोक्ति नयी कविता का श्री गणेश हो चुका था। तार सप्तक प्रयोगवाद की भूमि है, उसमें गजानन माधवमुक्ति बोध, नेमीचंद्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय सप्त कवि हैं। डॉ. कमला प्रसाद के शब्दों में- "वास्तव में प्रयोगवाद और नई कविता में कोई मौलिक अंतर नहीं है, नई कविता उसका ही विकास है।"[1]

छायावादोत्तर की अध्ययन भूमि की दृष्टि से मैंने डॉ. कमला प्रसाद के विचारों से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए तार सप्तक के सप्त कवियों की रचनाओं में बिम्ब बोध के अनुसंधान का प्रयास किया है। तार सप्तक के प्रथम कवि श्री गजानन माधव मुक्ति बोध की कविताओं में बिम्ब बोध की स्पष्ट छवि का अवलोकन किया जा सकता है। मुक्ति बोध जी हिन्दी कविता के क्षेत्र में सर्वप्रथम अज्ञेय जी की अगुवाई में सम्पादित ग्रन्थ 'तारसप्तक' १९४३ संकलन के माध्यम से आये। उनकी रचनाओं में अनुभवों के कष्ट और अभाव का बिम्ब प्रतिफलित हुआ है। मुक्ति बोध के काव्य में अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से बिम्ब का आधार सशक्त प्रतीत होता है। प्रकृति बिम्ब के माध्यम से मन के स्पष्ट भाव सफल बिम्ब रूप में अवलोकनीय है -

> आत्म-उन्मुक्तीकरण की खुली बेला में
> कि जब
> दो आत्माएँ
> बालकों सी नग्न होकर खड़ी रहती
> दिव्य नयनों में सहजतम-बोध नीला

* शोध छात्रा, हिन्दी, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म. प्र.)

लोक लेकर।

वह परस्पर की मृदुल पहचान, जैसे पूर्ण चन्दा रतोजता हो

उमड़ती निःसीम निस्तल

फूल हीना श्यामला जल-राशि में प्रतिबिम्ब अपना हास अपना।[२]

इसी प्रकार मुक्ति बोध ने अपनी कविता शीर्षक 'मेरे अंतर', 'मृत्यु और कवि', नूतन, अहम, बिहार, पूँजीवादी समाज के प्रति, नाश देवता, सृजन क्षण, एक आत्म वक्तव्य, चाँद का मुँह टेढ़ा है के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण रचनाओं में बहुविध बिम्बों का स्वाभाविक चित्रण किया है। भाव बिम्बों के ख्याल से ये कवितायें बिम्ब के क्षेत्र में सर्वागींण प्रतिनिधित्व करती हैं। भाव प्रकृतियों के ख्याल से मुक्ति बोध की कविता वैयक्तिक बिम्ब बोध का सर्वांगीण प्रतिनिधित्व करती हैं।

तार सप्तक के द्वितीय कवि नेमीचन्द्र जैन साम्यवादी विचारों के कवि हैं आपकी कविताओं (के विषय के रूप) में सामाजिक संघर्ष, मानसिक क्षोभ, प्रतीक्षा, मिलन, व्यक्तिगत निराशा, विचारों में अन्तर्द्वन्द्व केन्द्रित था। तार सप्तक के वक्तव्य में नेमीचन्द्र जैन का कथन है- "बाहरी दबाव के कारण जब व्यक्ति टुकड़े-टुकड़े होकर बँट जाता है, तब चार-छः कविताओं के सहारे कवि के व्यक्तित्व की सही उपलब्धि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होती है।[३]

रूप-बिम्ब, भाव बिम्ब, क्रिया बिम्ब के क्षेत्र में कवि का विशेष योगदान है। कहीं-कहीं कवि ने मूर्त उपमानों का ऐसा प्रयोग किया है कि चित्रण में भाव बिम्ब सहज ही उपस्थित हो गया है। सौन्दर्य भाव बिम्ब की अभिव्यंजना कवि का अभिप्रेत रहा है। 'कवि गाता है' शीर्षक कविता में कवि व्यंग्य से भरकर कहता है -

कवि गाता है -

संक्रान्ति काल का कलाकार कवि गाता है -

X X X

पीड़ित मानवता के युग का कलाकार कवि गाता है।

X X X

भूखे नर-कंकाल अस्थि पंजर से वे लाखों मजूर,

जिनके गरम रक्त से सिंचित

राजमहल यों छाती ताने आज खड़े हैं।

रूप और वैभव की मदिरा में विभोर

कवि गाता है।"[४]

बिम्ब प्रधान की दृष्टि से नेमीचन्द्र जैन की कविता इस क्षण में धूल भरी दोपहरी, क्या भाया, जिंदगी की राह, व्यर्थ, उन्मुक्त, मैं कला प्रियता, चित्रोपमता, दिव्य संस्पर्श इनके गीतियों में अपनी पूरी मनोहारिता के साथ झिलमिला रहे हैं। नेमीचन्द्र जैन की कविता बिम्बमय है उनका बिम्बबोध काव्यमय। उनका यह काव्यगत बिम्बबोध उनके वैयक्तिक दृष्टिबोध से सम्पृक्त तथा पुष्ट है।

प्रथम तार सप्तक के तीसरे कवि भारत भूषण अग्रवाल जी का कार्यकाल १६१६-१६७५ माना गया है। उन्होंने तार सप्तक के वक्तव्य के माध्यम से अपना मंतव्य देते हुए लिखा है- "यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना और उसको शुभ बनाने में सहायता करना है, तो हिन्दी के कवि को समाज से नाराज होकर भागने की बजाय समाज की उस शोषण-सत्ता से लड़ना होगा, जिसने उसको कोरा स्वप्नाभिलाषी और कल्पना-विलासी बना छोड़ा है और जिसने उसको अपनी कविता को ही एक मात्र सम्पत्ति मानने के भ्रम में डाला है। इस संघर्ष के पथ के अपने अनुभवों को यदि वह पद्य-बद्ध करेगा तो पायेगा कि उसकी कविता केवल मर्म स्पर्शी और सशक्त ही

नहीं वरन् साथ ही उसको अधिक ज्ञानी और सामाजिक बनाने वाली भी है। तब कविता उसके हाथ में एक मूल्यवान अस्त्र की भांति होगी, आज की तरह अपार्थिव अस्तित्वहीन फूलों की सेज नहीं।"[५]

भारत भूषण अग्रवाल ने तारसप्तक के अलावा छवि के बंधन, जागते रहो, मुक्तिमार्ग, ओ अप्रस्तुत मन तथा अनुपस्थित लोग काव्य ग्रन्थ की रचना की है। भारत भूषण अग्रवाल एक सफल दृष्टा कवि थे, वे अपनी रचनाओं में क्रिया बिम्ब, भाव बिम्ब, रूप बिम्ब, बिम्बों की दृष्टि से विविध आयामों का परिचय देते हैं। कवि ने प्रकृति के माध्यम से दृश्य बिम्बों की योजना की है। प्रकृति के बिम्ब कवि की रचनाओं में प्रगति तथा प्रेम दोनों को व्यक्त करते हैं।

जीवनधारा -

"विकसित होकर जग का शतदल
खोलेगा अपनी मुँदी आँख।
जागृति की किरणों से ज्योतित
होगा अशेष जग का प्रांगण
सौरभ से पूरित दिग-दिगन्त।"[६]

भूषण जी का चित्र बिम्ब बोध का प्रकाशन नहीं था फिर भी भावुकता की अधिकता के कारण कवि की रूचि भाव सौन्दर्य के चित्रणों में अधिक रमी है। यही कारण है कि अग्रवाल जी ने प्रकृति के नाना बिम्बों को अपने सप्तकीय रचनाओं में प्रस्तुत किया है। डॉ. शम्भुनाथ सिंह के शब्दों में "असुन्दर और विषम कवि के इष्ट नहीं है, अतः गिने चुने संकेत मिलते हैं। गुप्त संघर्ष और वस्तु साक्षात्कार से दृष्टि बचाते हैं। अतः बिम्ब भी सीधे-सादे हैं।"[७]

तारसप्तक के बहुचर्चित कवि प्रभाकर माचवे जी हैं। प्रभाकर माचवे जी का कार्यकाल १९१७-१९९१ तक रहा। उन्होंने बिम्ब बोध को सतही ढंग से ग्रहण किया है। बिम्ब योजना की दृष्टि से देखा जाए तो इनकी रचनाओं में स्मृति बिम्ब, प्रकृति परक रूप-बिम्ब, भाव बिम्ब और क्रिया बिम्ब के व्यवहार में प्रकृति ही आधार है। अपने वक्तव्य में वे लिखते हैं - "व्यक्तिगत अनुभव के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो अत्याधिक सामाजिक आशय से गर्भित रहते हैं। उनमें मानव और प्रकृति, प्रकृति और संस्कृति के सतत संघर्ष के गति चित्र का ऐसा आशांकन होता है कि उसकी पुनरावृत्ति असम्भव है। कवितागत मौलिकता का अर्थ वही आशांकन है, सामाजिक परिपार्श्व में व्यक्ति की मानसिक प्रभाव-प्रक्रिया, वेदना-संवेदना, प्रगति-अगति आदि का प्रमाणिक बिम्ब चित्रण। इन्हीं नाना भाव-विचार संवेदना-मिश्रित 'विशेषों' को ज्यों का त्यों व्यक्त करने के कारण एक बार अपनी कविताओं को चित्रकला से एक शब्द उधार लेकर 'इम्प्रेशनिस्ट' अथवा 'बिम्बवादी' शब्द से मैंने विशेषित किया था।[८]

पौराणिक बिम्ब के अंतर्गत माचवे के 'सॉनेट' शीर्षक कविता अधिक प्रासंगिक लगती है। मनु और श्रद्धा के आकर्षण और विकर्षण के माध्यम से कवि ने पौराणिक बिम्ब की प्रस्तुति की है -

"मैंने जितना नारी, तुमको याद किया है,
प्यार दिया है,
तुमने भी क्या कभी भूल से सोचा था
कैसा है यह मनु ?"[९]

माचवे जी कविताओं की अपेक्षा वैचारिक अभिव्यंजना से पाठकों को अधिक आकर्षित करते हैं। सप्तक के अतिरिक्त माचवे ने 'स्वप्न भंग', अनुक्षण और तेल की पकोड़ियाँ के माध्यम से अर्थनिष्ठ बिम्ब योजना किया है। 'डरू संस्कृति', तेल की पकोड़ियाँ, से संग्रहित रचना है के माध्यम से कवि ने वर्तमान संदर्भों पर गहरा व्यंग्य किया है।